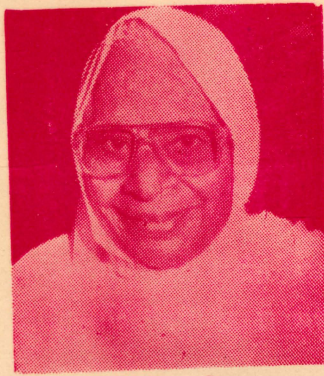


देवचन्द्र चौवीसी सानुवाद

[सोमद् देवचन्द्रोपाध्याय रचित स्वोपज्ञ राजस्थानी
बालाचक्रोप का हिन्दी प्रनुवाद]

—प्र० सज्जनश्री जी

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर



प्रवर्तिनी महोदया:

श्री सज्जन श्री जी म. सा.
संक्षिप्त परिचय

- जन्म - विक्रम संवत् १९६५
वैशाख पूर्णिमा
- स्थान - जयपुर
- शिक्षा - धार्मिक, प्रतिक्रमण,
नवतत्त्व, पच्चीस
बोल आदि व्यवहा-
रिक हिन्दी, अंग्रेजी,
संस्कृत, प्राकृत
- दीक्षा - वि. स. १९९९
आषाढ शुक्ला २
- गुरुवर्या - प्रवर्तिनी श्री ज्ञान
श्री जी म. सा.
- प्रवर्तिनीपद - वि. स. २०३९
माघ कृष्णा ६ दि
६ दिसम्बर १९८२

श्रीमद् देवचन्द्रोपाध्याय रचित

देवचन्द्र चौवीसी सानुवाद

[श्रीमद् देवचन्द्रोपाध्याय रचित स्वोपज्ञ राजस्थानी बालावबोध
का हिन्दी रूपान्तर]



अनुवादिका :

प्रवर्तिनी साध्वी सज्जनश्री जी



प्रकाशक :

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर

प्रकाशक :

देवेन्द्रराज मेहता

सचिव,

प्राकृत भारती अकादमी,

३८२६, मातीसिंह भोमियों का रास्ता,

जयपुर-३०२००३

पारसमल भंसाली

अध्यक्ष,

श्री जैन श्वे० नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ

मेवानगर, स्टे बालोतरा-३४४०२५

जिला बाड़मेर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण : २० मई, १९८६

मूल्य : ६०.०० रुपये

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मुद्रक :

आनन्द प्रिन्टिंग प्रेस, जयपुर

जेक प्रिन्टर्स, जयपुर

अजन्ता प्रिन्टर्स, जयपुर

परमश्रद्धेय प्रज्ञापुरुष युगप्रभावक आचार्यदेव

श्रीमज्जनकान्तिसागरसूरीश्वरजी महाराज साहब

के पुनोत्त करकमलों में :—

आपश्री को शासन प्रभावना की हार्दिक अभिलाषा और सारे भारत में भ्रमण कर जन-जन को वीरवाणी की विमल सरिता में मज्जन करा कर, उनके विविध ताप सन्तापों का शमन कर शान्ति समता के सुख का अनुभव कराना, जगत् के महान् पुरुषों/ अवतारों/ ऋषि, महर्षियों के उपदेशवचनों एवं दृष्टान्तों से अहिंसा सत्य आदि सनातन तत्त्वों को पुष्ट करना, प्रत्येक जन के कल्याण की शुभेच्छा आदि अनेक सद्गुणों का एवं मुझ पर बृहद् भगिनी जैसा आत्मीयता पूर्ण व्यवहार स्मरण कर, भाव विभोर हो यह लघु प्रयास आपश्री को समर्पित कर स्वयं को कृतकृत्य अनुभव करती हूँ ।

प्र० सज्जन श्री

प्रकाशकीय

जिनेश्वर देवों की भक्ति, उपासना, अनुष्ठान, अर्चन और स्तवना से आन्तरिक आत्म-स्वरूप की पहचान के साथ आत्मशुद्धि होती है, अतीव दुर्लभ सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति और उत्तरोत्तर निर्मलता बढ़ती है, साधक रत्नत्रयी को विशुद्ध साधना की ओर उन्मुख होता है और जिनेश्वर देवों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने से अन्त में तद् रूपता को प्राप्त करता है। प्रभु को निर्मल अन्तःकरण से भक्ति एवं स्तवना करने से तन्मयता, एकाग्रता और मन का स्थिरीकरण होता है। फलतः क्रमशः कर्म निर्जरा के साथ सिद्धि सोपान का प्रशस्त पथ प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि स्तवना को चरम साध्य मुक्ति का श्रेयस्कर एवं प्रशस्तमय साधन मानकर शताधिक आचार्य प्रवरों, मुनिपुंगवों एवं कवियों ने चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति/स्तवन रूप सैंकड़ों 'चौवीसी' संज्ञक चौवीसियों की रचनायें की हैं, ये चौवीसियां लोक/जन भाषा में निबद्ध होने के कारण एवं लोक धुनों/तर्जों में गेय होने के कारण भक्तजनों के हृदय का हार बनी हुई हैं।

वर्तमान समय में प्राप्त एवं प्रकाशित चौवीसियों में मुख्यतः दो चौवीसियां श्वेताम्बर जैन समाज की समस्त परम्पराओं और समग्र गच्छों के द्वारा समान रूप से समादृत एवं सिरमौर रही हैं; वे हैं, आनन्दघन चौवीसी और देवचन्द्र चौवीसी। ये दोनों चौवीसियां न केवल गुणवत्ता और अर्थवत्ता की दृष्टि से ही प्रमुख हैं, अपितु इनमें जैनागमों का निचोड भरा हुआ है, जैन दर्शन का रहस्य समाहित है और ये आध्यात्मिक अनुभूतियों से ओतप्रोत हैं। इन दोनों चौवीसियों के प्रणेता परमयोगी/अवधूत आनन्दघनजी और परमगीतार्थ अनुयोगधर देवचन्द्रजी हैं। आनन्दघनजी का समय १७ वीं शती का उत्तरार्द्ध और १८ वीं शती का पूर्वार्द्ध है और देवचन्द्रजी का समय वि. सं. १७४६ से १८१२ है। ये दोनों खरतरगच्छ के ही महापुरुष हैं। प्राकृत भारती अकादमी, आत्मानुभवी सहजानन्दजी के अनुवाद के साथ आनन्दघन चौवीसी को अपने ५७ वें पुष्प के रूप में

प्रकाशित कर चुकी है और देवचन्द्र चौवीसो को अपने ५८ वें पुष्प के रूप में प्रकाशित कर रही है ।

“सवि जीव करू शासनरसी, इसी भाव दया मन उल्लसी” (स्नातृ पूजा) पंक्ति के प्रणेता श्रीमद् देवचन्द्र खरतरगच्छालंकार अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि की शिष्य परम्परा में हुए हैं । इनका जन्म सं. १७४६, दीक्षा सं. १७५६, वाचक पद सं. १८१२ और स्वर्गवास वि. सं. १८१२ अहमदाबाद है । ख्याति प्राप्त “आनन्दजी कल्याणजी पेढी” के संस्थापक भी यही देवचन्द्रजी हैं । इस पुस्तक की भूमिका में महोपाध्याय मुनि चन्द्रप्रभसागरजी ने श्रीमद् देवचन्द्रजी के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं चौवीसी पर विशद रूप से प्रकाश डाला है, अतः अधिक कुछ कहना पिष्टपेषण ही होगा । तथापि तपागच्छीय आचार्यप्रवर योगनिष्ठ श्री बुद्धिसागरसूरिजी अपनी अष्टपदी में श्रीमद् देवचन्द्रजी की गुणगरिमा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—द्रव्यानुयोग के गीतार्थ और व्रताचार के पूर्णरूपेण सम्यग् पालक देवचन्द्र जैसा साधु अर्वाचीन/वर्तमान समय में दिखाई नहीं देता है ।.....सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र रत्नत्रयी के व्यक्त रूप, योगी और संयमी श्रीमद् देवचन्द्र को बारम्बार नमस्कार करता हूँ । समस्तगच्छों में माध्यस्थ भाव ही श्रेयस्कर है ऐसे सत्य को प्रतिष्ठित करने वाले श्री देवचन्द्र को पूर्ण प्रीति से नमस्कार करता हूँ ।

स्वयं प्रणेता ने रचना के पश्चात् चौवीसी के प्रत्येक स्तवन में दार्शनिक ओर सैद्धान्तिक गहनता का अनुभव किया और इसको सामान्य-जन सहजता एवं सरलता से समझ सकें, गहनता में पैठ सकें, एतदर्थ देवचन्द्रजी ने स्वयं ही इस पर राजस्थानी भाषा में बालावबोध/भाषा टीका की रचना की । हिन्दी भाषीजनों के लिये इसकी उपयोगिता देखकर प्रवर्तिनी पदभाषिता साध्वीवर्या श्री सज्जनश्रीजी ने इसी बालावबोध का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया । प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी के हम आभारी हैं कि उन्होंने अपने अनुवाद को प्रकाशित करने के लिए प्राकृत भारती अकादमी को प्रदान किया । साथ ही उनके उपदेश से जयपुर के प्रसिद्ध जौहरी श्री प्रेमचन्दजी धांधिया की धर्मपत्नी श्रीमती मुन्नीदेवी के द्वारा प्रकाशन में आधा अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ है, अतः इनके प्रति भा हम आभारी हैं ।

उदीयमान प्रतिभा सम्पन्न लेखक महोपाध्याय मुनि चन्द्रप्रभसागर जी के भी हम आभारी हैं कि हमारे अनुरोध को स्वीकार कर इन्होंने विस्तृत भूमिका लिखी ।

प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी के अनुवाद के साथ प्रस्तुत पुस्तक को प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी अभिनन्दन समारोह के समय प्रकाशित करते हुये हमें हार्दिक प्रसन्नता है । हमें आशा है कि पाठकजन इस चौवीसी के अध्ययन के माध्यम से भगवत् स्वरूप को समझते हुए, जिनेन्द्रों की भक्ति का अवलंबन लेकर श्रेयस् पथ की ओर अग्रसर होंगे ।

पारसमल भंसाली
अध्यक्ष

श्री जैन श्वे. नाकोड़ा
पार्श्वनाथ तीर्थ
मेवानगर

म. विनयसागर
निदेशक
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव

प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

स्तवनानुक्रम

क्रमांक	स्तवन-नाम	पृष्ठांक
१.	श्री ऋषभ जितेन्द्र स्तवन	१-७
२.	श्री अजित जिनेन्द्र स्तवन	८-२१
३.	श्री सम्भव जिनेन्द्र स्तवन	२२-२६
४.	श्री अभिनन्दन जिनेन्द्र स्तवन	३०-३६
५.	श्री सुमति जिनेन्द्र स्तवन	४०-५६
६.	श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र स्तवन	५७-६६
७.	श्री सुपार्श्व जिनेन्द्र स्तवन	६७-८०
८.	श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र स्तवन	८१-९५
९.	श्री सुविधि जिनेन्द्र स्तवन	९७-१०७
१०.	श्री शीतल जिनेन्द्र स्तवन	१०८-१२३
११.	श्री श्रेयांस जिनेन्द्र स्तवन	१२४-१३२
१२.	श्री वासुपुज्य जिनेन्द्र स्तवन	१३३-१४५
१३.	श्री विमल जिनेन्द्र स्तवन	१४६-१५२
१४.	श्री अनन्त जिनेन्द्र स्तवन	१५३-१५७
१५.	श्री धर्म जिनेन्द्र स्तवन	१५८-१७०
१६.	श्री शान्ति जिनेन्द्र स्तवन	१७१-१८१
१७.	श्री कुन्थु जिनेन्द्र स्तवन	१८२-१९१
१८.	श्री अर जिनेन्द्र स्तवन	१९२-२०२
१९.	श्री मल्लि जिनेन्द्र स्तवन	२०३-२१४
२०.	श्री मुनिसुव्रत जिनेन्द्र स्तवन	२१५-२२२
२१.	श्री नमि जिनेन्द्र स्तवन	२२३-२२६
२२.	श्री अरिष्ट नेमि जिनेन्द्र स्तवन	२३०-२३५
२३.	श्री पार्श्व जिनेन्द्र स्तवन	२३६-२४३
२४.	श्री महावीर जिनेन्द्र स्तवन	२४४-२५०
२५.	कलश-प्रशस्ति	२५१-२५६

भूमिका

जैन-दर्शन

जैन-दर्शन भारतीय दर्शनों में प्रमुख है। सूक्ष्मता, स्पष्टता, मौलिकता मनोवैज्ञानिकता, तार्किकता एवं स्वाभाविकता इस दर्शन की विशेषताएँ हैं। यद्यपि जैन धर्म अत्यधिक प्राचीन है, तथापि इसका दर्शन इतनी अधिक सबल यौक्तिक एवं तार्किक भित्तियों पर आधारित है कि मानव-बुद्धि ने उसमें किसी तरह की खामी का आभास नहीं पाया है। वह आज भी अभिनव बुद्धि-प्रसूत है। इसमें जो कुछ भी संख्याएँ परिगणित की गई हैं, उनमें विश्व के जड़-चेतन-उत्त्वों तथा मानव-प्रवृत्तियों के समस्त पहलुओं का आकलन हो गया है। अतः जैन दर्शन परम बौद्ध और परम सांख्य रूप है। यह केवल श्रद्धा और स्वीकृति से ही नहीं, वरन् पाश्चात्य दर्शनों की तरह तर्क से भी परिपुष्ट है। सत्य के समग्र आयामों को शब्दों और अंकों में समाकलित कर देने की स्पर्धा जैन दार्शनिकों ने अथक निष्ठा एवं अध्यवसाय से की है। उन्होंने गणना-बुद्धि की पराकाष्ठा को उपलब्ध किया है। सचमुच, जैन दर्शन मानवीय चिन्तन, तर्क, गणित एवं प्रागल्भ्य का अद्भुत स्मारक है।

जैन दर्शन के प्रस्तोता और उपाध्याय देवचन्द्र

इस दर्शन के प्रस्तुतीकरण में अनेक प्रज्ञाशिल्पी चिन्तकों का हाथ रहा है। ऐतिहासिक प्रामाणिकता की दृष्टि से उमास्वाति (प्रथम शताब्दी ईस्वी), सिद्धसेन दिवाकर (४८०-५५० ई.), जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण (५२८-५८८ ई.), सिद्धसेन (छठी शदी ई.), देवनन्दी (५-७ शदी), समन्तभद्र (छठी शताब्दी ई.), अकलंक (७५० ई.), विद्यानन्द (८०० ई.), माणिक्यनन्दी (लगभग ८०० ई.), प्रभाचन्द्र (८२५ ई.), अनन्तवीर्य (१०३९ ई.), देवमूर्ति (१०८६-११६९ ई.), जिनेश्वरसूरि (११वीं शती ई.), हेमचन्द्रसूरि (११२० ई.), मल्लिषेणसूरि (१२६२ ई.), यशोविजय (१६०८-१६८८ ई.) आदि अनेक मूर्धन्य दार्शनिकों/आचार्यों की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस स्वर्णिम शृंखला में हम एक ऐसे व्यक्तित्व

उपाध्याय देवचन्द्र (विक्रम संवत् १७४६-१८११/१२) को आवद्ध कर रहे हैं, जिनकी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रचनाएँ जैन समाज में आप्त-वचनों के रूप में समादृत हैं।

देवचन्द्र : जीवन और साहित्य

उपाध्याय देवचन्द्र भारतीय दर्शन, संस्कृति एवं साहित्य की महान् विभूति रहे हैं। भारतीय चिन्तन, साहित्य एवं साधना के क्षेत्र में उनकी भूमिका असाधारण है। वे न केवल महान् गुरु और समाज-सुधारक ही थे, वरन् विलक्षण प्रतिभा तथा सर्जन-क्षमता से सम्पन्न तत्त्व-चिन्तक मनीषी भी थे। जहाँ एक ओर उन्होंने मरु-गूर्जर के इतिहास को प्रभावित किया, भारत के विविध अंचलों में पद-यात्राएं कर जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया, राजस्थान एवं गुजरात में खण्डहर बन रहे अनेक जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धारण और नवीनीकरण करवाया, मूर्ति-पूजा विरोधियों की गति-विधियों तथा प्रसृत को रोकने के लिए मूर्तिपूजक अभियान बुलन्द किये, जैन मन्दिरों एवं तीर्थों की समुचित व्यवस्था हेतु “आनन्दजी कल्याणजी पेढी” जैसी सुदृढ़ राष्ट्र स्तरीय संस्थाओं की स्थापना की, वहीं तत्त्व-चिन्तन-प्रधान आध्यात्मिक साहित्य का सर्जन कर साहित्य-क्षेत्र में एक नवीन पथ को प्रशस्त एवं प्रकाशित भी किया।

देवचन्द्र की जैन दर्शन के प्रति ईमानदारी असाधारण रही है। उन्होंने असंख्य को संख्या दी, अनन्त को परिमाण दिया, अछोर को आकार पहनाया और अनिर्वचनीय को साहित्य में व्यक्त किया। उन्होंने जैन-दर्शन के गुह्यतम रहस्यों को उद्घाटित किया है। जैन दर्शन को जिस गेयात्मक शैली में उन्होंने जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया, वह अनुपमेय है। इसलिए उनके ग्रन्थ जैन-दर्शन के पथ-प्रदर्शक हैं, कुंजी हैं। जैन दर्शन को गहराई से समझने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह पहले देवचन्द्र के दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करे, ताकि विचारों की प्राथमिक गुत्थियाँ/समस्याएँ सुलभ जाएँ। उनके ग्रन्थ व्यवस्था-मूलक और दर्शन की पृष्ठ-भूमि पर प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने ऐसे-ऐसे ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो न केवल जैन साहित्य, वरन् सम्पूर्ण दर्शन-साहित्य/भारतीय साहित्य के गौरव को अभिवर्धित करते हैं।

देवचन्द्र का जीवन-वृत्त

उपाध्याय देवचन्द्र का साहित्य जितना प्रभावशाली है, उनका जीवन-वृत्त भी उससे कम नहीं है। उनकी रचनाओं में प्राप्त आत्म-कथन और परवर्ती कवियों द्वारा देवचन्द्र की यशोगाथा करते हुए अपनी कृतियों में किये गये उल्लेख हमारे विवेच्य दार्शनिक के जीवन-वृत्त पर बहुत-कुछ प्रकाश डालते हैं। देवचन्द्र के जीवन-वृत्त के विविध पहलुओं को उजागर करने वाली एक महत्वपूर्ण रचना प्राप्त हुई है—“देवविलास”^१ इसके रचनाकार ने अपना परिचय “कवियण” के नाम से प्रस्तुत किया है। देवविलास वस्तुतः देवचन्द्र के जीवन-परिवेश को प्रस्तुत करने वाली एक सशक्त काव्य कृति है। इसकी रचना देवचन्द्र के निधन के चौदह वर्ष बाद हुई।^२ इसमें उल्लिखित तथ्य देवचन्द्र के शिष्यों द्वारा भी पर्यवेक्षित हैं। अतः “देवविलास” की प्रामाणिकता असन्दिग्ध मानी जानी चाहिये।

जन्म एवं परिचय :

कवियण एवं अन्य परवर्ती कवियों के उल्लेखानुसार देवचन्द्र का जन्म राजस्थान के बीकानेर जनपद में हुआ। उनका जन्म स्थान बीकानेर का एक समीपवर्ती ग्राम है। कवियण के शब्दों में—

मरुस्थल देश तिहाँ सुन्दर, तेह में बीकानेर चंग ।

तेहने निकट एक रम्यता, ग्राम अछे सुभ चंग ॥^३

उपर्युक्त पंक्तियों में “ग्राम अछे सुभ चंग” के अनुसार ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका गांव शुभसर (सम्प्रति-शोभासर) है। उनका जन्म विक्रम संवत् १७४६ में हुआ था।^४ संवत् १७४६ में उनका

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृष्ठ २६४ से २९२ में संकलित, सम्पादक : श्री अगरचन्द नाहटा, श्री भंवरलाल नाहटा, प्रकाशक : शंकरदान शुभैराज नाहटा, कलकत्ता ।

२. संवत् अठार पचीस आसो सुदि रे, अष्टमी रविवारे रच्यो रे ।
स्तोक में देवविलास कीधो रे, किंचित् गुण ग्रहीने स्तब्धो रे ।

—देवविलास (११.३३)

३. वही (२.२)

४. संवत् सतर छेताला वरषे, जन्म्यो ते पुत्र हरषे रे ।

—वही (३.९)

जन्म किस दिन हुआ, इसका उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है। उनके पिता का नाम तुलसीदास था और माता का नाम धनदेवी था। कवियण के अनुसार देवचन्द्र का एक ज्येष्ठ भ्राता भी था,^१ पर कवियण ने उसका नामोल्लेख नहीं किया है। उनके पिता-माता जैन कुलीन थे। उनकी जाति लूणिया थी, जो ओसवाल-वंश-वृक्ष की एक उपशाखा है। इस लूणिया-जाति का प्रवर्तन आचार्य जिनदत्तसूरि द्वारा हुआ है। प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर ज्ञात होता है कि इनके अभिभावक जैनधर्म के एक प्रतिष्ठित आम्नाय “खरतरगच्छ” द्वारा प्रसारित आचार-विचार-परम्परा के प्रति निष्ठा रखते थे। कवियण के मतानुसार देवचन्द्र के माता-पिता ने बालक के जन्म से पूर्व ही वाचक राजसागर के समक्ष यह प्रतिज्ञा स्वीकार की थी कि यदि उनके पुत्र हुआ, तो वे उसे “जिन-शासन” के संवर्धन हेतु समर्पित करेंगे।^२ देवचन्द्र की गर्भावस्था में उनकी माता श्रीमती धनदेवी ने देवेन्द्रों द्वारा मेरुगिरि पर किये जा रहे भगवान के जन्म-अभिषेक-महोत्सव का परिदृश्य स्वप्न रूप में देखा था।^३ श्री जिनरत्नसूरि के पट्टधर आचार्य जिनचन्द्रसूरि के अनुसार यह स्वप्न सौभाग्य-सूचक था। आचार्य ने धनवाई से कहा कि तुमने जो स्वप्न-दर्शन किया, तदनुसार तुम्हारा भावी पुत्र या तो छत्रपात

१. एक पुत्र विद्यमान छे, अन्य सगर्भा दीठ ।

श्रुतज्ञाने जाणीओ, पुत्र दूजो हशे इष्ट ।

—बही (२.२०)

२. पुत्र हुस्ये जे माहरे, वोहरावीस धरी भाव ।

—बही (२.९)

३. शय्यामें सुता थका, किचित् जागृत निद ।

मेरु पर्वत ऊपरे, मिली चौसठ इन्द ।

जिन पडिमा नो ओछव करे, मिलीया देव ना वृन्द ।

अर्चा करता प्रभु तणी, एहवुं सुपने दीठ ।

औरावण पर बेसीने, देता सहू ने दान ।

एहवुं सुपन ते देखीने, थया जाग्रत तत्काल ।

अरुणोदय थयो तत्क्षिणे, मनमें थयो उजमाल ।

—देवविलास (२.११-१३)

(राजा) बनेगा या पत्रपति (ज्ञानी) ।^१ यद्यपि आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने स्वप्न-दर्शन एवं उसका फल दर्शन ज्ञातकर धनबाई से उसका पुत्र पाना चाहा था, पर धनबाई ने यह कहकर आचार्य के वचन को स्वीकार नहीं किया कि मैं वाचक राजसागर को पुत्र प्रदान करने के लिए वचनबद्ध हूँ ।^२ देवचन्द्र का जन्म हुआ । स्वप्न में देवदर्शन होने के कारण बालक का नामकरण “देवचन्द्र” हुआ ।

समर्पण एवं प्रशिक्षण

माता-पिता ने देवचन्द्र में धार्मिक संस्कारों के बीज शैशवकाल से ही आरोपित करने शुरू कर दिये थे । माता-पिता ने देवचन्द्र की गति-विधियों को साधारण बालक से भिन्न पायी । उन्होंने देवचन्द्र के भविष्य को ज्योतिर्मय मार्ग पर अंगड़ाई लेते हुए पाया । अतः उन्होंने देवचन्द्र को अपना देवत्व प्रगट करने के लिए सच्चाई की सम्यक् पगडण्डी पर चढ़ाया । अपने पूर्व कृत संकल्पानुसार माता-पिता ने देवचन्द्र को उस समय के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान सन्त उपाध्याय राजसागर को सौंप दिया । देवचन्द्र उस समय आठ वर्ष के थे । राजसागर ने देवचन्द्र को कई दिनों तक साधु-जीवनमूलक प्रशिक्षण दिया । अन्य सन्दर्भों के अनुसार राजसागर के पास देवचन्द्र का प्रशिक्षण-काल दो वर्ष है ।

दीक्षा

बालक देवचन्द्र की उदीयमान प्रतिभा को देखकर राजसागर बहुत प्रभावित हुए । उन्होंने उस गागर में सागर की विराटता के चिह्न पाये । देवचन्द्र का मन भी गुरु-सान्निध्य एवं श्रामण्य जीवन की ऊर्ध्वता के प्रति आकर्षित हुआ । उभय पक्षीय निर्णय हो जाने पर विक्रम संवत् १७५६ में

१. दीय कारण दे ए सुपने, देवे जो प्रभावे ए तमने रे ।

छत्रपति थाये ए पुत्र के, पत्रपति धर्मनु सूत्र रे ।

—वही (३.२)

२. ए बीजा पुत्रने अम देज्यो, पण वाचक ने दीधु वचन ।

बीजी ढाल में कवि बहे, मन मान्या नामुं मझ ।

—वही (२.२१)

वाचक राजसागर ने उन्हें मुनित्व की लघु दीक्षा प्रदान कर दी^१ और वृहद् दीक्षा यथासमय तत्कालीन गच्छनायक जिनचन्द्रसूरि ने प्रदान की ।

दीक्षा-नामकरण

देवचन्द्र का दीक्षा-नामकरण राजविमल हुआ,^२ किन्तु उनकी यशोगाथा 'देवचन्द्र' नाम से ही प्रसृत हुई । यद्यपि प्रारम्भिक कृतियों में देवचन्द्र ने अपने लिए राजविमल नाम प्रयुक्त किया है,^३ किन्तु सर्वसाधारण लोग उन्हें "देवचन्द्र" के रूप में ही स्वीकार करते थे, अतः उन्होंने बीस वर्ष की आयु के बाद रचित समस्त कृतियों में स्वयं को 'देवचन्द्र' के नाम से ही उपस्थापित किया है ।

गुरु

देवचन्द्र ने अपनी कृतियों में पाठक दीपचन्द्र को अपना गुरु स्वीकार किया है ।^४ किन्तु कवियण ने "देव विलास" में राजसागर को देवचन्द्र का गुरु बताया है ।^५ कवियण की अपेक्षा देवचन्द्र के आत्म-कथन की प्रामाणिकता अधिक है । ऐसा लगता है कि वाचक राजसागर के कर-कमलों से देवचन्द्र की दीक्षा सम्पन्न हुई थी, किन्तु उन्हें शिष्यत्व दीपचन्द्र का प्रदान किया गया ।

गुरु-परम्परा एवं परम्परा-गौरव

अपनी गुरु-परम्परा का परिचय देवचन्द्र ने अपनी कृतियों में उपसंहार के अन्तर्गत बड़ी श्रद्धा से दिया है । कवि-कृत उल्लेखों के अनुसार

१. शुभ ओछव महोछवे, दीक्षा दीये गुरुराय ।

संवत छपने जाणीये, लघु दीक्षा दीये गुरुराय ।

—देवविलास (ढाल ४ से पूर्व दूहा ६-७)

२. राजविमल अभिधा दीउ ।

—वही (ढाल ४ से पूर्व दूहा ७)

३. द्रष्टव्य : ध्यान-चतुष्पदिका, प्रशस्ति

४. सद्गुरु पाठक श्री दीपचन्द्र नो जी, शिष्य गणि भाखे देवचन्द्र रे ।

—द्राविड़ वारिखिल मुनि सज्जाय (११)

५. उपाध्याय राजसागर जी ना शिष्य, मिठी वाणी जेहूँ इक्षु रे ।

—देवविलास (५, १६)

उनकी गुरु-परम्परा खरतरगच्छ से सम्बद्ध थी। खरतरगच्छ एक क्रान्ति-कारी आन्दोलन है, जैन धर्म वा सुधारवादी प्रातिनिधिक आम्नाय है, जिसने विपथगामी धर्म के रथ को सन्मार्ग पर लाने का अप्रतिम पुरुषार्थ किया। खरतरगच्छ जैन परम्परा का वह ज्योतिर्मय आम्नाय है, जिसने आचार्य जिनेश्वरसूरि जैसे आध्यात्मिक क्रान्तिकारी, अभयदेवसूरि जैसे आगम-व्याख्याता, जिनवल्लभसूरि जैसे साहित्य-स्रष्टा, जिनदत्तसूरि जैसे लक्षाधिक नव जैन निर्माता राष्ट्रसन्त, मणिधारी जिनचन्द्रसूरि जैसे अजौकिक महापुरुष, जिनकुशलसूरि जैसे चमत्कारी देवपूज्य, अकबर-प्रतिबोधक जिनचन्द्रसूरि जैसे शासन-प्रभावक, महोपाध्याय समयसुन्दर जैसे प्रखर विद्वान्, आनन्दधन जैसे महान् योगीराज, उपाध्याय देवचन्द्र जैसे तत्त्वचिंतक दार्शनिक महापुरुषों को जन्म दिया, जिन्होंने न केवल जैन परम्परा को द्वाबरन् भारतीय चिन्तनधारा और जीवनधारा को एक नया आलोक दिया, पथ-दर्शन दिया। गृहस्थों में कर्मचन्द वच्छावत जस योद्धा एवं मन्त्री, मोती शाह मेठ जैसे दानवीर और अगरचन्द नाहटा जैसे राष्ट्रीय स्तर के साहित्य-सेवी इसी गच्छ को देन है। सचमुच, वे सब भारतीय इतिहास के शाश्वत प्रकाश-स्तम्भ बन गये।

हमारे विवेच्य साहित्यकार देवचन्द्र के समुदायाध्यक्ष आचार्य जिनचन्द्रसूरि थे, जो सतरहवीं शदी के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य हुए हैं। सम्राट् अकबर ने इन्हें तत्कालीन सर्वोच्च प्रभावक आचार्य स्वीकार कर “युगप्रधान” पद प्रदान किया था। इनके एक प्रमुख शिष्य थे पुण्य-प्रधानोपाध्याय और इनके शिष्य थे उपाध्याय सुमतिसागर। इनके शिष्यों में वाचक साधुरंग प्रमुख थे। देवचन्द्र के दीक्षादाता उपाध्याय राजसागर इन्हीं साधुरंग के शिष्य थे। राजसागर के जीवन-वृत्त से ज्ञात होता है कि वे सर्व शास्त्रवेत्ता, अनेक जिनमन्दिर प्रतिष्ठाकारक, विद्यादाता एवं आवश्यकोद्धार आदि ग्रन्थों के प्रणेता थे। इनके शिष्यसमुदाय में प्रमुख थे उपाध्याय ज्ञानधर्म जिन्होंने अनेक मुनियों को आगम एवं स्थायदर्शन का गहन अध्ययन कराया था। इनके प्रमुख शिष्य का नाम था पाठक दीपचन्द्र। वे शास्त्रों के मर्मज्ञ थे। इन्होंने अनेक नगरों में मन्दिरों की प्रतिष्ठाएं

करवाई, जिनमें शत्रुंजय तीर्थ पर चौमुख-टूंक/शिखर पर करवायी गयी प्रतिष्ठा उल्लेखनीय है। देवचन्द्र इन्हीं के शिष्य थे।^१

शिक्षा एवं शिक्षा-गुरु : शारदा की आराधना

देवचन्द्र की शिक्षापरक उपलब्धियों का परवर्ती कवियों ने कुछ उल्लेख किया है, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होंने अपना सारा जीवन ज्ञान के सागर में निमज्जित रखा। आगमसार, द्रव्य-प्रकाश जैसे विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों के अवलोकन से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे कितने प्रचुर ज्ञान के धनी थे। निश्चय ही उन्होंने प्रौढ़ शिक्षा प्राप्त की थी। देवविलास के अनुसार देवचन्द्र को उनके दीक्षादाता राजसागर ने विद्या की बहु आयामी उपलब्धियों के लिए स्वयं द्वारा पूर्व सिद्ध “शारदा-मन्त्र” प्रदान किया। देवचन्द्र ने बेनातट (विलाड़ा) ग्राम में एकान्त भूमिगृह में उस मन्त्र की साधना की। उनकी वैचारिक ऊर्जा मन्त्र से आवद्ध होकर माँ शारदा पर केन्द्रित हो गई। मन्त्र की ध्वन्यात्मकता उनके शरीर के रंग-रंग में फैल गई, अन्ततः शारदा माँ ने अपनी कृपा का सागर उन पर उंडेल दिया। उन्हें माँ के दर्शन हुए।

सारस्वत कृपा प्राप्त होने से उनकी प्रज्ञा-प्रतिभा प्रौढ़ एवं निर्मल बन गई। उन्होंने जिस विषय का अध्ययन किया उसमें उनकी पारंगतता अप्रतिम सिद्ध हुई। वाचक राजसागर, पाठक ज्ञानधर्म एवं दीपचन्द्र के त्रिवेणी ज्ञान संगम में स्वयं को निमज्जित किया। वे तीनों देवचन्द्र के शिक्षा गुरु थे। देवचन्द्र ने अपने शिक्षा गुरुओं से किन-किन ग्रन्थों का अभ्यास किया, इसकी सूचना देवविलास से प्राप्त होती है। उनके शिक्षा गुरुओं ने षडावश्यक आदि जैन-आगम, व्याकरण, पंचकल्प, नैषध, नाटक, ज्योतिष, अष्टादश-कोश, कौमुदी, महाभाष्य, मनोरमा, पिंगल, स्वरोदय, तत्त्वार्थ, आवश्यक बृहद् वृत्ति, हेमचन्द्रसूरि, हरिभद्रसूरि और यशोविजय कृत समग्र ग्रन्थ, षड्कर्म ग्रन्थ, कर्म-प्रकृति आदि का उन्हें अध्ययन कराया

था ।^१ एक अन्य प्रमाण के अनुसार उन्होंने दिगम्बर जैन परम्परा का गोम्मटसार ग्रन्थ का भी अध्ययन किया था ।^२ उन्होंने बालिग अवस्था की देहरी पर कदम रखते-रखते काव्य-शास्त्र, भाषा-शास्त्र आदि के साथ-साथ जैन-आगम साहित्य और जैन-दर्शन का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया था । मात्र उन्नीस वर्ष की किशोरावस्था में तो उन्होंने “ध्यान दीपिका” जैसे आध्यात्मिक, काव्यात्मक एवं वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थ की रचना कर डाली ।

देवचन्द्र का ज्ञान-गाम्भीर्य एवं अध्यापन वैशिष्ट्य

देवचन्द्र का ज्ञान-गाम्भीर्य अथाह था, जिससे प्रभावित होकर धर्म-संघ ने उन्हें उपाध्याय पद प्रदान किया था । यह पद जैन-समाज में उस मुनि को दिया जाता है जो स्वमत एवं परमत का प्रकाण्ड विद्वान होता है और संघस्थ मुनियों को अध्यापन कराने में समर्थ होता है । उपाध्याय देवचन्द्र का ज्ञान इतना अगाध था कि देवविलास के रचयिता कवियण के अनुसार उनके पास सैद्धान्तिक अध्ययन एवं तात्त्विक समस्याओं का समाधान पाने के लिए अनेक मुनिजन एवं तत्त्वचिंतक आते थे । वे भी

१. प्रथम षडावश्यक भणे हो लोल, के (ते) पछी जैनशैलीनो वास रे ।
सूत्र सिद्धान्त भणावीया हो, वीर जिन जी ए भाख्या जेह रे ।
स्वमार्ग में पोषक थया हो, टाले मिथ्यामत नुं गेह रे ।
अन्यदर्शन ना शास्त्र नो हो, भणवाने करता उद्यम रे ।
वैयाकरण पंच काव्य ना हो, अर्थ करे करावे सुगम्य रे ।
नैषध नाटक ज्योतिष सिखे हो, अष्टादश जोया कोष रे ।
कौमुदी महाभाष्य मनोरमा हो, पिंगल स्वरोदय तोष रे ।
भाखा (भाष्य) ग्रन्थ जे कठिणता हो, तत्त्वारथ आवश्यक बृहद् वृत्ति हो ।
“हेमाचार्य” कृत शास्त्रना रे हो, “हरिभद्र” “जस” कृत ग्रन्थ चित्त रे ।
षट् कर्म ग्रन्थ अवगाहता हो, कम्मपयडीये प्रकृति सम्बन्ध रे ।
इत्यादिक शास्त्रे भला हो, जैन अम्नाये कीध सुगन्ध रे ।
सकलशास्त्रे लायक थया हो, जेहने थयुं मइ सुइ ज्ञान रे ।

—देवविलास (४. १-६)

२. गोमटसार दिगंबरी, वाचना करे हित नेह ।

—वही (ढाल १० से पूर्व, दूहा २)

उन्हें उदार भाव से शिक्षण देते थे और उनकी समस्याओं का समाधान करते थे। उनके लिए विद्यादान से बढ़कर और कोई दूसरा व्यसन नहीं था और विद्यादान करने में कृपणता को उन्होंने कभी बाधक नहीं होने दिया। विद्यादान वे निःस्वार्थ भाव से एवं बुद्धि विनोद के लिए करते थे।^१

यद्यपि वे खरतरगच्छ में प्रव्रजित हुए थे, किन्तु साम्प्रदायिक संकुचितता और संकीर्णता का उनमें अभाव था। साम्प्रदायिक औदार्य एवं अनाग्रहशीलता की मुहर उनके जीवन ग्रन्थ के हर पृष्ठ पर लगी हुई थी। कवियण के अनुसार उनके पास विद्याध्ययन करने के लिए चौरासी गच्छ अर्थात् जैन धर्म के सभी आम्नायों के मुनिजन आया करते थे। भला जिस व्यक्ति के पास एक नहीं अपितु चौरासी गच्छों के मुनिजन अध्ययनार्थ आते हों निश्चय ही उसका ज्ञान अप्रतिम, अद्वितीय एवं बेजोड़ होगा। सचमुच देवचन्द्र अपने युग के “मानक प्रज्ञा पुरुष” थे।

देवचन्द्र से जिन मुनियों ने अध्ययन किया था उनमें कतिपय मुनियों ने तो अपनी रचनाओं में देवचन्द्र के विद्यादान के प्रति श्रद्धा पूर्वक आभार ज्ञापन किया है। प्रसिद्ध साहित्यकार पं० मुनि जिनविजय, मुनि उत्तमविजय और विवेकविजय ने भी देवचन्द्र से अध्ययन किया था जो वस्तुतः तपागच्छ में दीक्षित थे। कविवर उत्तमविजय ने निम्न पंक्ति के द्वारा उस बात का उल्लेख किया है कि पंडित प्रवर जिनविजय ने देवचन्द्र से महाभाष्य का अध्ययन किया था—

१. गच्छ चौरासी मुनिवर रे, लेवा आवे विद्यादान।
नाकारो नहीं मुख थकी रे, नय उपनां विधान रे।
अपर मिथ्यास्वी जीवडा रे, तेहनी विद्यानो पोस।
अपूर्वं शास्त्रनी वाचना रे, देतां न करे सोस रे।
विद्यादानथी अधिकता रे, नहीं कोइ अवर ते दान।
न करे प्रमाद भणावतां रे, व्यसन ना नहीं तोफान रे।

**“महाभाष्य अमृत लहो,
देवचन्द्र गरि पास ।”**

तपागच्छीय मुनि विवेकविजय द्वारा देवचन्द्र से अध्ययन करने की सूचना देवविलास से प्राप्त होती है ।^१ उसके अनुसार विवेकविजय विलक्षण बुद्धि सम्पन्न विनीत मुनि थे । देवचन्द्र को भी उनसे स्नेह था ।

उपाध्याय देवचन्द्र परम शास्त्रज्ञ थे । उन्होंने अपने जीवन में अनेक बार शास्त्रार्थ किया और विजेता हुए । विद्वज्जन देवचन्द्र को तर्कवादी ही कहते थे ।^२

देवचन्द्र विविध भाषाविद् थे । वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती एवं राजस्थानी भाषा के अधिकृत विद्वान् थे । उन्हें सिन्धी भाषा का भी ज्ञान था । यद्यपि उनका व्यक्तित्व अनेक आयामों से सम्पृक्त था तथापि उनका ज्ञान व्यक्तित्व सर्वाधिक उल्लेखनीय है । वे एक प्रखर कवि, दार्शनिक, प्रवक्ता, व्याख्याता, लेखक और तत्त्वचिंतक महामनोषी थे । भाषा की ताजगी, शैली की उच्चता और विश्लेषण की तलस्पर्शता उनके ज्ञान व्यक्तित्व की अप्रतिम विशेषताएं हैं । उनके आध्यात्मिक रस से आप्लावित मधुरिम गीत समग्र अध्यात्म जगत में उज्ज्वल मोतियों की तरह विकीर्ण हैं । मेरे विचार से देवचन्द्र जैसा तत्त्वचिंतक अध्यात्म-पुरुष न होता तो अध्यात्म साहित्य की दीप्ति में चार चांद न लगते ।

कवियण ने उनकी ज्ञान सम्बद्ध शोध-दृष्टि का परिचय देने के लिए एक घटना विशेष का उल्लेख किया है । सं० १७७७ में पाटण में शाही पोल के चौमुखवाड़ी पार्श्वनाथ मन्दिर में सत्रह भेदी पूजा पढ़ाई जा रही थी, उसमें आचार्य ज्ञानविमलसूरि और उपाध्याय देवचन्द्र सम्मिलित हुए । पूजा महोत्सव में श्रीमाली ज्ञातीय नगरसेठ तेजसी दोसी भी आया । तेजसी दोसी ने पहले कभी ज्ञानविमलसूरि से सहस्रकूट के हजार नाम

1. श्री जिनविजय निर्वाण रास, जैन रासमाला, पृष्ठ १४५
2. देवविलास (७. १३-१४)
3. द्रष्टव्य—देवविलास (९. १२)

पूछे थे, किन्तु आचार्य ने उसे भविष्य में बतलाने का आश्वासन दिया था। पूजा महोत्सव में जैसे ही तेजसी ने ज्ञानविमलसूरि को देखा तो सहसा उसको मनोजिज्ञासा अंकुरित हो उठी, उसने पुनः आचार्य से सहस्रकूट के हजार नाम पूछे। आचार्य ने कहा—सहस्रकूट जिन नाम लुप्त हो गये लगते हैं। देवचन्द्र आचार्य के समीप आसीन थे। उन्होंने तत्काल कहा—आचार्य श्री! आप एक श्रेष्ठ विद्वान् होते हुए भी मृषा-भाषण क्यों करते हैं? ऐसा कहने से तो श्रावकों को सहस्रकूट जिन नामों का बोध कैसे होगा? देवचन्द्र का यह संवाद ज्ञानविमलसूरि को अनर्गल और अपमानजनक लगा, वे बोले—“तुम मरुस्थलीय लोग शास्त्रीय रहस्यों को क्या जानो?” तेजसी दोसी ने कहा—आचार्यश्री! मुझे इस बात का निर्णय करना है। तब ज्ञानविमलसूरि ने देवचन्द्र से कहा—“तुमने मेरी बात को तो मृषा भाषण कह दिया। पर, क्या तुम सहस्रकूट के नाम बता सकते हो?” देवचन्द्र ने तत्काल अपने संदर्भ ग्रन्थालय से अपने शिष्य मनरूप को निर्देश देकर सहस्रकूट जिन नाम ग्रन्थ की पांडुलिपि मंगवायी। जिसे पढ़कर ज्ञानविमलसूरि विस्मित एवं प्रभावित हुए। ज्ञानविमलसूरि द्वारा देवचन्द्र से गुरु-नाम पूछने पर जब यह ज्ञात हुआ कि देवचन्द्र उपाध्याय राजसागर के शिष्य-प्रशिष्य हैं, तो उन्होंने देवचन्द्र एवं उनकी विद्वत् गुरु परम्परा की मुक्त कंठ से प्रशंसा की।^१

पदारोहण

देवचन्द्र एक जैन मुनि थे। वे अपने समय के एक विश्रुत विद्वान् थे। संघ पर उनकी प्रतिभा की अनुपम छाप थी और वे जन-जन की श्रद्धा के अभिनव पात्र थे। संघ एवं वरिष्ठ गुरुजनों ने उनको आगमिक प्रशिक्षण उच्च ग्रन्थास, तीक्ष्णबुद्धि, मेधावी प्रतिभा तथा तप-संयम के पालन में दक्ष देखकर समय-समय पर अनेक सम्माननीय पद प्रदान किये थे। देवचन्द्र ने अपनी कृतियों में एवं समसामयिक अन्य रचनाओं में अपने देवचन्द्र के नाम के साथ पदोल्लेख भी किया है। मुनि^२ पद तो उन्हें दीक्षा स्वीकार

१. देवविलास (ढाल ४ के बाद दूहा १-१२, ढाल ५. १-१७)

२. पाठक श्री दीपचन्द सीस, गणि इम मंगलें हो लाल।

बड़े मुनि देवचन्द्र, सिद्धा जे सिद्धाचले हो लाल।

करते ही प्राप्त हो गया था। उनके नाम के साथ गणि^१, उपाध्याय^२, विद्या-विशारद^३, जैनसिद्धान्त-शिरोमणि^४, गीतार्थ^५, वाचक^६ आदि पदों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

भारत-पर्यटन

देवचन्द्र केवल तत्त्व-चिन्तक मनीषी ही नहीं थे, बरन् धर्म-गुरु भी थे। उन्होंने देश में ग्रामानुग्राम विचरण कर नीति और अध्यात्म की गंगा-यमुना घर-घर पहुंचाई थी। उनकी कृतियों के अन्त में लेखन-स्थान आदि के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उनकी यात्राएँ मुख्यतः सिंध, राजस्थान, पंजाब, गुजरात एवं सौराष्ट्र में हुई थी। उनके चातुर्मासिक प्रवास बीकानेर, जैसलमेर, मुलतान, अहमदाबाद, मरोठ, पालीताना, पाटण, खम्भात, राजनगर, नवानगर/जामनगर, भावनगर, सूरत, धांगध्रा, राधनपुर, लीबडी, बड़वाण, परधरी, चूड़ा में हुए थे। यद्यपि इनके अतिरिक्त और भी अनेक स्थानों में उनका चातुर्मासिक प्रवास हुआ था किन्तु उनकी जानकारी अभी तक उपलब्ध नहीं हो पायी है।

तीर्थ-यात्रा तथा भाव-प्रवहणता :

देवचन्द्र ने देश के विविध जैन तीर्थों की भी यात्राएँ की। जिन मन्दिर एवं तीर्थ उनकी आस्था के आयास थे। उन्होंने अपने गीतों में तीर्थों और तीर्थाधिपतियों की मुक्त कण्ठ से अभ्यर्थना/स्तवना की है। अब तक उनके तीर्थंकरों और तोर्थों की भक्ति से सम्बन्धित सौ गीत विभिन्न

१. कल्याणक जिणवर तणा ए, आपे परेम करुणाण ।

देवचन्द्र गणि संथुवे, पासनाह जग-भाण ।

—पाश्वर्ष जिन चैत्यवन्दन (४)

२. उपाध्याय श्री देवचन्द्र गणि शिष्य-युतैः

—शिलालेख, सहस्रकणा, हाजा पटेल अहमदाबाद

३. देवविलास, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृष्ठ २६८

४. पद्मविजय कृत उतमविजय निर्वाण रास

५. बुद्धिसागरसूरि कृत देवचन्द्र स्तुति

६. देवविलास (५.१७), (९.१५)

ज्ञान भण्डारों से प्राप्त हुए हैं। उनके भक्तिपरक गीतों से ज्ञात होता है कि वे न केवल तीर्थंकर को अपितु उनकी प्रतिमाओं को भी साधना का आदर्श मानते थे।

यही कारण है कि देवचन्द्र की अतिशय मण्डित तीर्थों के प्रति भी अगाध श्रद्धा थी। वे अपने प्रवचनों में भी तीर्थ माहात्म्य प्ररूपित करते थे।

तीर्थ माहात्म्य नी प्ररूपणा,
गुरु तणी सांभले श्रावक जप्प ।^१

शत्रुंजय-तीर्थ एवं पद यात्री संघ

तीर्थाधिराज शत्रुंजय/पालीताना के प्रति देवचन्द्र के मन में विशेष समर्पण भाव था। उन्होंने अनेक बार शत्रुंजय की यात्राएँ कीं, वहाँ के लिए साधु, साध्वी श्रावक, श्राविकाओं के पैदल चतुर्विध संघ निकलवाये, वहाँ प्राचीन जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया और अनेक नयी जिन-मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करवाईं।

देवचन्द्र का एक स्तवन है—श्री शत्रुंजय स्तवन। इसके अनुसार विक्रम संवत् १८०४ मार्गशीर्ष शुक्ल १३ के दिन देवचन्द्र की सन्निधि में संघवी शाह कचरा, कीका और रूपचन्द ने उल्लास एवं उत्साहपूर्वक पालीताना का संघ निकाला था। स्वयं देवचन्द्र के शब्दों में^२—

चालो चालो ने राज श्री सिद्धाचल जईइं ।

श्री विमलाचल तीरथ फरसी, आतम पावन करीइं ।

संवत् अठार चिडोतरा वरस्ये, सित मगसिर तेरसीइं ।

श्री सूरत थी भक्ति हरष थी, संघ सहित उल्लसीइं ।

कचरा कीका जिनवर भक्ति, रूपचन्द जी इन्द्र ।

श्री संघ ने प्रभुजी भेटाव्या, जगपति प्रथम जिणंद....२

कवियण ने अपनी रचना “देवविलास” में लिखा है कि विक्रम संवत् १८०८ में देवचन्द्र की सन्निधि में एवं उनके उपदेश से गुजरात से

१. देवविलास (६.५)

२. श्री मद्देवचन्द्र पद्य पीयूष, पृष्ठ १०३, श्री शत्रुंजय स्तवन (१, ६, ७)

शत्रुंजय का संघ निकला था। इस संघ ने गुजरात से निर्गमन किया था, किन्तु प्रस्थान स्थल का कवियण ने उल्लेख नहीं किया है। कवियण के अनुसार^१ —

संवत अठारने आठ में, गुजरात थी काद्यों संघ ।

श्रीगुरुना गुरु उपदेश थी, शत्रुंजय नो अभंग... ३

देवविलास के अनुसार विक्रम संवत् १८१० में कचरा कीका ने एक बार पुनः उनके तत्त्वावधान में शत्रुंजय का संघ निकाला था—

संवत दस अष्टादशे, कचरा साहजोई संघ ।

श्री शत्रुंजय तीर्थ नो, साथे पधार्या देवचन्द्र^२....

शत्रुंजय-तीर्थ का पुनरुद्धार

देवचन्द्र ने शत्रुंजय तीर्थ के लिए न केवल यात्री संघ निकलवाये अपितु शत्रुंजय के उद्धार के लिए उन्होंने अपने जीवन में प्राप्त उपलब्धियों का भी बलिदान किया था। तीर्थ के वास्तुशिल्प को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उन्होंने जो श्रम किया उसे इतिहास कभी नहीं भुला पाएगा। शायद शत्रुंजयोद्धार के सम्पूर्ण इतिहास में कोई भी ऐसा उद्धारक नहीं हुआ है जिसने गांव-गांव में जाकर शत्रुंजय की महिमा के गीत गाये, प्रवचनों में उसकी गरिमा को गुंजाया, उसके उद्धार के लिए प्राण पण से श्रम किया। उन्होंने इसके लिए गुजरात के कर्मठ कार्यकर्ताओं एवं धनाढ्य जैन बन्धुओं से सम्पर्क किया। उनकी प्रेरणा से शत्रुंजय तीर्थोद्धार के लिए खम्भात, अहमदाबाद, सूरत, राजनगर, भावनगर आदि नगरों के विभिन्न संघों में अर्थ एकत्रीकरण हुआ। उन्होंने यह उद्धार का कार्य विस्तृत पैमाने में करवाया। जो संवत् १७८१ से ८३ के तीन वर्षों तक लगातार चला।^३ तत्पश्चात् संवत् १७८५ से ८६ तक पुनः जीर्णोद्धार-कार्य हुआ।^४

१. देवविलास (९.१)

२. देवविलास (९.४)

३. कारखानो तिहां सिद्धाचल ऊपरे, मंडाव्यो महाजन्न ।

संवत् सत्तर एकासीये, ब्यासीये ब्यासीये कारीगरे काम ।

—देवविलास (७.६-७)

४. देवविलास (७.९)

तीर्थ-प्रबन्ध और प्रबन्ध समिति की स्थापना :

देवचन्द्र ने शत्रुंजय तीर्थ के समुचित प्रबन्ध हेतु भी गुजरात एवं सौराष्ट्र के प्रमुख जैन संघों को प्रेरणा दी थी। तीर्थ संचालन के लिए उन्होंने एक समिति का गठन किया, जिसे परवर्ती कवियों ने कारखाने के नाम से सम्बोधित किया। वस्तुतः उस समय समिति को पेढी या कारखाना कहा जाता था। यह वही पेढी है जो आज “आणन्दजी कल्याणजी की पेढी” के नाम से सारे देश में विख्यात है। यह श्वेताम्बर जैन परम्परा की प्रतिनिधि समिति है। वास्तव में इस पेढी की स्थापना उसी देवचन्द्र की पुण्य प्रेरणा से हुई जिनके प्रति बड़े-बड़े आचार्य एवं मूर्धन्य विद्वान नमस्तक हैं। इस पेढी के वट वृक्ष की जड़ें धीरे-धीरे इतनी गहरी पैठनी गईं कि आज वह देश की सर्वाधिक धनाढ्य, कार्यदक्ष एवं नेतृत्व सम्पन्न समिति के रूप में हमारे समक्ष विद्यमान है। इस समिति के नामकरण के सन्दर्भ में निम्न मान्यता भी प्रचलित है।

अहमदाबाद में जोधपुर के श्री रतनसिंह भण्डारी सूबेदार थे। उस समय अहमदाबाद के एक तत्त्वज्ञ सेठ शाह आणन्दरामजी जो दुद्धियों के चक्कर में थे, श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज के पास आकर तत्त्वचर्चा किया करते थे। वे गुरु महाराज के अथाह ज्ञान को देखकर अभिभूत होकर मूर्ति पूजा के हठ श्रद्धालु और श्रीमद् के परम भक्त हो गए। उन्होंने सूबेदार श्री रतनसिंहजी भण्डारी के समक्ष कहा—“मारवाड़ से आये हुए समस्त निधियों में पारंगत ज्ञानियों में शिरोमणि गुरु महाराज यहां विराजते हैं।” भण्डारीजी अपने अग्रेश्वरी श्री आणन्दरामजी के साथ श्रीमद् के सम्पर्क में आये और उनके तत्त्व-ज्ञान की गहराई देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे प्रतिदिन पूजा अर्चा करने लगे। अहमदाबाद में मृगी उपद्रव फैलने पर भण्डारीजी की प्रार्थना से श्रीमद् ने रोगोपशान्ति की। मराठा सेना के साथ रणकुजी ने जब अहमदाबाद पर चढ़ाई की तो श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज की कृपा से अल्प सेना होने पर भी विजय प्राप्त कर गुजरात को बचाने में भण्डारीजी सफल हुए। अहमदाबाद में मन्दिर बिम्ब प्रतिष्ठाएं हुईं। एक दिन सतरह भेदी पूजा हो रही थी। शत्रुंजय के हेतु पेढी की स्थापना हुई, उपाध्याय साधुकीर्तिजी कृत सतरह भेदी पूजा की तेरहवीं अष्ट मंगल पूजा के अन्त में जब “आणन्द कल्याण सुख रस मे” पद कर्ण-गोचर हुआ तो भण्डारीजी ने सुझाव दिया कि पेढी का नाम यही रखा

जाय। गुजरात के सूवेदार श्री भण्डारीजी द्वारा पेढ़ी का नामकरण सुनकर उनके प्रधान श्री आणन्दराम शाह को उसमें अपना नाम आते देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। संघ ने पेढ़ी का नाम “आनन्दजी कल्याणजी” प्रसिद्ध कर दिया।^१

जबकि एक विद्वान श्री रतिलाल दीपचन्द देसाई ने आणन्दजी कल्याणजी पेढ़ी का संस्थापक उपाध्याय देवचन्द्रजी को नहीं माना है। उनकी अमान्यता का आधार निम्न पद्य है :—

कारखानो तिहां सिद्धाचल ऊपरे, मंडावयो महाजन्न।

द्रव्य खरचाये अगणित गिरि उपरे, उल्लसित थाये तन्न।^२

श्री देसाई का मानना है कि देवविलास में देवचन्द्र की प्रेरणा से सिद्धाचल के ऊपर कारखाना बनने को जो बात लिखी गई है उसका अर्थ पूर्वापर सन्दर्भों को देखते हुए पेढ़ी की स्थापना न होकर तीर्थ के जीर्णोद्धार से सम्बन्धित है। वस्तुतः देवविलास में किये गये उल्लेखों से तीर्थ का जीर्णोद्धार से सम्बन्धित अर्थ प्रगट होता है। किन्तु, सन्दर्भ में उल्लिखित कारखाना शब्द जैन परम्परा का एक पारिभाषिक एवं रूढ़ शब्द है। यह शब्द जैन परम्परा में उस समिति के लिए प्रयुक्त होता रहा है जो किसी तीर्थ स्थान की व्यवस्था सम्भालती है। स्वयं देसाई ने भी तो अपनी पुस्तक ‘सेठ आणन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी की इतिहास’ में इस बात को स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है कि “तीर्थ स्थान की पेढ़ी को श्री संघ मुख्यतः कारखाने के नाम से सम्बोधित करता है। पुराना सारा रेकार्ड, बही खाते आदि भी कारखाने के नाम से आज भी सुरक्षित हैं।” देसाई द्वारा बताया गया यह अर्थ सर्वमान्य है। मैंने आज भी कई स्थानों में ऐसी संस्थाएं/समितियां देखी हैं जो अपने नाम के साथ समिति या पेढ़ी के लिए “कारखाना” शब्द का प्रयोग करती हैं। निपानी, हुबली, बेलगाम, आदि स्थानों में मन्दिरों की प्रबन्ध समितियों के नाम के साथ ‘कारखाना’ शब्द व्यवहृत हुआ है।

१. श्री भंवरलाल नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १७४

२. देवविलास (७.६)

‘आणन्दजी कल्याणजी पेढी नो इतिहास’ पुस्तक के अनुसार वि.सं. १७८७ से पहले पेढी अहमदाबाद में थी, इसका प्रमाण पालीताना के बही खातों में उपलब्ध है। मेरी मान्यतानुसार पेढी की संस्थापना देवचन्द्र द्वारा होने की पुष्टि इसी तथ्य से हो जाती है।

कवियण के उल्लेखानुसार सिद्धाचल (पालीताना) पर देवचन्द्र की प्रेरणा से महाजन लोगों ने एक ऐसी समिति/कारखाना/पेढी संस्थापित की, जिसने अथाह धन व्यय कर तीर्थोद्धार किया, तीर्थ प्रबन्ध किया। पालीताना के बही खातों में आणन्दजी कल्याणजी का १७८७ से पूर्व नामोल्लेख मिलता है। १७८७ वह संवत् है जब सारे गुजरात में देवचन्द्र का सर्वाधिक प्रभाव था। शत्रुंजय के जीर्णोद्धार एवं व्यवस्थापन के लिए संवत् १७८० से १८१० वर्षों के मध्य अन्य किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि आज आणन्दजी कल्याणजी की पेढी पर तपागच्छ का अधिक प्रभाव है। किन्तु, किसी का प्रभाव होने मात्र से उसे अपने जनक को अस्वोकार नहीं करना चाहिये। जहां तक पेढी के ‘आणन्दजी कल्याणजी’ के नामकरण का प्रश्न है, यह कुछ परवर्ती है। देवचन्द्र ने पेढी की स्थापना करवाई थी। उसके नामकरण का उल्लेख नहीं मिलता है। वस्तुतः पूर्वकाल में किसी भी पेढी के नामकरण नहीं होते थे। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार संवत् १८६४ में अहमदाबाद अंग्रेजों के शासन में आया, तो उस समय अंग्रेजों के कानून एवं अनुशासन के अन्तर्गत इस संस्था का पंजीकरण, विधिमूलक नामकरण हुआ।

जिन-मन्दिरों की प्रतिष्ठापना :

देवचन्द्र के जीवन वृत्त के पर्यवेक्षण से यह अवगत होता है कि वे अपने जीवन में अनेक स्थानों के जिन मन्दिरों के प्रतिष्ठापक रहे हैं। अब तक किये गये अनुसन्धान से ऐसा आभास होता है कि देवचन्द्र ने बीसों मन्दिरों में प्रतिष्ठा करवाई थी। या प्रतिष्ठा महोत्सवों में अपनी सन्निधि दी। विभिन्न मन्दिरों में उत्कीर्ण शिलालेखों के अनुसार देवचन्द्र ने शत्रुंजय आबू, गिरनार, राजनगर, लींबडी, धांग्रध्रा, नवानगर, चूड़ा आदि में अनेक जिन-मन्दिरों, जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की थी।

संवत् १७८३ में माघ शुक्ल ५ के दिन देवचन्द्र द्वारा शत्रुंजय तीर्थ खरतरवसही नामक ट्रंक/शिखर पर प्रतिष्ठा करने का अभिलेख चन्द्रनुमा सिद्धचक्र शिला से सिद्ध होता है—

“संवत् १७८३, माघ सुदि ५, सिद्धचक्र धणपुर के रहने वाले श्रीमाली लघुशाखा के खेता की स्त्री आणंदबाई ने अर्पण की। बृहत् खरतरगच्छ की मुख्य शाखा में श्री जिनचन्द्रसूरिजी हुए, जिनको अकबर बादशाह ने युगप्रधान पद दिया था। उनके शिष्य महोपाध्याय राजसागर जी हुए, उनके शिष्य महोपाध्याय ज्ञानधर्मजी, उनके शिष्य उपाध्याय दीपचन्द्रजी, उनके शिष्य पंडितवर देवचन्द्रजी ने प्रतिष्ठा की।”^१

संवत् १७८४ मार्गशीर्ष कृष्ण ५ के दिन अहमदाबाद में एक चैत्य की प्रतिष्ठा की थी जो अहमदाबाद की हाजा पटेल पोल में स्थित है। वहां की सहस्रफणा पार्श्वनाथ की प्रसिद्ध प्रतिमा के नीचे जो शिलालेख उत्कीर्ण है इस प्रकार है—

“संवत् १७८४ वर्षे मागशीर वदि ५ दिन सहस्रफणा थी मंडित श्री पार्श्वनाथ परमेश्वर बिब कारितं उपकेशवंशे साह प्रतापशी भार्या प्रतमदे पुत्र ठाकरसीकेन आणंद बाइ भगिनी भवरयुतेन बृहत्खरतर-गच्छे भट्टारक श्रीयुगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरिशिष्याणां महोपाध्याय श्री.....शिष्य उपाध्याय श्री देवचन्द्रगणि शिष्ययुतेः”।

‘देवविलास’ कृति के अनुसार विक्रम संवत् १७८५ एवं ८६ में देवचन्द्र ने पालीताना में अनेक जिन-बिम्बों की प्रतिष्ठा की थी।^२ संवत् १७८७ में पालीताना में देवचन्द्र द्वारा पुनः प्रतिष्ठा करने का उल्लेख मिलता है।^३

१. द्रष्टव्य डॉ. बूल्हर कृत लेख-संग्रह ३४

२. पंचासीये छयासीये जाणीये, बुद्धि तणा जे भंडार... सु. ९...

पालीताणे प्रतिष्ठा करी भली, खरच्यो द्रव्य भरपूर

वधुसाये चैत्य शत्रुंजय उपरे, प्रतिष्ठा देवचन्द्रनी भूरी...सु. १०।

—देवविलास

३. डॉ. बूल्हर, कृत लेख संग्रह नं. ३५-३६

कापरड़ा के जिनालय निर्माता भानाजी भण्डारी के वंशजों का एक शिलालेख मिला है जिसमें देवचन्द्र द्वारा शत्रुंजय, आबू, गिरनार, कापरड़ा आदि में प्रतिष्ठा करने का उल्लेख है—

स्वस्ति श्री ज्यो मंगलाभ्युदयश्च, संवत् १७९४ वर्षे शाके १६५९ प्रवर्तमाने आषाढ सुदि १० रविवारे ओइस वंशे वृद्ध शाखायां ना-डूल गोत्रे भंडारी जी श्रीभानाजी तत्पुत्र भं. नारायणजी पुत्र भ. ताराचंद जी पुत्र अनेक चेत्योद्वारक भं. रूपचंदजी तत्पुत्र न्यायकलित अनेक जैन शासन कार्यकारक भं. शिवचन्दजी पुत्र हर्षचन्द्र युतेन श्रीशत्रुंजयोपरि चेत्योद्वार कारितं श्री पार्श्वं बिंबं स्थापितं खरतरगच्छे श्रीजिनचन्द्रसूरि विजयराज्ये तथा प्रतिष्ठितं च महोपाध्याय श्री राजसागरजी तत्शिष्य उ० श्री ज्ञानधर्मजी तत्शिष्य उ० श्री दीपचंदजी तत्शिष्य संवेगमार्गप्रणी श्री शत्रुंजय गिरनार आबू प्रमुख चैत्यप्रतिष्ठाकारक पंडित देवचन्द्रेण डूंगरवाल सा भैरव वाप्त (? दास) सा. किसनदासोत श्री जैतारण वास्तव्य पुर धारण ली० सेवग किशोरदास बीकानेरीया । शुभं भवतु । श्री नेमिनाथ बिंबं स्थापितं ।^१

कवियण ने अपनी रचना देवविलास में लिखा है कि देवचन्द्र ने सं. १७६५ में एवं सं. १८१० माघ शुक्ल १३ मंगलवार के दिन पालीताना में प्रतिष्ठा की थी ।

व्यक्तित्व : बहुमुखी प्रतिभा :

उपाध्याय देवचन्द्र का व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न था । उनका व्यक्तित्व “यथा नाम, तथा गुण” की उक्ति को चरितार्थ करता है । उनके एक व्यक्तित्व में कई रूप मुखरित हुए हैं, जिनसे न केवल तत्कालीन परिवेश और इतिहास प्रभावित हुआ, अपितु परवर्ती काल एवं वर्तमान काल भी अत्यन्त प्रभावित है । कवियण ने उनके व्यक्तित्व में निम्नलिखित प्रतिभा एवं महनीयता का दर्शन किया था—

१. सत्यवादिता	२. बुद्धिमत्ता
३. ज्ञानवन्तता	४. शास्त्र-ध्यानमयता

५. निष्कपटता ६. क्रोधविहीनता
 ७. निरभिमानता ८. सूत्राभिव्यक्तता एवं योक्तिकता
 ९. सकलशास्त्र पारगामिता १०. औपकारिकता
 ११. अध्यापनशीलता
 १२. ग्रन्थ-संचयशीलता एवं ग्रन्थोद्धारकता
 १३. उपाध्याय/वाचक-पदारूढता
 १४. शास्त्रार्थविजयशीलता/वादीजयता
 १५. उपदेश-प्रखरता एवं नूतन चैत्य प्रतिष्ठापकता
 १६. वचनातिशयता/वाणी-ओजस्विता
 १७. राजकीय प्रभावकता
 १८. रोगनिवारणता
 १९. प्रख्यातता
 २०. क्रियोद्धारकता
 २१. मस्तक में मणिधारणता^१

देवचन्द्र की बहुमुखी प्रतिभा ने अनेक मूर्धन्य विद्वानों को भी प्रभावित किया। पचासों विद्वानों ने उन पर अपना कलम चलायी है। यहां प्रस्तुत है परवर्ती दो-चार प्रमुख विद्वानों को अभिव्यक्तियां -
 कवियण :—

पंचमकाले देवचन्द्रजी, गंधहस्ति जे तुल्य ।
 प्रभावक श्रीबीर नो, थयो अधुना बहुमूल्य ।^२
 गुणतो सर्वत्र प्रगट छे, देश विदेश विख्यात ।
 कवियण नी अधिकाइतां, स्युं एहमे छे बात ।
 कवियण कहे एक जीभ ते, किम गुणवर्णम जाय ।
 सागर में पाणी घणो, गागर में न समाय ।^३
 एहवा पुरुष थोड़ा प्रभुमार्ग ना, प्रकाश करबाने उछाहि ॥^४

१. देवविलास (१.२-१८)
 २. वही (प्रास्ताविक १३)
 ३. वही (प्रथम ढाल के पश्चात्, दूहा २-३)
 ४. वही (७ । १७)

आचार्य ज्ञानविमलसूरि :—

तुम वाचक तो जैनना काजी, तुमे जैनना थंभ छो गाजी ।
आदि घर छे तमारुं भव्य, तुमे पण किम न होये काव्य ॥^१

आणंदराम :—

गुरु ज्ञानी शिरोमणि, जिनधर्म वृषभ समान ॥^२

पद्मविजय :—

खरतर गच्छ मांही थया रे लोल, नामे श्री देवचंद्र रे सोभागी !
जैन सिद्धांत शिरोमणि रे लोल, धैर्यादिक गुण वृन्द रे सोभागी ॥^३

आचार्य बुद्धिसागरसूरि :—

ज्ञानदर्शनचारित्र-व्यक्तरूपाय योगिने ।
श्रीमते देवचन्द्राय, संयताय नमो नमः ।
द्रव्यानुयोगगीतार्थो, व्रताचार-प्रपालकः ।
देवचन्द्र-समः साधुरर्वाचीनो न दृश्यते ।
आत्मोद्गारामृतं यस्य, स्तवनेषु प्रदृश्यते ।
त्रिविधतापतप्तानां, पूर्ण-शान्ति-प्रदायकम् ।
आत्मशमामतस्वादी, शास्त्रोद्धान-विहारवान् ।
यत्कृत-शास्त्रपाथोद्धो, स्नानं कुर्वन्ति सज्जनाः ।
सिद्धान्तपारदृश्या यो, गुणानुरागि-शेखरः ।
माध्यस्थ्यं यस्य सच्चित्ते, तस्मै नित्यं नमो नमः ॥^४
सम्भूत अन्तरात्मा य, आत्मानुभववेदकः ।
अप्रमत्तदशायोगी, जिनेन्दाणां प्रसेवकः ॥
श्रुतागमप्रलीनाय, भक्ताय ब्रह्मरागिणे ॥
ध्यानसमाधिरक्ताय, विश्ववन्द्याय साधवे ।
श्रीमते देवचन्द्राय, पूर्णप्रीत्या नमो नमः ॥

१. देव विलास (५ । १७)

२. वही (८ वीं ढाल से पूर्व, दूहा २)

३. उत्तमविजय निर्वाण रास

४. देवचन्द्र स्तुति (१-७), श्रीमद् देवचन्द्र, भाग २, पृष्ठ १ ।

भारतजैनसंघे यः, प्रादुर्भूतो महामुनिः ।
 मोहतमोविनाशेन, देवचन्द्रो हि भास्करः ।
 शीतलः सर्वलोकानामान्तर शान्तिकारकः ।
 क्षमा पृथ्वी-समा यस्य, गाभीर्यं सागरोपमम् ॥
 धैर्यं मेरुसमं यस्य, गंगावन्निर्मलं मनः ।
 तस्मै श्रीदेवचन्द्राय, पूर्णप्रीत्या नमो नमः ।
 सर्वगच्छेषु माध्यस्थ्यं यस्य सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
 तस्मै श्रीदेवचन्द्राय, पूर्णप्रीत्या नमो नमः ।
 तपागच्छोय साधुभिः, सार्धं मन्त्री प्रवर्तकः ।
 आदर्शो देवचन्द्रोऽभूत्, सार्वसाधुशिरोमणिः ॥^१

समाधि-मरण :—

कवियण के अनुसार वि. सं. १८१२ में उपाध्याय देवचन्द्र का चातु-
 र्मासिक प्रवास अहमदाबाद में था। यह उनका अन्तिम चातुर्मास था। चातु-
 र्मासिक काल में ही वे व्याधि ग्रस्त हो गये। उन पर वायु का प्रकोप अधिक
 हो गया था। पर उस आत्म-साधक तत्त्वचित्तक मनीषी ने तन में महत् व्याधि
 होते हुए भी मन में परम समाधि को संजोए रखा। जीवन की अन्तिम सांस
 तक उन्होंने प्रशान्त भाव से परमात्मध्यान पूर्वक अन्तरात्मा में आरोहण
 किये रखा। वि. सं. १८१२ भाद्रपद अमावस्या की तमसावृत रजनी बेल
 में अपने चैतन्य ज्योति को ऊर्ध्वलोक की ओर यात्राशील बना लिया।
 उनका समाधि मरण हुआ। मृत्यु शाश्वत है, इसे टाला नहीं जा सकता।
 देवचन्द्र ने जितना उज्ज्वल और ज्योतिमय जीवन व्यतीत किया उसे
 विश्व द्वारा कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनको देह छूट गई, पर
 अन्तरज्योति ने भूमा रूप वरण कर लिया।

उन्होंने मृत्यु से पूर्व ज्ञान, भक्ति और कर्म के द्वारा त्रिवेणी संगम में
 जीवनभर आत्म प्रक्षालन किया। उनका ज्ञान-गाम्भीर्य, भक्ति-प्रवणता,
 आत्मवत् सर्वभूतेषु की अवधारणा से अभिभूतता, साम्प्रदायिक औदार्य,
 आचारसुनिष्ठा, निजानन्दरसलीनता और साहित्य सेवा उनके जीवन को
 अमरता की छाँह प्रदान करती है।

देवचन्द्र के देहावसान के उपरान्त उनके चरण-प्रतीक अहमदाबाद में हरिपुर में स्थित जैन-उपाश्रय में प्रतिष्ठापित किये गये। मैंने स्वयं उस चरण-प्रतीक के दर्शन किये हैं एवं उसके चित्र को देवचन्द्र की ही एक पुस्तक “विचार रत्नसार” में प्रकाशित करवाया है। चरण-प्रतीक पर निम्न शिलालेख उत्कीर्ण है—

श्रीजिनचन्द्रसूरिशाखायां खरतरगच्छे संवत् १८१२ वर्षे माह वदी ६ दिने उपाध्याय श्रीदीपचन्द्रजी शिष्य उपाध्याय श्री देवचन्द्रजीनां पादुके प्रतिष्ठिते ।

यद्यपि देवविलास के अनुसार देवचन्द्र के अन्त्येष्टि स्थान पर एक स्तूप निर्मित किया गया, पर अभी तक उस स्तूप के अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं।

शिष्य-परिवार :—

उपाध्याय देवचन्द्र का शिष्य-परिवार बहुत विस्तृत तो नहीं था, किन्तु ज्ञानगुण समृद्ध था। उनके एक प्रमुख शिष्य का नाम मनरूप मुनि था। वे सुविनीत, व्यवहारकुशल एवं पंडित थे। विजयचन्द्र नामक शिष्य तो काफी प्रतिभावान् था। विजयचन्द्र एक प्रबलवादी, बुद्धिजीवी और तर्कवादी था। उसने अनेकशः विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। वक्तुजी और रायचन्द्र नामक दो शिष्यों का गुरु भक्तों और सेवाकर्त्ताओं के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है।^१ देवचन्द्र के शिष्य-परिवार की इससे अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

साहित्य

उपाध्याय देवचन्द्र का जीवन-वृत्त जितना प्रभावशाली रहा, उनका साहित्य भी उससे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। उनका साहित्य उनके जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। वे परम उच्च कोटि के विद्वान् थे। उन्होंने सभी शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। जहां वे उच्च कोटि के शास्त्र पारंगत विद्वान् थे, वहीं वे बहुआयामी, बहुमुखी प्रांतभा सम्पन्न साहित्य-सृष्टा भी थे। उन्होंने जैन दर्शन सम्बद्ध गूढ़ विषयों को अपनी

प्रतिभा से गद्य-पद्य के कलेवर में साधारण जनभोग्य बनाया। सरल और सुबोध भाषा में गूढ़ और दुरूह विषयों का भी इस तरह सरलीकरण किया कि साधारण व्यक्ति की पहुंच के परे कुछ नहीं रह गया। मधुर, भावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी गीतों एवं रचनाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी अध्यात्म साहित्य को समृद्ध एवं लोकप्रिय बनाया है। आत्मनिष्ठा एवं तत्त्व-मीमांसा से अनुगूजित हैं उनकी रचनाएं। अपने क्षेत्र में उनका प्रयास अद्वितीय और बेजोड़ रहा। आज तक अन्य किसी साहित्यकार ने हिन्दी भाषा (प्राचीन) में जैन दार्शनिक बातों को इतने व्यापक एवं सरल रूप में गेयात्मक नहीं बनाया। उनका भक्ति-साहित्य जैन दर्शन की मान्यताओं के अनुकूल है। उसमें ईश्वरवादी भक्ति-परम्परा का सर्वथा अभाव है। अतः उनका साहित्य पूर्णतः जैन दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है।

देवचन्द्र गद्य एवं पद्य दोनों में सिद्धहस्त थे। उनकी रचनाओं में गम्भीर एवं प्रेरणादायी भावों के अतिरिक्त सशक्त एवं परिपक्व शैली के दर्शन होते हैं। उन्होंने सरल से सरलतर विषय को भी अध्यात्म सम्पृक्त बनाने का प्रयास किया है। “चौवीसी” जैसी भक्तिपरक रचना को गहन तात्त्विक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों से सराबोर करना इसका एक उदाहरण है। भाषा का भावों के अनुरूप होना उनकी विशेषता है। उनका साहित्य लेखन मुख्यतः संस्कृत एवं हिन्दी (प्राचीन) में हुआ है।

उपाध्याय देवचन्द्र द्वारा रचित कृतियों की संख्या विस्तृत है। उनकी हस्तलिखित पाण्डुलिपियां भारत के विभिन्न जैन ज्ञान भण्डारों में उपलब्ध हैं। श्री जैसलमेर ज्ञान भण्डार, जैसलमेर, श्री अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, श्री जिनदत्तसूर ज्ञान भण्डार, सूरत, श्री जिनकुशलसूर ज्ञान भण्डार, बनारस, श्री लीम्बडी ज्ञान भण्डार, लीम्बडी, श्री एल० डी० इंस्टीट्यूट, अहमदाबाद, श्री पूरणचन्द नाहर संग्रहालय, कलकत्ता आदि ज्ञान भण्डारों में उनकी अनेक कृतियों के उपलब्ध होने की सूचना साहित्य जगत को प्राप्त है। अनेक प्रकाशकों एवं विद्वानों ने उनकी अनेक कृतियों को प्रकाशित और सम्पादित किया है। अब तक उनकी जिन कृतियों का पता लगा है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

गद्य साहित्य

१. आगमसार	२. नयनचक्रसार
३. विचार-सार-टीका	४. विचाररत्नसार
५. छूटक प्रश्नोत्तर	६. ज्ञानमंजरी
७. कर्मग्रंथ-स्तवक	८. गुरुगुणषट्त्रिंशिका
९. चौबीसी-बालावबोध	१०. बाहुजिन स्तवन स्तवक
११. अध्यात्म प्रबोध	१२. अध्यात्मशान्तरस वर्णन
१३. तत्त्वावबोध	१४. दण्डक बालावबोध
१५. कुम्भस्थापना भाषा	१६. सप्तस्मरण स्तवक
१७. देशनासार	१८. तीन पत्र

पद्य साहित्य

१. अध्यात्म-गीता	२. ध्यानदीपिका चतुष्पदी
३. द्रव्यप्रकाश	४. स्नात्र-पूजा
५. नवपदपूजा	६. कर्म संवेद्य
७. चौबीसी	८. अतीत चौबीसी
९. विहरमान जिन बीसी	१०. वीर-निर्वाण
११. अष्ट प्रवचन माता	१२. पंच भावना
१३. गजसुकुमाल सज्भाय	१४. प्रभंजना सज्भाय
१५. साधुपद स्वाध्याय	१६. उदयस्वामित्व पंचाशिका
१७. रत्नाकर पञ्चीसी	१८. ध्यानचतुष्टय विचार गर्भित
भावानुवाद	शीतञ्ज जिन स्तवन
१९. अनाथी निर्ग्रन्थ सज्भाय	२०. ढंढण ऋषि सज्भाय
२१. दाविड़ वारिखिल्ल सज्भाय	२२. द्वादशांग चौदह पूर्व
२३. विवेक परिवार	२४. १११ फुटकर गीत भक्तिपरक
	एवं उपदेशपरक

यहां हम उनके सम्पूर्ण कृतित्व का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत न करके मात्र श्री देवचन्द्र "चौबीसी" (बालावबोध सहित) का ही अनुशीलनात्मक अध्ययन आकलित करने का प्रयास करेंगे।

श्री देवचन्द्र चौवीसी : एक समीक्षात्मक परिशीलन

प्रस्तुत चौवीसी का रचना काल अनुलिखित है। इस चौवीसी पर अधुना पर्यन्त किये गये शोध कार्य में किसी विद्वान ने इसका रचना काल नहीं बताया है। अतः मैंने विविध ज्ञान भण्डारों/पुस्तकालयों से इस सन्दर्भ में सम्पर्क किया। इस कृति की हस्तलिखित पाण्डुलिपियां लीम्बडी ज्ञान भण्डार, लीम्बडी, जैसलमेर ज्ञान भण्डार, जैसलमेर, रामघाट मन्दिर ज्ञान भण्डार, बनारस, अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर आदि अनेक प्राचीन ग्रंथ-संग्रहालयों में उपलब्ध हैं। इनमें लीम्बडी ज्ञान मन्दिर के २०६२ वें क्रमांक पर १३३ प्राचीन पत्रों में यह कृति बालावबोध सहित लिखित है। उस कृति के अन्तिम पत्र में उसका लेखन काल स० १७८८ अंकित है। तदनुसार यह निश्चित है चौवीसी बालावबोध का रचना काल यही है। इसकी रचना कवि ने लगभग ५३ वर्ष की आयु में की थी। यह भी सम्भव है कि कवि ने चौवीसी की रचना पहले कर ली हो और अर्थ-बोध एवं भाव-स्पष्टीकरण के लिए बाद में बालावबोध लिखा हो, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि यह अठारहवीं शदी के उत्तरार्ध में रचित है। रचना-स्थल न तो चौवीसी का ज्ञात हो पाया है और न ही बालावबोध का।

प्रस्तुत चौवीसी का प्रकाशन-कार्य अनेक अध्यात्म-प्रेमियों द्वारा हुआ है जिनमें श्रावक श्री भीमसिंह माणक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने सं. १९६७ में इस चौवीसी का बालावबोध सहित प्रकाशन किया। श्री उमरावचन्द्र जरगड़ ने चौवीसी का हिन्दी भावानुवाद एवं संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया था। चौवीसी के दो गुजराती अनुवाद भी मैंने परिदृष्ट किये हैं। गत वर्ष मैंने भी चौवीसी का व्याख्यात्मक अनुवाद किया था, जिसे मूर्तरूप दे रही है श्री जिनदत्तसूरि सेवा संघ, कलकत्ता अपने मुख-पत्र कुशलनिर्देश के मासिक अंकों में। विविध प्रयास होने के बाद यह आवश्यकता बनी रही कि चौवीसी में निहित भावों का स्पष्टीकरण यदि स्वयं चौवीसीकार द्वारा ही प्रस्तुत हो तो लक्ष्याभिमुख बोध प्राप्त करने में असुविधा न हो। प्रसन्नता है, प्राकृत भारती अकादमी इस आवश्यकता को पूर्ण करने जा रही है। वह इस चौवीसी का कवि द्वारा लिखित बालावबोध हिन्दी रूपान्तरण (रूपान्तरकर्तृ : प्रवर्तिनी

साध्वी श्री सज्जनश्री) प्रकाशित कर रही है। अकादमी का यह प्रस्तुतीकरण स्वागत योग्य है।

श्री देवचन्द्र चौवीसी एवं उसकी व्याख्यात्मक रूपान्तरित छवि मेरे समक्ष है। मैं इसकी सूक्ष्मता, विद्वत्ता एवं प्रभावकता से शब्दशः परिचित हूँ। इसका आद्यन्त गहन अध्ययन करने के बाद यह सहजतः कहा जा सकता है कि जिन-परम्परागत भक्ति-साहित्य में प्रस्तुत कृति का स्थान शाश्वत है।

प्रस्तुत कृति देवचन्द्र की वह कृति है, जो कहने में भक्ति काव्य है, किन्तु उन्होंने स्तुतिपरक गीतों में जिस ढंग से दार्शनिक तथ्यों को अनुस्यूत किया है, वह अद्वितीय है। गीतों के माध्यम से दर्शन को प्रस्तुत कर दार्शनिक बोध की दुरुहता को न्यूनतर करने का उनका यह प्रयास निश्चयतः प्रशंसनीय है। उनका यह प्रस्तुतीकरण न केवल आगमिक एवं शास्त्रीय है, अपितु स्वयं अनुभूतियों का अभिव्यक्तिकरण भी है। यह कृति उनके अपने हृदय के दार्शनिक भावों का तर्क और आगमसम्मत मौलिक तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुतीकरण है।

सचमुच, देवचन्द्र ने प्रस्तुत चौवीसी के माध्यम में भक्ति और दर्शन का अद्भुत समन्वय किया है। दर्शन मस्तिष्क की उपज है और भक्ति हृदय की। देवचन्द्र ने इस कृति में मस्तिष्क और हृदय दोनों का संगम किया है और भक्तिभावों में तत्त्वदर्शन के बीजों का समारोपण कर एक नवीन तथ्य को उजागर किया है।

“श्री देवचन्द्र चौवीसी” के भाव इतने गहन हैं कि यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए शीघ्र बोधगम्य नहीं हैं। इसे समझने में वे लोग भी कभी-कभी पथच्युत हो जाते हैं, जो कुछ समझदारी रखते हैं। इसे तो वे ही भलीभांति समझ सकते हैं, जो तत्त्व-जिज्ञासु हैं, या बुद्धि-जीवी हैं।

प्रस्तुत कृति का प्रतिपाद्य विषय लोकप्रचलित लयों/तर्जों में चौवीस तीर्थंकरों के चरणों में भक्ति-प्रधान और श्रद्धाभिभूत सुमन अर्पित करना है। इन चौवीस गीतों, स्तवनों में दो चार गीतों को छोड़कर सभी गीतों में दार्शनिक तथ्यों की अभिव्यक्ति है। कवि के अनुसार तीर्थंकरों/आदर्श-पुरुषों के दिखाये गये मार्ग पर चलना ही उनकी यथार्थ भक्ति है। जो

साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र्य आदि साधनों को अपनाता है, वह वास्तव में जिनेन्द्र की सच्ची सेवा करता है। उनके अनुसार निज में जिनत्व की शोध करना, आत्म-साक्षात्कार करना, सिद्धत्व की प्राप्ति करना, यही तीर्थंकरों की भक्ति एवं अवलम्बन का मुख्य हेतु है।

चौवीसी में दार्शनिक तथ्यों का विवेचन करते हुए उन्होंने मुख्यतः प्रमाण, नय, तत्त्व, स्याद्वाद, निक्षेप, त्रिपदी आदि सिद्धान्तों का भी वर्णन-विवेचन किया है। समवसरण आदि त्रिशिष्ट जैन पारिभाषिक शब्दों का भी उन्होंने विवेचनात्मक प्रयोग किया है। न्याय एवं व्याकरण से सम्बद्ध विषयों का तो इस कृति में अत्यन्त गहन विश्लेषण हुआ है। कवि ने योग-साधना सम्बन्धी विषयों का भी यथास्थान प्रतिपादन करके अपनी बहुश्रुतता का परिचय दिया है। यद्यपि जैन साहित्य-जगत् में तीर्थंकर-चौवीसी पर अद्यावधि लगभग शताधिक कवियों का रचनाएं प्राप्त हैं, परन्तु उपर्युक्त बिन्दुओं/स्तवनों को देखते हुए उनमें यह चौवीसी जनप्रियता, गम्भीरता, विषय-विस्तार, सूक्ष्म प्रतिपादन, भाषा-कौशल, छंद-चयन आदि वैशिष्ट्य के कारण भी शीर्षस्थ/सर्वोच्च/सर्वोत्कृष्ट है।

प्रस्तुत चौवीसी में जिन चौवीस स्तवनों का गुंफन हुआ है, यद्यपि उनमें आत्मतत्त्व को उद्भासित करना एकमात्र प्रमुख उद्देश्य है, फिर भी प्रत्येक स्तवन में नवीन रुचिकर विषय का प्रतिपादन किया गया है। इन में कहीं पिष्टपेषणता का बोझिलपन अनुभव नहीं होता। पाठक प्रत्येक स्तवन-में अभिनव सोपान से ऊपर चढ़ते हुए अन्त में एक ऐसी अनुभूति करता है, जैसे मानों किसी शरणप्रद तापनियन्त्रक, प्रांजल सर्वसौविध्य-सम्पन्न कक्ष में पहुंच गया हो।

प्रत्येक स्तवन में प्रासंगिक क्रमिकता है, जो आगे वाले स्तवन के वक्तव्य का बोध कराने में प्रास्ताविक सिद्ध होती है। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रत्येक स्तवन उत्तरोत्तर गहरे जल में पैठने की शिक्षा देता है और अन्त में उस उपलब्धव्य मुक्ता की प्राप्ति कराने में सहायक होता है। अन्त में, वह उस गहराई तक पहुंचता है, जहां अमूल्य मुक्ता की चमक से सारा प्रदेश उद्भासित है। पाठक/साधक फलतः अव्याबाध, अक्षय, अविनाशी आनन्द का अनुभव करता है।

कृति में चौबीस स्तवनों का प्रतिपाद्य विषय संक्षेप में इस प्रकार है—
पहले स्तवन में परमात्मा-प्रभु से प्रीति करने की पद्धति निदर्शित है।

दूसरे स्तवन में प्रभु-शक्ति के विशद वर्णन के साथ कार्य-कारण भाव की साधना विवेचित है।

तीसरे स्तवन में प्रभु-सेवा की पुष्ट अवलम्बनता का निर्देशन है।

चौथे स्तवन में यह तथ्य स्पष्ट किया है कि कोई भी द्रव्य किसी से नहीं मिलता है, किन्तु प्रभु-सेवा के साधक निश्चय नय के दृष्टिकोण से तद्रूपता को प्राप्त करता है।

पाँचवें स्तवन में यह बताने का प्रयास किया गया है कि आराध्यदेव का शुद्ध स्वरूप समझकर उसका ध्यान करना ही मोक्ष-प्राप्ति का उत्तम राज मार्ग है।

छठे स्तवन में परमात्म-स्वरूप की चर्चा करते हुए आत्मशुद्धिहित उनकी निमित्त कारणता बतायी है।

सातवें स्तवन में परमात्मा के अक्षय, अव्याबाध आदि गुणों का वर्णन है।

आठवें स्तवन में नय-दृष्टि से परमात्म-सेवा करने का विवेचन किया गया है।

नौवें स्तवन का प्रतिपाद्य विषय यह है कि अपने में शुद्ध आत्मगुणों को प्रगट करने के लिए प्रभु के अनन्त गुणों का स्मरण करना आवश्यक है।

दसवें स्तवन में साधक के लिये यह आवश्यक कहा गया है कि वह अपने में आत्म-गुणों को प्रगट करने के लिए प्रभु से उत्कट याचना करे।

ग्यारहवें स्तवन में यह बताया गया है कि प्रभु के प्रकट तत्त्व के ध्यान से सुप्त आत्म-तत्त्व का भान होता है।

बारहवें स्तवन में द्रव्य-पूजा तथा भावपूजा की व्याख्या की गयी है।

तेरहवें स्तवन में यह निर्दिष्ट है कि स्थिरचित्त से प्रभु की प्रभुता का सेवन-चिन्तन करना निज प्रभुता एवं सिद्धता को प्रगट करने का साधन है ।

चौदहवें स्तवन में भगवद्नाम का जप और प्रतिमा का दर्शन उनके आदर्श गुणों को प्राप्त करने का प्रमुख उपाय कहा गया है ।

पन्द्रहवें स्तवन में जीव का स्वभाव प्ररूपित कर अन्तर् मन्दिर में प्रभु का ध्यान करने का विधान किया गया है ।

सोलहवें स्तवन में समवसरण/सभामण्डप का निर्देशन करते हुए षड् नयों के द्वारा जिनप्रतिमा को जिनवन् सिद्ध किया गया है ।

सतरहवें स्तवन में भगवान की समवसरण अवस्था की विशेषताओं का वर्णन है ।

अठारहवें स्तवन में चार प्रकार के कारणों का प्ररूपण करते हुए परमात्म-अवलम्बन का निर्देश है ।

उन्नीसवें स्तवन में षट् कारकों की बाधकता, साधकता और शुद्धता कहकर परमात्म सेवा करना विहित बताया है ।

बीसवें स्तवन में पुण्यपुष्ट निमित्त का स्वरूप और छः कारकों का स्वरूप बताते हुए तीर्थंकर भगवान की पूजा करना उपदिष्ट है ।

इक्कीसवें स्तवन में प्रभु-कृपा तथा प्रभु-सेवा पर जोर दिया गया है ।

बाईसवें स्तवन में राजीमती-पात्र के द्वारा अप्रशस्त राग को जीतकर बीतरागता की उपलब्धि का मार्ग दिखाया है ।

तेईसवें स्तवन में परमात्मा में परिणति तथा प्रवृत्ति की एकरूपता प्ररूपित कर शुद्धता, एकता तथा तीक्ष्णता का परिचय दिया है ।

चौबीसवें स्तवन में स्वयं के उद्धार की परमात्मा से भावाभिभूत प्रार्थना की गई है ।

पचीसवें स्तवन/कलश में चौबीसी का उपसंहार करते हुए कवि ने अपनी गुरु-परम्परा का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है ।

प्रस्तुत कृति मरु-गुर्जरभाषा में रचित है। यद्यपि देवचन्द्र राजस्थान निवासी थे, किन्तु गुर्जर-प्रदेश में विचरण करने के कारण उनकी भाषा पर गुजराती का अधिक प्रभाव है। कृति में राजस्थानी एवं गुजराती दोनों भाषाओं का सम्मिश्रित रूप प्रयुक्त होने के कारण इसकी भाषा को मरु-गुर्जर भाषा कहना ही समीचीन है। कवि ने प्रायः संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया है। प्राकृत एवं देशज शब्दों का भी स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, कवि ने सरल एवं बोधगम्य शब्दों का ही प्रयोग किया है। विषय तो दुरुह है ही। कुल मिलाकर कवि की भाषा रमणीय, स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक है।

प्रस्तुत कृति की भाषा-शैली पद्यात्मक है। देवचन्द्र महान् कवि थे। उनका पद्य-शैली प्रौढ़ और समृद्ध है। इस रचना में कवि ने लोक प्रचलित छन्दों/तर्जों में ही गेयता को सीमित रखा है, ताकि साधारण जनता इसे अपना सके।

प्रस्तुत कृति की भाषा-शक्ति प्रबल है। इसकी काव्य-भाषा में प्रभञ्जिष्णुता, अर्थवत्ता, शक्ति-सामर्थ्य और आकर्षण है। जहाँ पर जिस शब्द की आवश्यकता है, वहाँ पर उसी शब्द का प्रयोग होना इस कृति की अर्थवत्ता का एक प्रमुख आयाम है। उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

जगतवत्सल महावीर जिनवर सुणी, चित्त प्रभु चरण ने सरण वास्यो ।
तारजो बापजो विरुद निज राखवा, दासनी सेवना रखे जोस्यो ।
(२४.६)

इस पद्य की द्वितीय पंक्ति में प्रयुक्त “बापजी” शब्द जितना फबता है, उतना उसका पर्यायवाची “पिताजी” आदि नहीं। यहां “बापजी” शब्द का प्रयोग करके भाषा में लोकजनीन रसाप्लावक लालित्य लाने का सुन्दर प्रयास हुआ है।

कवि की रचना-पद्धति तार्किक-बहुल थी। दार्शनिक विषयों के विवेचन में अतीन्द्रिय विषयों का अस्तित्व सिद्ध करना आवश्यक है। एतदर्थ लौकिक तर्कों का आश्रय लेना पड़ता है। कविवर देवचन्द्र ने भी अपने पद्यों में यथास्थान अपने मन्तव्यों को पुष्ट करने के लिए तार्किक शैली अपनाई है। यथा—

जे जे कारण जेहनुं रे, सामग्री संयोग ।
 मिलतां कारज नीपजे रे, कर्ता तणे प्रयोग ॥ (२.२)
 बीजे वृक्ष अनन्तता रे, प्रसरे भूजल-योग ।
 तिम मुभ्र आतम-सम्पदा रे, प्रगटे प्रभु संयोग ॥ (६.३)

देवचन्द्र का वर्णन-कौशल भी उल्लेखनीय है। यद्यपि चौबीसी में वस्तु-वर्णन अधिक नहीं है, तथापि जो प्रसंग उपलब्ध हैं, उनसे उनके वर्णन-कौशल का सहज परिचय प्राप्त हो जाता है। नीचे हम एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें अलंकारों का सफल प्रयोग भी अवलोक्य है। कवि भाषा की चमत्कृति तथा अर्थवैशिष्ट्य के लिए ही इस तरह का प्रयोग करते हैं। कवि ने निम्नोक्त उदाहरण में रूपक, उपमा आदि अलंकारों का इस प्रकार प्रयोग किया है कि, दुरूह दार्शनिक विषय भी पाठक एवं श्रोता के हृदय पर सहज स्पष्ट हो जाता है। कवि ने निम्न शब्दों में अपना प्राकृतिक वर्णन कौशल निदर्शित किया है—

श्री नमि जिनवर सेव, घनाघन ऊनम्यो रे ।
 दीठां मिथ्या रौरव, भविक चित्त थी गम्यो रे ॥
 शुचि आचरणा रीति, ते अभ्र बधे वडा रे ।
 आतम परिणति शुद्ध, ते बीज भबूकडा रे ॥
 बाजे वायु सुवायु, ते पावन भावना रे ।
 इन्द्रधनुष त्रिक योग, ते भक्ति एकमना रे ॥
 निर्मल प्रभु-स्तव घोष, ध्वनि घन गर्जना रे ।
 तृष्णा ग्रीष्मकाल, तापनी तर्जना रे ॥
 शुभ लेश्या नी आलि, ते बग पंक्ति बनी रे ।
 श्रेणि सरोवर हंस, वसे शुचि गुण मुनि रे ॥
 चौगति मारग बंध, भविक निज घर रह्या रे ।
 चेतन समता-संग, रग में ऊमह्या रे ॥
 सम्यग्दृष्टि मोर, तिहां हरखे घणुं रे ।
 देखी अद्भुत रूप, परम जिनवर तणुं रे ॥
 प्रभु गुणनो उपदेश, ते जलधारा वही रे ।
 धर्म-रुचि चित्त भूमि, मांहे निश्चल रही रे ॥

चातक श्रमण-समूह, करे तब पारणो रे ॥
 अनुभव रस आस्वाद, सकल दुःख वारणो रे ।
 अशुभाचार-निवारण, तृण अंकरता रे ।
 विरति तणा परिणाम, ते बीजनी पूरता रे ॥
 पंच महाव्रत धान्य, तणां कर्षण बध्या रे ।
 साध्यभाव निज थापी, साधनतायें सध्या रे ॥
 क्षायिक दरिसण ज्ञान, चरण गुण ऊपन्या रे ।
 आदिक बहुगुण-सस्य, आतम घर नीपन्या रें ॥
 प्रभु दरिसण महामेह, तणे प्रवेश में रे ।
 परमानन्द सुभिक्ष, थयो मुभ देश में रे ॥ (२१.१-७)

उपर्युक्त पद्यों में सांगरूपक अलंकार का कमनीय प्रयोग भक्त-कवि देवचन्द्र की काव्यात्मक प्रतिभा का उत्कृष्ट उदाहरण है ।

कवि इस कृति में दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन करते समय भी साहित्यिक तत्त्वों का जमकर उपयोग करते हैं । कृति का मुख्य रस भक्तिरस/शान्तरस है । इसके पठन एवं श्रवण से चित्त में गहरे निर्वेद को अमिट छाप पड़ जाती है । यों तो सम्पूर्ण कृति शान्तरस-प्रधान है, किन्तु उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

कागल पण प्होंचे नहीं, नवि प्होंचे हो तिहाँ को परधान ।

जे प्होंचे ते तुम समो, नवि भाखे हो कोई नुं व्यवधान ॥ (१.२)

कृति में विविध अलंकारों का भी व्यवहार हुआ है, जिससे चौबीसी के सौन्दर्य में अभिवृद्धि हुई है । व्यवहृत अलंकार कृति को प्रभावशाली एवं रोचक बनाने में पूर्णतया शक्य हुए हैं । सचमुच, देवचन्द्र ने अपनी कवित्व शक्ति का प्रकट अध्यात्म क्षेत्र में भी चमत्कारपूर्ण रूप में मनोरम उपयोग किया है । उन्होंने शब्दालंकार एवं अर्थालंकार-उभयविध अलंकारों का यथास्थान प्रयोग करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि करुणा एवं शृंगार की तरह दर्शन का क्षेत्र भी साहित्य-रसिकों के लिए हृदय-स्पर्शी तथा भाव-विभोर करने वाला है । प्रयुक्त अलंकारों में वृत्त्यानुप्रास, बहुविध उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, स्वाभावोक्ति, अतिशयोक्ति, उदाहरण, विरोधाभास, व्याजस्तुति आदि अलंकारों का शब्द-चित्रण दर्शनीय है—

उपमा अलंकार—

श्री सभव जिनराजजी रे, ताहरू अकल स्वरूप ।
स्वपर-प्रकाशक दिनमणि रे, समता रस नो भूप ॥ (३.१)

लुप्तोपमा अलंकार—

प्रणमो श्री अरनाथ, शिवपुर साथ खरो ॥
त्रिभुवन जन-आधार, भव निस्तार करो ॥ (१८.१)
राग-द्वेषे भयौ मोह वैरी नड्यो,
लोकनी रीतमां घणुं ए रातो ।
क्रोधवश धमधम्यो शुद्ध गुण नवि रम्यो,
भम्यो भवमाहे हुं विषय मातो ॥ (२४.२)

मालोपमा अलंकार—

तिणे निर्यामक माहणो रे, वैद्य गोप आधार ।
देवचन्द्र सुखसागर रे, भाव-धर्म दातार ॥ (२.१०)

दृष्टान्त अलंकार—

अज-कुलगत केसरी लहे रे, निज पद सिंह निहाल ।
तिम प्रभु भवते भवि लहे रे, आतमशक्ति संभाल ॥ (२.४)
जिम जिनवर आलम्बने, बधे सधे एक तान ।
तिम-तिम आत्मा लम्बनी, ग्रहे स्वरूप निदान ॥ (४.७)

तहवि सत्तागुणे जीव ए निर्मलो,
अन्य संश्लेष जिम फटिक नवि सांभलो ।
जे परोपाधि थी पुष्ट परिणति ग्रही,
भाव तादात्म्य माहरूं ते नहीं ॥ (१५.७)

प्रातिहारिज अतिशय शोभा, ते तो कहिय न जावे रे ।
घूक बालक थी रविकर भरनु, वर्णन केणी परे थावे रे ॥ (१६.२)
दंड दंड निमित्त अपुष्ट घड़ा तणो रे, नवि घटता तसु मांह ।
साधक साधक प्रध्वंसकता अछे रे, तिणे नहीं नियत प्रवाह ॥ (२०.४)

उत्प्रेक्षा अलंकार—

भविकजन हरखो रे, निरखी शांति जिणंद ।
उपशम-रस नो कन्दो रे, नहीं इण सारिखो ॥ (१६.१)

रूपक अलंकार—

उपादान आतम सही रे, पुष्टालंबन देव ।
उपादान कारण पण रे, प्रगट करे प्रभु सेव ॥ (३.३)

भवदव हो प्रभु भवदव तापित जीव,
तेहने हो प्रभु तेहने अमृत घन समी जी ।
मिथ्या विष हो प्रभु मिथ्या विष नो खीव,
हरवा हो प्रभु हरवा जांगुली मन रमी जी ॥

भाव हो प्रभु भाव चिन्तामणि एह,
आतम हो प्रभु आतम संपत्ति आपवाजी ।
एहिज हो प्रभु एहिज शिवसुख गेह,
तत्त्व हो प्रभु तत्त्वालम्बन थापवा जी ॥ (१४.२-३)

संग परिहार थी स्वामी निजपद लह्युं,
शुद्ध आत्मिक आनन्दपद संग्रह्युं ।
जहवि परभाव थी हूं भवोदधि वस्यो,
परतणो संग संसारतायें ग्रस्यो ॥ (१५.६)

सहज गुण आगरो स्वामी सुखसागरो,
ज्ञान वयरागरो प्रभु सवायो ।
शुद्धता एकता तीक्ष्णता भाव थी,
मोह रिपु जीति जय पडह वायो ॥ (२३.१)

सांगरूपक अलंकार—

द्रष्टव्य है इक्कीसवाँ स्तवन, जो आद्यन्त सांगरूपक से अलंकृत है ।

स्वभावोक्ति अलंकार—

एक वार प्रभु वन्दना रे, आगम रीते थाय ।
कारण सत्ये कार्यनी रे, सिद्धि प्रतीत कराय ।

प्रभुपणे प्रभु ओलखी रे, अमल विमल गुण गेह ।
 साध्य दृष्टि साधक पणे रे, वंदे धन्य नर तेह ॥
 जन्म कृतारथ तेहनो रे, दिवस सफल पण तास ।
 जगत शरण जिन चरणने रे, वंदे धरीय उल्लास ॥ (३.५-७)

उदाहरण अलंकार—

लोह-धातु कांचन हुवे, पारस फरसन पामि रे ।
 प्रगटे अध्यातम दशा, व्यक्त गुणी गुणग्राम रे ॥ (६.६)
 मोटाने उत्संग, बँठाने शी चिन्ता ।
 तिम प्रभु-चरण पयास, सेवक थया निचिन्ता ॥ (१८.१४)

विरोधाभास अलंकार—

संरक्षण विण नाथ छो, द्रव्य बिना धनवन्त ।
 कर्ता पद किरिया बिना, सन्त अजेय अनन्त ॥ (७.२)

अतिशयोक्ति अलंकार—

चरन जलधि जल मिणे अंजनि, गति जीपे अतिवाय जी ।
 सर्व आकाश उलंघे चरणे, पण प्रभुता न गणाय जी ॥ (१०.२)

व्याज स्तुति अलंकार—

सयल पुढवी गिरि जल तरुजी, कोई तोले एक हृत्थ ।
 तेह पण तुभ गुण-गण भणी जी, भाखवा नहीं समरत्थ ॥ (१३.२)

प्रस्तुत चौवीसी “गुण” के दृष्टिकोण से भी उत्तम है। लोक भाषा प्रधान होने के कारण इसमें माधुर्य गुण का होना स्वाभाविक है। कवि का प्रयास रचना को प्रसाद-गुण से युक्त करना रहा है। कृति में वीर, बीभत्स और रौद्र रस का समावेश न होने के कारण ओज-गुण का सर्वथा अभाव रहा है। माधुर्य-व्यंजक वर्णों के प्रयोग से और दीर्घ समासों के अभाव में कवि की यह रचना प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक ही बन गई है। चौवीसी के प्रथम स्तवन का प्रथम पद ही देखिये माधुर्य गुण कितना व्यंजक है—

ऋषभ जिणंद सुं प्रीतड़ी, किम कीजे हो कहो चतुर विचार ।
 प्रभुजी जइ अळगा बस्या, तिहां किणे नवि हो को वचन उचार । (१.१)

इसी तरह अवलोकनीय है प्रसाद गुणाभिभूत पक्तियाँ—

जन्म कृतारथ तेह नो रे, दिवस सफल पण तास ।

जगत शरण जिन चरण ने रे, वंदे धरीय उल्लास ॥ (३.७)

प्रस्तुत कृति के सभी गीत पद्यबद्ध गेय हैं। कवि ने शास्त्रीय नियम-बद्धमार्गी छन्दों को न अपनाकर लोक प्रचलित देशी रागों को ही अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। कवि ने मुख्यतः राजस्थानी एवं गुजराती देशियों को प्रयुक्त किया है। विस्तार-भय से सभी देशियों के उदाहरण न देकर मात्र व्यवहृत देशियों का क्रमशः उल्लेख किया जा रहा है।

निद्राडी वेरण हूइ रही ।

देखो गति देवनी रे ।

धण रा ढोला....

ब्रह्मचर्य पद पूजीये....

कडखा की....

हुं तुज आगळ शी कहं केशरिया लाल....

हो सुन्दर तप सरिखो जग को नहीं....

श्री श्रेयांस जिन अन्तरजामी ।

थारा महेलां ऊपर मेह भबुके बीजली हो लाल....

आदर जीव क्षमागुण आदर....

प्राणी वाणी जिन तणी, तुमें धारो चित्त मभार रे....

पथडो निहाळुं रे बीजा जिन तणो रे....

दास अरदास सी परे करे जी....

दीठी हो प्रभु दीठी जग गुरु तुज्झ....

सफल संसार अवतार ए हुं गणु....

आंखड़िये मैं आज सेत्रुंजो दीठो रे....

चरम जिनेसरू....

रामचन्द्र के बाग में चंपो मोरी रह्यो री....

देखी कामिनी दोग के, कामे व्यापियो रे....

ओलंगडी ओलंगडी सुहेली हो, श्री श्रेयांस नी रे....

पीछोला री पाल, ऊभा दोग राजवी रे....

पद्मप्रभ जिन जइ अलगा वस्या....

कडखा नी....

कलस-बोलवानी देशी मां....

इन देशियों से हमें यह भी बोध होता है कि कवि के समय में किस शैली की देशी-रागें प्रचलित थीं। प्रस्तुत कृति की गेयता में पूर्णतः प्रवाह-शीलता है।

देवचन्द्र को कुछेक सूक्तियाँ लिखने में अच्छी सफलता मिली है। ये सूक्तियाँ प्रायः नीतिमूलक, धर्ममूलक और दर्शनमूलक हैं। इन सूक्तियों से चौबीसी के गीत-सौष्ठव तथा गाम्भीर्य गुणाभिप्रेत हुए हैं। यहाँ उनकी कतिपय मार्मिक सूक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

प्रभुजी ने अवलम्बतां, निज प्रभुता प्रगटे गुण रास । (१.६)

जे जे कारण जेहनुं रे, सामग्री संयोग ।

मिलतां कारज नीपजे रे, करता तणे प्रयोग । (२.२)

अजकुलगत केसरी लहे रे, निज पद सिंह निहाल ॥

तिम प्रभु भक्ते भवि लहे रे, आतम शक्ति संभाल । (२.४)

कारण-पद कर्ता पणे रे, करी आरोप अभेद ।

निज पद अर्थी प्रभु थकी रे, करे अनेक उम्मेद । (२.५)

प्रभु पणे प्रभु ओलखी रे, अमल विमल गुण गेह ।

साध्य-दष्टि साधक पणे रे, वन्दे धन्य नर तेह । (३.६)

जन्म कृतारथ तेहनो रे, दिवस सफल पण तास ।

जगत शरण जिन चरण ने रे, वन्दे धरोय उल्लास । (३.७)

शुद्ध स्वरूप सनातनो, निर्मल जे निःसंग ।

आत्म-विभूति परिणम्यो, न करे ते परसंग । (४.३)

जिम जिनवर आलम्बने, बधे सधे एकतान ।

तिम तिम आत्मा लम्बनी, ग्रहे स्वरूप निदान । (४.७)

बीजे वृक्ष अनन्तता रे, प्रसरे भूजल-योग ।

तिम मुझ आतम सम्पदा रे, प्रगटे प्रभु संयोग । (६.३)

लोह-धातु कांचन हुवे, पारस फरसन पामि । (६.४)
 आतम गुण अनुभव थी मळिया, ते भव-भय थी टळिया । (८.१)

परम गुणी-सेवन तन्मयता, निश्चय ध्याने ध्यावे ।
 शुद्धातम अनुभव आस्वादि, देवचन्द्र पद पावे । (८.११)

प्रभु मुद्रा ने योग, प्रभु प्रभुता लखे,
 द्रव्य तणो साधर्म्य, स्वसंपत्ति ओलखे ।
 ओळखतां बहुमान, सहित रुचि पण बधे,
 रुचि अनुयायी वीर्य, चरण धारा सधे । (९.६)

चरम जलधि जल मिणे अंजलि, गति जीपे अतिवाय जी ।
 सर्व आकाश उलंघे चरणे, पण प्रभुता न गणाय जी । (१०.२)

प्रभु प्रभुता संभारतां, गातां करतां गुणग्राम ।
 सेवक साधनता वरे, निज संवर परिणति पाम । (११.८)
 प्रगट तत्त्वता ध्यावतां, निज तत्त्वनो ध्याता थाय ।
 तत्त्व रमण एकाग्रता, पूरणतत्त्वे एह समाय । (११.६)
 लघु नदी जिम तिम लंघीये, स्वयंभूरमण न तराय । (१३.१)

ताहरा शुद्ध स्वभाव ने, आदर धरी बहुमान ।
 तेहने तेहिज नीपजे, ए कोई अद्भुत तान । (१३.५)
 मीठी सूरत तुज्झ, दीठी रुचि बहुमान थी ।

तुज्झ गुण भासनयुक्त, सेवे तसु भव भय नथी । (१४.५)
 कर्ता कारण योग, कारज सिद्धि लहे । (१८.२)
 रागी संगे राग दशा बधे, थाये तेणे संसार ।
 नीरागी थी रागनुं जोडवुं, लहिए भवनो पार । (२२.४)

जिन सेवन थी ज्ञानता, लहे हिताहित बोधो जी ।
 अहित त्याग हित आदरे, संयम तप नो शोधो जी ।
 अभिनव कर्म अग्रहणता, जीरण कर्म अभावो जी ।
 निःकर्मी ने अबाधता, अवेदन अनाकुल भावो जी ।
 भावरोग ना विगम थी, अचल अक्षय निराबाधो जी ।
 पूर्णानन्द दशा लही, विलसे सिद्ध समाधो जी । (२५.४-६)

देवचन्द्र का कवित्व साधना से अभिभूत प्रतीत होता है। चौवीसी के कवि का उद्देश्य साधक को जैनदर्शन द्वारा समादृत सिद्धि के प्रत्येक सोपान से अवगत कराना, उन सोपानों पर उसे आरूढ़ करना और अन्त में मानव-जीवन के चरम लक्ष निर्वाण को प्राप्त करना/कराना रहा है। उनके विचारों में जिन-प्रतिमाओं का अर्चन-पूजन जिन का ही अर्चन-पूजन है तथा सिद्धि प्राप्ति में उत्कृष्ट सहायक एवं उपादेय है। निज में जिनत्व की शोध करने के लिए उन्होंने प्रतिमाओं का अवलम्बन लेना और जिनेश्वर की भक्ति करना अनिवार्य एवं आवश्यक अंग माना है। “प्रभुजी ने अवलम्बता, निज प्रभुता प्रगटे गुणरास” (१.६) “अज कुलगत केसरी लहेनि, निज पद सिंह निहाल। तिम प्रभु भक्ति भवि लहे रे, आत्मशक्ति सम्भाल” (२.४) अथवा “जिम जिनवर आलम्बने, वधे सधे एक तान। तिम तिम आत्मा लम्बनो ग्रहे स्वरूप निदान” (४.७) या “प्रभु-मुद्रा ने योग, प्रभू प्रभुता लखे” (६.६)।

भगवत्ता-प्राप्त जिनेश्वर तीर्थंकरों की स्तुति करते हुए देवचन्द्र ने स्पष्ट कर दिया है कि जिनेश्वर साधक के लिए निमित्त कारण मात्र है। “शुद्ध निमित्ती प्रभु ग्रही” (४.६) या “निमित्त हेतु जिनराज” साधक की सिद्धता प्राप्ति में उनका कोई सक्रिय पक्षपातपूर्ण अनुग्रह नहीं होता। साधक के लिये वे उस प्रकाशस्तम्भ के समान हैं जो जहाज की गति में अपना योग-दान नहीं देता, उससे जहाज-चालक को केवल शुद्ध प्रेरणामात्र प्राप्त होती है और वह अपने विवेक एवं बुद्धि के साहचर्य से अपने गंतव्य, दिक्-मार्ग एवं स्थान का निर्धारण करता है।

कहीं-कहीं भक्तिभाव के अतिशय उद्रेक में कवि ने इन स्तवनों में आत्मोद्धार के लिए ईश्वर की अनुकम्पा की याचना की है। यथा—

तार हो तार प्रभु मुज्झ सेवक मणी, जगत मां एटलुं सुजस लीजे ।
 दास अवगुण भयौं जाणी पोता तणो, दयानिधि दीन पर दया कीजे ।
 जगत्वंतल महावीर जिनवर सुणी, चित प्रभु चरण ने शरण वास्यो ।
 तारजो बापजी विरुद निज राखवा, दासनी सेवना रखे जोस्यो ।
 (२४.१-६)

देवचन्द्र भक्तिवशात् ईश्वरवाद का भले ही समर्थन कर दें। किन्तु, सिद्धान्ततः तो वे ईश्वर का राग-द्वेष मुक्त वीतराग शुद्ध, पारमात्म्य स्वरूप

ही स्वीकार करते हैं। “प्रीति करे ते रागीया, जिनवरजी हो तुमे तो वीतराग” (१.३) कवि के अनुसार साधक की साधना यही है कि वह जिनेश्वर के आदर्श गुणों को आत्मसात् करे, उन्हें अपने अन्तर-मन्दिर में प्रतिष्ठित करे; साधक द्वारा की गई परमात्म-पूजा वस्तुतः आत्म-पूजा है, निज-पूजा है। “जिनवर पूजा ते निज पूजना रे, प्रगटे अन्वय शक्ति” (१२.७)

देवचन्द्र ने ईश्वरीय गुणों का अपने इन चौबीस स्तवनों में बड़े मार्मिक ढंग से अतिशय मनोरम संकलन किया है। उन्होंने प्रभु के गुणों की अनन्तता, निर्मलता और पूर्णता को अनिर्वचनीय तथा ज्ञानगम्यमात्र बतलाया है—

शीतल जिनपति प्रभुता प्रभु नी, मुझ थी कहीय न जाय जी ।
अनंतता निर्मलता पूरणता, ज्ञान बिना न जणाय जी । (११.१)

अथवा

विमल जिन बिमलता ताहरी जी, अवर बीजे न कहाय ।
लघु नदी जिम तिम लंघीये जी, स्वयंभू रमण न तराय । (१३.१)

जैसे समुद्र-जल को अंजलि से उलीचा/मापा नहीं जा सकता है, वैसे ही ईश्वर के अपार गुणों को गिना नहीं जा सकता—

चरम जलधि जल मिणे अंजलि, गति जीये अतिवाय जी ।
सर्व आकाश उलंघे चरणे, पण प्रभुता न गणाय जी । (१०.२)

अथवा

सयल पुढवी गिरि जल तरु जी, कोई तोले एक हत्थ ।
तेह पण तुझ गुण-गण भणीजी, भाखवा नहीं समरत्थ । (१३.२)

प्रभु के अनन्त ज्ञान, दर्शन, दान, आदि सामान्य साधक के लिए अगम्य हैं—

सर्व द्रव्य प्रदेश अनंता, तेहथी गुण पर्याय जी ।
तास वर्ग थी अनंत गुणुं प्रभु, केवलज्ञान कहाय जी ।
केवल दर्शन एम अनंतु, ग्रहे सामान्य स्वभाव जी ।
स्वपर अनंत थी चरण अनंतुं, समरण संवर भाव जी ।

एम अनंत दानादिक निज गुण, वचनातीत पडूर जी ।

वासन भासन भावे दुर्लभ, प्राप्ति तो अति दूर जी । (१०.३-४,६)

उस अनन्त तक वही पहुँच सकता है, जो उसके समकक्ष है, जो उन अनन्त गुणों को प्राप्त है—“जे पहुँचे ते तुम समो” (१.२) या “तेहज एहनो जाणग भोक्ता, जो तुम सम गुण राय जो” (१०.८) फिर भी शुद्धाशय से ईश्वरीय नाम का ग्रहण, जप तथा ध्यान साधक की लक्ष्य प्राप्ति में सहायक है—

शुद्धाशय थिर प्रभु उपयोगे, जे समर तुभ नाम जी ।

अव्याबाध अनंतुं पामे, परम अमृत सुख धाम जी । (१०.६)

प्रभु प्रभुता संभारतां, गातां करतां गुण ग्राम रे ।

सेवक साधनता वर, निज संवर परिणति पाम रे ।

प्रगट तत्वतां ध्यावतां, निज तत्त्व नो ध्याता थाय रे ।

तत्त्वरमण एकाग्रता, पूरण तत्त्वे एह समाय रे । (११.८-६)

कवि के मतानुसार ईश्वरीय अर्चना का प्रधान लक्ष्य प्रभु की सकल गुण-सम्पदाओं को जान लेना है, साधक को मन में दूसरी कोई आर्काक्षा या अभिलाषा नहीं रखनी चाहिये । गीतों में अनेक स्थानों पर कवि ने इन भावों की पुष्टि की है । कवि का अभिमत है कि परमात्मा निश्चयतः वीतरागी है और प्रीति करने वाला रागी । रागी से राग करना उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना वीतराग से राग करना । वस्तुतः वीतराग से राग करना ही अलौकिक मार्ग है । रागी से राग करना तो संसार का कारण है जबकि वीतरागी से राग करना संसार से पार उतरने और एकत्वता साधने का साधन है । इसलिए प्रभु के गुणों का निर्मल राग अतिशय महिमामण्डित एवं उपकारी है । सचमुच, जनरागी महाभाग्य-शाली है—

प्रीत करे ते रागोया, जिनवर जी हो तुम तो वीतराग ।

प्रीतड़ी जेह अरागीथो, भेलववी ते हो लोकोत्तर मार्ग । (१.३)

परम पुरुष थी रागता, एकत्वता हो दाखी गुण गेहा । (१.५)

रागी संगे राग दशा बधे, थाये तेणो संसारो जी ।

नीरागी थी रे रागनुं जोडवुं, लहिए भवनों पारो जी । (२२.४)

अतिशय महिमा रे अति-उपगारता, निर्मल प्रभु गुण राग ।

सुरमणि सुरघट सुरवर तुच्छ ते रे, जिनरागी महाभाग । (१२.३)

भक्तिपरक विचारों के अतिरिक्त कवि ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, उसका सार यही है कि व्यक्ति को बाह्य जीवन से कमलवत् ऊपर उठकर आन्तरिक जीवन का दर्शन करना चाहिए । तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखते हुए तत्त्वों को जानने का प्रयास करना चाहिए । अपने कर्मों की निर्जरा करने के लिये चारित्र्य एवं तप का आलम्बन लेना चाहिए । आत्म-शुद्धि एवं आत्मपूर्णता ही उसकी सिद्धि-मुक्ति है ।

कवि ने तत्त्व—चिन्तन एवं परमात्म-स्तवन में कतिपय ऐसे तथ्यों को भी उलीचा है, जो एक मुनिवेश में क्रान्तिकारी कदम है । इसके अन्तर्गत उन्होंने साधनात्मक जीवन के अन्तरंग को उद्घाटित कर डाला है । यथा—

आदरयो आचरण, लोक उपचार थी, शास्त्र अभ्यास पण कांड कीधो ।

शुद्ध श्रद्धान, वली, आत्म अवलंब बिनु, तिहवो कार्य तेणे को न सीधो ।

(२४.३)

साधारणतः लिंग, चरित्र, और ज्ञान को प्रखरता के वशीभूत होकर लोग आस्थान्वित हो जाते हैं । किन्तु इतने मात्र से क्या आत्मपूर्णता सध पातो है ? सम्यक् दृष्टि एवं आत्म अवलम्बन के बिना सारी साधना गधे की पीठ पर चन्दन का भार संवहन करने जैसी है । कवि की ये भाव उर्मियाँ साधकों के लिए प्रेरणाप्रद हैं, जो साधना की पगडण्डी पर चलते रहने के उपरान्त सभी लक्ष्य सिद्ध नहीं कर पाये हैं ।

प्रस्तुत कृति से यह स्पष्ट है कि देवचन्द्र कट्टर आत्मवादी एवं मुक्तिवादी थे । जैन दर्शन के तत्त्वज्ञान का उन्हें गहनतम ज्ञान था । इस सारी कृति में आद्योपान्त तात्त्विक चर्चा ही मुख्यतः हुई है । इसलिये उनके तात्त्विक विचार कृति में सर्वत्र परिलक्षित होते हैं । इस कृति के द्वारा उन्होंने 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' के साथ 'ब्रह्मानन्द' को भी एक मंच पर उपस्थापित कर दिया है । इस कृति की यह सर्वोच्च विशेषता है । यद्यपि कवि ने प्रस्तुत "चौबीसी" की रचना "स्वान्तःसुखाय"

ही की थी, तथापि रचना का प्रभाव 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' के रूप में हुआ। यही कारण है कि जैन समाज में इस रचना का इतना समादर है कि यह रचना सदा-सर्वदा असंख्य जैनों के लिए कंठाभरण बनी हुई है और अगणित मुमुक्षुजन इस चौबीसी का नित्य रसास्वादन करते हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन

'श्री देवचन्द्र चौबीसी' पर कवि-विवेचित स्वोपज्ञवृत्ति/बालावबोध हिन्दी रूपान्तरण का प्रकाशन होना निश्चितः अनिवार्य था। मूल ग्रन्थ प्राचीन हिन्दी में है, जो राजस्थानी एवं गुजराती का मिश्रित रूप है। यह उसका हिन्दी अनुवाद है, जिसे प्रस्तुत किया है, साध्वी श्री सज्जनश्रीजी ने। वे एक तत्त्वचिन्तिका, और विदुषी साध्वी हैं। उन्हें जैन आगमां के गहन, अध्ययन के साथ-साथ विविध भारतीय भाषाओं का भी समुचित ज्ञान है। उनको सौम्य प्रतिभा, प्रभविष्णुता, विद्वत्ता एवं आचारनिष्ठा के कारण ही धर्म संघ ने उन्हें प्रवर्तिनी जैसा सर्वोच्च पद प्रदान किया है। उन्होंने अब तक अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद किया है। उनके अनुवादित ग्रन्थों की शृंखला में प्रस्तुत प्रयास कुल मिलाकर श्लाघनीय है। साध्वीश्री ने मूल के अनुरूप भाषा अपनायी है। रूपान्तरण मूलानुगामी है। वाक्यों के प्रवाह और उनमें जगह-जगह झलकने वाले प्राचीन हिन्दीपन से यह पता चलता है कि अनुवादिका ने शैली की मूल रंगीनी बनाए रखने का दायित्व निभाया है। रूपान्तरण में सुस्पष्टता के लिए अनुवादिका ने कहीं-कहीं अपने भाव भी समायोजित किये हैं।

सम्पूर्ण अनुवादन में सादापन है। जो साधक साधना की गोद में शैशव-जीवन बिता रहे हैं, उनके अवबोधन के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ उपादेय है। मैं आशा रखता हूं, साध्वीश्री इसी प्रकार अनुवादन-कार्य करके प्राचीन ग्रन्थों की भाषापरक दुरूहता को समाप्त कर उन्हें जनसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने का उपकार करेंगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए प्राकृत भारती अकादमी अभिनन्दनीय है। प्राकृत-भारती जैन साहित्य-प्रकाशकों में प्रमुख है। इसने

अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों को जनमुलभ करने में अदम्य उत्साह दिखाया है। जैन समाज को चाहिये कि वह ऐसी महत्वपूर्ण संस्थाओं को अधिकाधिक प्रोत्साहन एवं सहयोग दें। मैं अकादमी के चहुँमुखी विकास की कामना करता हूँ।

रक्षा-बन्धन-पर्व, सन् १९८८

सम्पर्क सूत्र :

श्री जितयशाश्री फाउण्डेशन

६-सी, एस्पलानेड रोड ईस्ट,

कलकत्ता-६९

महोपाध्याय चन्द्रप्रभासागर

देवचन्द्र चौवीसी सानुवाद

प्रस्तुति

यह संसारी जीव देवतत्त्व गुरुतत्त्व, एवं धर्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान के अभाव में अनादिकाल से संसार-चक्र में परिभ्रमण कर रहा है। शरीर, इन्द्रिय-सुख और परिग्रह को ही हितकारी मान बैठा है। स्वयं के अनन्त आनन्दमय आत्म-स्वरूप को भूल गया है और उसका कभी स्मरण ही नहीं करता; किन्तु, मनुष्य भव, संज्ञी पंचेन्द्रियत्व आदि सामग्री पाकर भी यदि आत्मा स्वयं के शुद्ध धर्म एवं शुद्ध धर्म-प्राप्ति के कारण का सेवन न करे तो स्वसंपदा कैसे प्राप्त कर सकता है? अतः परम उपकारी, जगत हितकारी श्री वीतराग प्रभु अरिहन्त देव की स्तवना, सेवना, उपासना करनी चाहिए; किन्तु राग बिना प्रभु की सेवना नहीं हो सकती, अतः आदि तीर्थंकर ऋषभदेव जी की स्तवना करते हुए श्री वीतराग के साथ प्रीति करने को रीति कहते हैं।

षोडशक की टीका में धर्म के चार आचरणों का उल्लेख किया गया है—प्रीति, भक्ति, वचन और असंग। प्रीति का लक्षण इस प्रकार है—

**“यत्रानुष्ठातुः आदरप्रयत्नातिशयोक्तिः प्रीतिश्च अभिरुचि-
रुपाहित उदयो यस्याः सा तथा भवति कर्तुः अनुष्ठातुः शेषाणां त्यागेन
च तत्काले यच्च करोति तदेकमात्रनिष्ठतया तत्प्रीत्यनुष्ठानं ज्ञेयमिति ।”**

जिस शुभाचरण के प्रति साधक के चित्त में अति आदर हो, उत्साह हो एवं उस क्रिया में पूर्ण पुरुषार्थ हो। उसकी चित्तवृत्ति अन्य प्रवृत्तियों से उदासीन होकर उस क्रिया में पूर्णतः तल्लीन हो, उसे ही प्रीति अनुष्ठान समझना चाहिए।

सांसारिक प्रवृत्तियों में प्रीति संसार-भ्रमण का कारण है; किन्तु जब वही प्रीति वीतराग प्रभु के प्रति होती है तो आत्म-उत्थान का निमित्त बनती है। अब प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव प्रभु के प्रति प्रीति की रीति का निरूपण करते हैं—

१. श्री ऋषभ जिनेन्द्र स्तवन

(तर्ज-निदङ्गली बैरण हो रही अथवा सहेल्यां हे आंबो मोरियो)

ऋषभ जिणंद सुं प्रीतड़ी
 किम कीजे हो कहो चतुर विचार ।
 प्रभुजी जइ अलगा वस्या,
 तिहां किणे नवि हो कोइ वचन उच्चार । ऋ० ॥ १ ॥

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अन्त में युगलिक जन के नेता श्री नाभि कुलकर की पत्नी मरुदेवी की कुक्षी से जन्म लेकर जिन्होंने अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक अवरुद्ध निर्वाण-मार्ग को उद्घाटित किया, ऐसे प्रभु तीर्थंकर ऋषभदेव राग-द्वेष - रहित होने से जिन कहलाते हैं तथा उपकार सम्पदा और अक्षय सम्पदा से सुशोभित हैं, अतः जिनेन्द्र कहलाते हैं । उनसे प्रीति-विलास करने का इच्छुक मोक्षाभिलाषी भव्य जीव विचार करता है कि वीतरागी भगवान के साथ किस प्रकार से प्रीति करनी चाहिए ? वीतराग से प्रीति का अनुभव मेरी आत्मा ने पहले कभी नहीं किया । अतः प्रीति करने का अभिलाषी प्रीति की रीति नहीं जानता हुआ प्रश्न करता है कि, हे चतुर ज्ञानी आचार्यादि महानुभावों ! अथवा स्वभाव से चतुर स्वयं की आत्मा से पूछता है कि प्रभु के साथ प्रीति कैसे की जाये ? निकटवर्ती व्यक्ति से तो प्रीति की जा सकती है; किन्तु प्रभु ऋषभदेव तो प्रत्येक अपेक्षा से दूर हैं । वे लोकाग्र में सिद्धशिला पर स्थित हैं और मैं संसार में हूँ । उनके आत्म-द्रव्य और मेरे आत्म-द्रव्य में भी अत्यधिक अन्तर है; मैं अशुद्ध परिणति विभाव-धर्मानुयायी पुद्गल भाव का भोगी अशुद्ध आत्म-द्रव्य हूँ और प्रभु परमात्मा तो सर्वथा शुद्ध परिणामी, निरावरण स्वभावी एवं कर्मरहित हैं तथा अनन्त अक्षय ज्ञानादि स्वगुण भोगी

हैं; अतः वे शुद्ध द्रव्य हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से मैं संसार-क्षेत्र निवासी हूँ, तथा एक भव की अपेक्षा से शरीर अवगाही हूँ और ऋषभ प्रभु तो लोकाग्र क्षेत्री हैं, अशरीरी हैं, स्वप्रदेशावगाही हैं, अतः क्षेत्र से भी मुझसे भिन्न हैं। भाव की अपेक्षा से मैं राग-द्वेष तथा अठारह पाप स्थान से युक्त हूँ तथा श्री देवाधिदेव ऋषभ प्रभु तो राग-द्वेष-रहित तथा सर्व पाप स्थानों से रहित हैं। अतः प्रभु प्रत्येक अपेक्षा से मुझसे सर्वथा भिन्न हैं। वे ऐसे स्थान पर हैं, जहाँ वाणी का व्यवहार भी नहीं है, तब उनसे प्रीति कैसे की जाये ?

प्रीति करने के अन्य उपायों का वर्णन करते हुए श्रीमद् कहते हैं—

कागल परा पहाँचे नहीं,
नवि पहुँचे हो तिहां को परधान ।
जे पहुँचे ते तुम समो,
नवि भाखे हो कोई नुं व्यवधान । ऋ० ॥ २ ॥

प्रीति करने का एक दूसरा उपाय पत्र-व्यवहार भी है; किन्तु सिद्ध-शिला पर तो पत्र भी नहीं पहुँच सकता। नहीं वहाँ कोई सन्देशवाहक पहुँच सकता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि रत्नत्रय रूप आराधना करके अनेक जीव मोक्ष जाते हैं; अतः कोई नहीं जा सकता, ऐसा किसलिए कहा गया ? इसका उत्तर देते हैं कि जो वहाँ जाते हैं वे कर्मरहित होकर ही जाते हैं। वे भी आप (प्रभु) की तरह ही वीतराग प्रभुतामय असंगी सकल ज्ञायक और अयोगी होते हैं, अतएव वचनरहित होते हैं; अतः वे किसी का संदेश कैसे कह सकते हैं ? व्यवधान अर्थात् दूरी। भरत क्षेत्र से अमुक ने आप के पास यह संदेश भेजा है या आप से प्रीति करना चाहता है, ऐसा भी कोई कहने वाला नहीं है।

इस प्रकार प्रीति के ये तीनों ही उपाय आप से प्रीति करने में कार्यकारी नहीं हैं।

प्रीति करे ते रागीया,
 जिनवर जी हो तुमे तो वीतराग ।
 प्रीतड़ी जेह अरागी थी,
 मेलववी हो ते लोकोत्तर मार्ग । ॠ० ॥ ३ ॥

पुनः कहते हैं कि मुझ सदृश संसारी जीव अथवा सम्यग्दृष्टि प्रमुख भी, जो श्री सर्वज्ञ ज्योतिपुंज त्रिभुवनतिलक से प्रीति करना चाहें, तो वे सभी रागी हैं। और, हे जिनेश्वर देव ! आप तो वीतरागी हैं। जो राग सहित हो उसे तो अनेक प्रकार से आकर्षित किया जा सकता है; किन्तु जो रागरहित हैं उसे कैसे मोहित किया जाये ? इसका अर्थ यह नहीं है कि तब तो वीतराग से प्रीति करनी हो नहीं चाहिए। अरागी से प्रीति करना—लौकिक नहीं लोकोत्तर मार्ग है। सारांशतः रागी से राग करना सहज है, किन्तु जिसमें राग का अंश मात्र भी नहीं है, उससे प्रीति करना अद्भुत कार्य है। लोकोत्तर मार्ग है।

प्रीति अनादिनी विष भरी,
 ते रीते हो करवा मुझ भाव ।
 करवी निर्विष प्रीतड़ी,
 किए भाँते हो कहो बने बनाव । ॠ० ॥ ४ ॥

यद्यपि संसारी जीवों में अनादिकाल से प्रीति की परिणति है, किन्तु वह पुद्गल के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि मनोज्ञ संयोगों पर है। वह प्रीति अप्रशस्त है, नवीन कर्मबन्ध की कारण है; अतः विष से भरी हुई है। सांसारिक वैभव अर्थात् काया, कंचन, स्वजन-परिजन, धन-धरती के प्रति होने वाला अनुराग विषमय है। वैसा ही राग आपसे भी करना चाहता हूँ, किन्तु वह राग किसी भी प्रकार से काम का नहीं है। कुल परस्पर या ममत्व भाव से अर्थात् अपनेपन के भाव से देव, गुरु और धर्म के प्रति राग भी मोक्ष मार्ग में उपयोगी नहीं है; क्योंकि

वह दृष्टिराग है और दृष्टिराग त्याज्य है। देव, गुरु, धर्म का यथार्थ ज्ञान अर्थात् तत्त्व का ज्ञान ही वस्तुतः ज्ञान है।

तत्त्वार्थ की सम्यग् श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। कहा भी है—
“तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” अप्रशस्त राग संसार का हेतु है।
कहा भी है :-

जो अपसत्थो रागो वड्डइ संसार-भमण-परिवाडी ।

विषयाइसु सयणाइसु, इट्ठत्तं पुगलाईसु ॥१॥

अर्थ—पाँच इन्द्रियों के विषयों पर, माता-पिता पुत्र पत्नी आदि स्वजनों के प्रति एवं भोगोपभोगादि पौद्गलिक जड़ सामग्री पर जो दृष्टत्व/राग है, वह अप्रशस्त राग है और संसार-वृद्धि का कारण है। अरिहन्त के प्रति राग प्रशस्त राग है। प्रशस्त राग का लक्षण निम्नाङ्कित है—

नारणाइसु गुणेसु अरहंताइसु धम्मरूवेसु ।

धम्मोवगरणासाहम्मिएसु धम्मत्थं जो य गुणारागो ॥१॥

सो सुपसत्थो रागो धम्मसंयोगकारणे गुणवदो ।

पढमं कायव्वो सो पत्तगुणे खवइ तं सच्चं ॥२॥

अर्थ—अरिहन्तादि पाँच परमेष्ठियों पर तथा ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुणों में, धर्मोपकरण—अर्हत् पूजा के उपकरण, कलशादि एवं पूजन सामग्री, साधु-साध्वी के वस्त्रपात्र रजोहरणादि, श्रावक-श्राविका के आसन मुख-वस्त्रिका चरवला आदि, दर्शन के—जिनमंदिर प्रतिमा आदि, ज्ञान के—शास्त्र, पुस्तकें, पाटी, ठवणी, साँपड़ा, साँपड़ी, लेखनी, पेन-पेंसिल कागज आदि सर्व अध्ययन एवं अध्यापन सामग्री तथा स्व-धर्माबन्धु और भगिनी के प्रति धर्मार्थ जो अनुराग है वह गुणानुराग है, अतः सुप्रशस्त राग है, धर्म-संयोग होने का कारण है, गुणदाता है, वह तो प्रथम करने ही योग्य है। जब क्षायिक ज्ञानादि गुण प्राप्त हो जाते हैं, तब इस राग का स्वयं ही क्षय हो जाता है।

अतः अरिहन्त के ऊपर गुणगत राग होना चाहिए । ऐसा राग, जिसमें विषय अभिलाषा न हो, वर्णादिक के प्रति मुग्धता न हो तथा इहलौकिक एवं पारलौकिक इन्द्रिय सुख की अभिलाषा न हो; यहाँ तक कि प्रभु अपने ज्ञानादिक गुण मुझे दें, ऐसी इच्छा भी न हो । अरूपी अज, अविनाशी, अकृत्रिम, शुद्ध ज्ञानादिक गुण जिनके प्रकट हो गए हैं, जो स्वरूप के भोगी हैं, स्वरूप में ही रमण करने वाले हैं और स्वरूपाश्रित हैं, ऐसे अरिहन्त के गुणों का राग, मात्र स्वगुणों को प्रकट करने के हेतु से करना, निर्विष राग है । वैसी निर्विष प्रीति करने की मुझमें तो शक्ति है नहीं; अतः यह कार्य कैसे हो ? हे उपकारी पुरुषों ! उसे आप बतलाइये ।

प्रीति अनंती पर थकी,
जे तोड़े हो ते जोड़े एह ।

परम पुरुष थी रागता,
एकत्वता हो दाखी गुण गेह । ॠ० ॥ ५ ॥

अब ज्ञानी पुरुष प्रभु परमात्मा से प्रीति की रीति बता रहे हैं । अनन्त काल से अनन्त पर-पदार्थों में, काया, कंचन, कुटुम्ब, कीर्ति में जो जीव की राग भाव रूप प्रीति है; उस राग भाव को जब जीव तोड़ेगा तब वीतराग अरिहन्त प्रभु के गुणों से प्रीति जोड़ेगा अर्थात् जो समस्त परभाव रूप राग का त्याग करेगा वही सर्व गुणी के प्रति राग कर सकेगा । यहाँ कोई प्रश्न करे कि अरिहन्तादिक गुणवान व्यक्तियों के साथ गुण से मिला जा सकता है; पर राग तो पाप स्थानक है, वह क्यों किया जाये ? उसका उत्तर है कि, परम पुरुष वीतराग से राग करना और एकत्वता की भावना करना, मात्र गुणों का घर कहा गया है । अतः सर्वप्रथम श्री वीतराग के प्रति राग करना ही वीतरागता का कारण है ।

प्रभुजी ने अवलम्बतां,
निज प्रभुता हो प्रगटे गुण रास ।

देवचन्द्र नी सेवना,
आपे मुझ हो अविचल सुख वास । ॠ० ॥ ६ ॥

इस प्रकार प्रभुजी का अवलम्बन अर्थात् आश्रय लेने से स्वयं की अनन्त गुण पर्याय रूप प्रभुता प्रकट होती है, निरावरण बनती है, समस्त गुण व्यक्त होते हैं। अतः चार निकाय के देव अथवा नरदेवादिक में चन्द्रमा के समान श्री अरिहन्त देव की द्रव्य और भाव से भक्ति, सेवना करनी चाहिए। श्री अरिहन्त की वह भक्ति मुझे अविचल सुखों का निवास, अव्याबाध सुख का वास देवे। सारांश यह है कि—आस्रव त्याग अर्थात् संयम रूप परिणमन ही अरिहन्त प्रभु की वास्तविक सेवा है। कहा भी है—“आणाकारी भक्तो, आणाछेइओ सो अभक्तो त्ति”—जो आज्ञाकारी है, वह भक्त है, जो आज्ञा का छेद/नाश/भंग करता है, वह अभक्त है। अरिहन्त प्रभु स्वयं तो स्वसेवा के इच्छुक नहीं हैं किन्तु, सब जीवों को स्वहित करने के लिए सेवा, भक्ति, असंयम का त्याग और संवर की आराधना करनी है। अरिहन्त आज्ञा का अर्थ यह नहीं है कि अरिहन्त प्रभु आज्ञा देते हैं। अपितु, अरिहन्त प्रभु ने जैसा द्रव्य का स्वरूप देखा, वैसा ही कहा है। प्रत्येक जीव के अपने दर्शन ज्ञान चारित्र परमानन्द के हेतु हैं; अतएव जिस रीति से ज्ञान, दर्शन, चारित्र प्रकट हों, उसी रीति का उपदेश दिया। उसी रीति के अनुसार प्रत्येक भव्य प्राणी को अपने ज्ञानादिक गुण प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे मार्गदर्शक वीतराग श्री अरिहन्त देव की सेवा करने से सभी उत्तम जीव निश्चय से मोक्ष प्राप्त करते हैं; अतः प्रभु की सेवा मोक्ष रूप अविचल सुख देती है। सभी भव्य प्राणियों को संसार के सभी कार्यों को छोड़कर, सभी परभावों से निःस्पृह होकर एक परमोपकारी धर्मोपदेशक अरिहन्त देव की सेवा करनी चाहिए।



२. श्री अजित जिनेन्द्र स्तवन

(राग—ऐसे श्याम सलोने)

श्री अजितनाथ प्रभु की स्तवना करते हुए श्रीमद् कारण-काय भाव की साधनता दिखाते हैं कि कारण मिलने पर कार्य की निष्पत्ति होती है। कारण दो प्रकार के होते हैं—निमित्त कारण और उपादान कारण। उपादान कारण की कारणता निमित्त मिलने पर प्रकट होती है, किन्तु वह निमित्त कारण की पुष्टता पर निर्भर है। मोक्ष के निमित्त कारण श्री वीतराग अरिहन्त देव हैं, जिनके मिलने पर मोक्ष रूपी कार्य सिद्ध होता है।

ज्ञानादिक गुण सम्पदा रे,
तुम्ह अनन्त अपार ।
ते साँभलता अपनी रे,
रुचि तेरो पार उतार ॥ १ ॥
अजित जिन ! तारजो रे,
तारजो दीनदयाल ॥ स्थायी ॥

श्रीमद् कह रहे हैं—हे प्रभु ! सकल पंचास्तिकाय के गुण पर्याय आदि विशेष धर्मों को जानने वाला त्रैकालिक केवलज्ञान, समस्त सामान्य ग्राहक केवलदर्शन, स्वरूप एकत्व रूप परम चारित्र्य, अरूपी, एवं अव्याबाध गुणों की आपकी सम्पदा अनन्त है, अपार है। अनन्तता का विश्लेषण करते हुए श्रीमद् कहते हैं—सब द्रव्यों से सब द्रव्यों के प्रदेश अनन्त गुणा, सर्व प्रदेश से एक द्रव्य के गुण अनन्त गुणा, सब गुणों से अस्ति-नास्ति रूप स्वपर्याय अनन्त गुणा है। अस्ति-पर्याय वस्तु का स्वधर्म है तथा नास्ति-पर्याय भी वस्तु का स्वधर्म है। श्री विशेषावश्यक भाष्य में श्रुत ज्ञानाधिकार में कहा गया है :—

जइ ते परपज्जाया, न तस्स अह तस्स न परपज्जाया ।

जं तम्मिय संबद्धा, तो परपज्जाय ववएसो ॥ ४७६॥

शंका—यदि वे नास्ति रूप पर-पर्याय हैं, तो वे उस आत्मा के कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—जो पर-पर्याय हैं, वे आत्मा से असम्बद्ध हैं, अतः उन्हें पर-पर्याय शब्द से व्यपदेश किया है, अर्थात् बतलाया है, ऐसा नाम दिया है ।

संस्कृत टीका और अर्थ—

इह स्वपर्यायाणामेव तत्पर्यायता युक्ता । ये चामी परपर्यायास्ते यदि घटादीनां तर्हि नाक्षरस्य, तथाक्षरस्य ते तर्हि न घटादीनां । ततश्च यदि परस्य पर्यायास्तर्हि तस्य कथं, तस्य चेत्परस्य कथमिति विरोधस्तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानाद्यस्मात् कारणात् तस्मिन्नकारेकाराद्यक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेनासंबद्धास्ततस्तेषां परपर्यायव्यपदेशो अन्यथा व्यावृत्तेन रूपेण तेऽपि संबद्धा एवेत्यतस्तेषामपि व्यावृत्तरूपतया पारमाथिकस्वपर्यायत्वं न विरुद्ध्यते । अस्तित्वेन तु घटादिपर्याया घटादिष्वेव प्रतिबद्धा इत्यक्षरस्य ते परपर्याया व्यपदेश्यन्ते इति भावः । द्विविधं हि वस्तुनः स्वरूपं, अस्तित्वं नास्तित्वं च । ततो ये यत्रास्तित्वेन प्रतिबद्धास्ते तस्य स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तित्वेन संबद्धास्ते तस्य परपर्यायाः प्रतिपाद्यन्ते । इति निमित्तभेदख्यापनपरावेव स्वपरशब्दौ, नत्वेकेषां, तत्र सर्वथा सम्बन्धनिराकरणपरो ॥

वत्थुसहावं पइ तं पि सपरपज्जायमेयओ भिन्नं ।

तं जेण जीवभावो, भिन्ना य तओ घडाईया ॥ ४६५ ॥

वस्तुस्वभावं प्रति यथावस्थितं वस्तुस्वरूपमाश्रित्य तदपि केवलज्ञानं अकाराद्यक्षरवत् स्वपरपर्यायभेदतो भिन्नमेव । ननु यथोक्तनीत्या स्वपर्यायान्वितमेवेति भावः । कुतः ? इत्याह—येन कारणेन तत्केवलज्ञानं जीवभावप्रतिनियतो जीवपर्यायो न घटादिस्वरूपं, तत्रापि

घटादयस्तत्स्वभावाः किंतु ततो भिन्ना इति ते ज्ञायमाना अपि ते कथं तस्य स्वपर्याया भवेयुः ? सर्वसंकरैकत्वादिप्रसंगान् तस्मादमूर्तत्वचेतनत्वसर्ववेतृत्वाप्रतिपाती च निरावरणत्वादयः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः, घटादिपर्यायास्तु व्यावृत्तिमाश्रित्य परपर्यायाः । अन्ये तु व्याचक्षते—सर्वद्रव्यगतान् सर्वानपि पर्यायान् केवलं ज्ञानं जानाति, येन च स्वभावेनैकं पर्यायं जानाति, न तेनैवापरमपि, किंतु स्वभावभेदेनान्यथा सर्वद्रव्यपर्यायैकत्वप्रसंगस्तस्मात् सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्याः स्वभावभेदलक्षणकेवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः, सर्वद्रव्यपर्यायास्तु परपर्यायाः इत्येवं स्वपर्यायाः । परपर्यायाश्चोभयेऽपि परस्परं तुल्याः केवलस्येति ॥

अर्थ—यहाँ स्वपर्यायों को ही उस द्रव्य की पर्यायता कही है, और, जो ये परपर्याय हैं वे यदि घटादि के हैं, तो वे अक्षर के नहीं; तथा जो अक्षर के हैं तो वे घटादि के नहीं । अतः जो परपर्याय हैं; वे उसके (ज्ञान या आत्मा के) कैसे हो सकते हैं ? और यदि हैं, तो फिर पर के कैसे हुये ? इस प्रकार विरोध हो जाता है ।

उत्तर—आपका कहना युक्त नहीं, क्योंकि आपने अभिप्राय नहीं जाना । जिस कारण से हैं; उन्हें समझिए । अक्षर इकारादि अक्षर में घटादि पर्याय अस्तित्व रूप से असम्बद्ध (पृथक्) हैं । अतएव उन्हें परपर्याय कहा है । अन्यथा वे भी व्यापृत रूप से तौ सम्बद्ध (जुड़े हुये) हैं ही । इस प्रकार से उनका भी व्यापृत रूप से पारमार्थिक पर्यायत्व में कोई विरोध नहीं है । अस्तित्व रूप से घटादि पर्याय घटादि में ही प्रतिबद्ध हैं; अतः वे अक्षर के परपर्याय कहलाते हैं । यह अभिप्राय है ।

क्योंकि, वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का है—१. अस्तित्व रूप और २. नास्तित्व रूप । जो अस्तित्व रूप से प्रतिबद्ध हैं वे उसके स्वपर्याय कहे जाते हैं और जो नास्तित्व रूप से सम्बद्ध हैं, वे उसके परपर्याय कहलाते हैं । इस प्रकार स्व-पर शब्द निमित्त भेद के शापक (बतलाने वाले) हैं; न कि किन्हीं के सर्वथा सम्बद्ध निराकरणपरक । जैसा कि कहा है—

वस्तु स्वभाव के प्रति वह भी स्व-पर-पर्याय भेद से भिन्न है । इसी से जीव घटादि से भिन्न है ।

वस्तु-स्वभाव के प्रति यथावस्थित वस्तु स्वरूप को आश्रित करके रहता है; तथापि केवलज्ञान अकारादि अक्षरों के समान स्व-पर पर्याय से भिन्न ही है । यदि यथोक्त नीति से स्वपर्याय से ही अन्वित है, ऐसा आशय है, तो पुनः पर-पर्याय उसके कैसे हैं ? इसे स्पष्टतः कहते हैं—

जैसे कि केवलज्ञान जीवभाव प्रतिनियत जीव पर्याय है, घटादि स्वरूप नहीं । घटादि के स्वभावादि का ज्ञान केवलज्ञान का कार्य है; किन्तु ज्ञान से भिन्न है, अतः वे जाने जाते हुए भी केवलज्ञान के स्वपर्याय कैसे हो सकते हैं ? इससे तो सर्व मिश्रित हो जाने का प्रसंग आ जाता है । केवलज्ञान के अमूर्तत्व, चेतनत्व, सर्ववेत्तृत्व, अप्रति-पातित्व तथा निरावरणत्व आदि स्वपर्याय हैं । घटादि पर्याय व्यावृत्ति के आश्रय से परपर्याय हैं । अन्य तो ऐसा भी कहते हैं—सर्वद्रव्यगत सभी पर्यायों को केवलज्ञान जानता है और जिस स्वभाव से एक पर्याय को जानता है, उसी से सभी पर्यायों को जानता है, किन्तु स्वभाव भेद से; क्योंकि सभी द्रव्यों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है, अन्यथा सर्वद्रव्य पर्यायों के एकत्व का प्रसंग उपस्थित हो जायगा । अतः सर्वद्रव्य पर्यायों के राशि तुल्य स्वभाव भेद लक्षण केवलज्ञान के स्वपर्याय हैं । सर्वद्रव्यों के पर्याय पर-पर्याय हैं । इस प्रकार केवलज्ञान के स्वपर्याय और सर्वद्रव्यों के पर्याय दोनों ही परस्पर तुल्य हैं—इत्यादि सर्व अधिकार विशेषावश्यक महाभाष्य से जानना चाहिए । जीव द्रव्य के अस्ति पर्याय अनन्त गुणों हैं, वे सर्व हे प्रभो ! आपके निरावरण हो गये । आगम में आपकी उस अनन्त-गुणमयी परमानन्द सम्पदा को सुनते हुए मुझे भी यह रुचि उत्पन्न हुई कि वैसी ही सिद्धता मेरे भी प्रकट हो ।

हे परमपुरुष ! कर्मवश पड़े हुए मुझ अनाथ दीन को भव समुद्र से पार उतारिये । संसार से पार उतारने की विनती आपके अतिरिक्त अन्य किससे करूँ ? क्योंकि, जो भव से पार हो गए, उनके सामने ही भवपार पहुँचाने की विनती की जा सकती है; अतः हे

स्वामिन् ! इस संसार से मेरा निस्तार करो । भव से उद्विग्न मोक्षा-
भिलाषी आतुर होकर ऐसी विनती करता है—हे अजित जिन !
मुझे संसार से तारिये, पार उतारिये; क्योंकि, हे प्रभु आप तो दीन-
दयालु हैं ।

अब जिस कार्य का जो कारण है, उस कारण के मिलने पर ही
कार्य सिद्ध होता है, यह निरूपण कर रहे हैं—

जे जे कारण जेहनूं रे,
सामग्री संयोग ।
मलतां कारज नीपजे रे,
कर्त्ता तणे प्रयोग ॥ अजित० ॥२॥

जिस कार्य का जो कारण है, वह कारण तथा वैसी सामग्री
दोनों का संयोग मिलने पर कार्य की निष्पत्ति होती है । कारण दो
प्रकार के होते हैं—उपादान कारण और निमित्त कारण । जैसे घट के
निर्माण में मृत्तिका उपादान कारण है तथा चक्र, दण्ड, सूत आदि निमित्त
कारण हैं और कुम्भकार कर्त्ता है । ध्यान में रखने की बात है कि जो
कार्य अभेद होता है, उसका कर्त्ता भी अभेद होता है; जो कार्य कर्त्ता
से भिन्न होता है, उसका कर्त्ता भी भिन्न होता है । जैसे कि घटरूप
कार्य कुम्भकार से भिन्न है, क्योंकि कुम्भकार घट से भिन्न है । वैसे ही
सिद्धता रूप कार्य आत्मा से अभिन्न है; क्योंकि उसका कर्त्ता भी
अभिन्न है ।

आत्मा रूप कर्त्ता का कार्य सकल स्वधर्म अभिव्यक्ति रूप
सिद्धता है । श्री अरिहन्त देवाधिदेव तथा निर्ग्रन्थादि गुरु रूप निमित्त
कारण मिलने पर और कर्म-भूमि, मनुष्य-भव, आर्य-कुल, जाति, स्वस्थ
शरीर आदि प्राप्त होने पर मोक्ष रूप कार्य की सिद्धि होती है । मेरा
कार्य मोक्ष की प्राप्ति है । उसके निमित्त कारण हे वीतराग देव ! आप
हैं; अतएव आपका आश्रय लेने पर मोक्ष रूप कार्य की निष्पत्ति हो
सकती है । किन्तु, निमित्त और सामग्री आदि सब प्राप्त हो जाएँ और
कर्त्ता—जो कि आत्मा है—वह उस प्रकार के प्रयोग/साधन का व्यापार

न करे अथवा पुरुषार्थ न करे तो कार्यसिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि अरिहन्तादिक का निमित्त पाकर भी अनेक जीव आत्मसाध्यावलम्बी तथा साधन परिणत हुए बिना और मोक्ष रूपी कार्य किए बिना अभी तक संसार में भ्रमण करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इसलिए आत्मा रूप कर्ता यदि मोक्ष साधन रूप सामग्री का प्रयोग अर्थात् व्यापार करे तो सिद्धता रूप कार्य की निष्पत्ति होती है अथवा हो सकती है।

कार्य सिद्धि करता वसु रे,

लहि कारण संयोग ।

निजपद कारक प्रभु मित्या रे,

होय निमित्तह भोग ॥ अजित० ॥३॥

कार्य सिद्धि कर्ता के वश में है। जिस प्रकार कुम्भकार रूप कर्ता दण्ड रूप सामग्री का घट रूप कार्य करने में प्रवृत्ति करे तो घट रूप कार्य बनता है और वही दण्ड जो घटध्वंसादि के लिए प्रयोग करे तो घट का ध्वंस करता है। कर्ता जिस कार्य को करने के लिए निमित्त की प्रवृत्ति करे—वही कार्य होता है। अतः कार्य की सिद्धि कर्ता के वश में है; किन्तु निमित्तादि कारणों का संयोग मिलने पर कार्य की निष्पत्ति होती है। यही कार्य-सिद्धि की पद्धति है। अतः परमानन्द महोदय रूप स्व-आत्मिक पद के कारक, मोक्ष के पुष्ट कारण प्रभु अरिहन्त देव रूप निमित्त के मिलने पर भव्य जीव को हर्ष का आस्वादन (भोग) होता है। उसे अत्यन्त आनन्द होता है। अतः कर्ता पुष्ट निमित्त कारण की अभिलाषा करता है।

निमित्त प्राप्त करके आत्मा किस प्रकार जागृत हो जाता है—इसे स्पष्ट कर रहे हैं—

अज कुलगत केसरी लहे रे,

निज पद सिंह निहाल ।

तिम प्रभु भक्ते भवि लहे रे,

आतम शक्ति संभाल ॥ अजित० ॥४॥

जैसे किसी अरण्य में एक सिंहनी की प्रसूति होने के पश्चात् मृत्यु हो गई। बकरियाँ चराने वाला एक अहीर बकरियों के साथ उघर से निकला। उसने मृत सिंहनी एवं जीवित सिंह शावक को देखा। वह करुणा से अभिभूत हो, उस सिंहशावक को उठा लाया। बकरियों का दूध पीकर वह बच्चा बकरियों के साथ ही रहने लगा। उनके साथ ही चरने लगा। एकदा चरते-चरते बकरियों ने एक सिंह की गर्जना सुनी और वे भागने लगीं। उनके साथ वह सिंह-शावक भी दौड़ने लगा। सिंह समीप आया तो उसने सिंह को देखा। अपने साथ तुलना की तो उसने जाना कि मैं तो इसके समान ही हूँ, अतः उसने बकरियों के साथ छोड़ दिया और सिंह के साथ हो गया।

इसी प्रकार हे प्रभु ! सांसारिक जीव भी आपकी भक्ति करता हुआ अपने विस्मृत आत्म स्वरूप का स्मरण कर लेता है। वस्तु-स्वरूप सत्ता की अपेक्षा से मैं भी वीतराग कर्मरहित शुद्ध स्वरूप हूँ। प्रभु भी पहले मुझ जैसे ही संसारी थे—फिर सिद्ध हुए; वैसे ही मैं भी अभी संसारी हूँ किन्तु यदि साधना करूँ तो सिद्ध रूप हो सकता हूँ। ऐसा आत्म-स्वरूप का भान श्री अरिहन्त की सेवा करते हुए उत्पन्न होता है।

कारण पद कर्ता पणो रे,
करि आरोप अभेद ।
निज पद अर्थी प्रभु थकी रे,
करे अनेक उम्मेद ॥ अजित० ॥५॥

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अरिहन्त देव तो अन्य जीवों की मुक्ति के कर्ता नहीं हैं, तो आप अरिहन्त देव से मुक्ति क्यों माँग रहे हैं ? उसका उत्तर है—कारण पद अर्थात् अरिहन्त आदि पुष्टालम्बन हैं; अतः कारण में अभेद कर्ता का आरोपण करके स्वपद शुद्ध सिद्धता रूप कार्य को प्राप्त करने का इच्छुक भव्य जीव श्री वीतराग तीर्थंकर देव से सम्यक्त्वादि अनेक गुणों की उम्मेद अर्थात् आशा करता है और

निवेदन करता है कि हे प्रभो ! आप मुझे मोक्ष की कारण सामग्री एवं मोक्ष दीजिए । यहाँ निमित्त कारण में कर्त्ता का अभेद आरोप करके स्तुति की गई है । ॥५॥

जिस निमित्त को पाकर उपादान में जागृति आये अर्थात् उसमें परिवर्तन आ जाये, वह पद्धति अथवा प्रभु परमात्मा का स्वरूप बताते हैं :—

अहंवा परमात्म प्रभु रे,

परमानन्द स्वरूप ।

स्याद्वाद सत्ता रसी रे,

अमल अखण्ड अनूप ॥ अजित० ॥६॥

आत्मा के तीन प्रकार हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । जो औदयिक भाव कर्मजनित शरीर आदि को आत्मा माने—वह बहिरात्मा है । औदयिक भाव कर्मजनित शरीर से आत्मा पृथक् है, आत्मा असंख्यात प्रदेशी, चेतना लक्षणयुक्त, ज्ञानादि अनन्त गुण पर्याय सहित अरूपी है । आत्मा अरूपी एवं शरीर रूपी; आत्मा सहज अकृत्रिम एवं शरीर संयोगीकृत्रिम है । कर्म-योग से शरीर में रही हुई भी भिन्न है । इस प्रकार के भेद-ज्ञानी साधक को सम्यक्त्व गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त अन्तरात्मा जानना चाहिये । ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म जिनके क्षय हो गए—वे संयोगी केवलज्ञानी और चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अयोगी केवलज्ञानी एवं अष्ट कर्मों से मुक्त सिद्धात्माओं को परमात्मा जानना चाहिए ।

श्री अजितनाथ अरिहन्त एवंभूत नय से परमात्मा हैं, प्रभु हैं । समस्त सिद्ध वस्तुतः स्वयं की गुणपर्याय रूप सम्पदा के प्रभु हैं । कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का स्वामी होता ही नहीं, जब तक जिस द्रव्य के चिन्तन में भी पर द्रव्य का स्वामित्व है तब तक वह द्रव्य शुद्ध नहीं है । अतः श्री अजितनाथ अरिहन्त स्व-स्वभाव के प्रभु हैं । उत्तम जीव स्वयं को कर्मवश मोह से मुग्ध जानकर स्वयं को रंक

समान मानते हैं तथा जो अमोही, स्वाधीन हो गए उन्हें प्रभु कहते हैं । उन अमोही प्रभु का अवलम्बन लेने पर साधक स्व-संपदा का स्वामी बन सकता है; अतएव जिस कारण से स्वयं का प्रभुत्व पाया जा सकता है वे निमित्त कारण प्रभु हैं और उन्हीं की प्रभु रूप से स्तवना करनी चाहिए ।

जगत् में पुद्गल-संयोगजन्य सुख सुख कहलाता है, किन्तु वह तो केवल आरोप मात्र है अर्थात् वास्तव में सुख नहीं है । विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

जत्तो चिचय पच्चक्खं, सोम्म ! सुहं नत्थि दुक्खमेवेदं ।
तप्पडियार विभत्तं तो पुण्णफलं पि दुक्खंति ॥२००५॥

हे सौम्य ! 'प्रभासज्ञानावलोकनेन' अर्थात् स्पष्ट ज्ञान से दृश्यमान सुख सुख नहीं है । चन्दन, अंगनादि संयोग से उत्पन्न सुख भी दुःख रूप ही है । विषय उत्सुकता से उत्पन्न अरति का प्रतिकार मात्र है अर्थात् दुःख को ही तत्त्वज्ञान के अभाव में सुख-दुःख रूप भेद मान लिया है, पर वास्तव में वह दुःख रूप ही है । जैसा कि कहा है—

औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा, क्लिश्नातिलब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापगमनाय यथा श्रमाय, राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥

जिस प्रकार कई जीव राज्य पाकर सुख मानते हैं, किन्तु वास्तव में यह सुख सुख नहीं है । राज्य पाने वाला सोचता है कि मेरी प्रतिष्ठा बढ़ेगी, उसकी उत्सुकता मात्र ही चित्त को अशान्त बनाये रखती है । वैभव, ऐश्वर्य, स्वजन, परिजन आदि के परिपालन की वृत्ति ही जीवन में संक्लेश पैदा करती है, जैसे अपने हाथ में लिया हुआ भारी भरकम छत्र श्रम दूर करने के लिए नहीं किन्तु श्रम के लिए हो जाता है ।

पुण्य फल अर्थात् वैभव ऐश्वर्यादि भोग सामग्री तत्त्वतः दुःख रूप है । कहा भी है—

विषय सुहं दुक्खं चिय, दुक्खपडिआरओ तिगिच्छ व्व ॥
तं सुहमुवयाराओ, न योवयारो विणा तच्चं ॥२००६॥

—विशेषावश्यक भाष्य

विषय सुख तत्त्वतः दुःख ही है, जिस प्रकार रोगी को क्वाथ-पान, छेदन, दागना आदि चिकित्सा हितकारी लगती है; किन्तु दुःख तो स्पष्टतः दुःख ही है, मात्र उपचार से सुख लगता है। और, जो उपचार है वह तथ्य रूप से पारमार्थिक सुख नहीं है। सुख तो मुक्त आत्मा का निरुपचरित स्वाभाविक निष्प्रतिकार रूप आत्मिक आनन्द है। वही यथार्थ सुख है। साता और असाता दोनों ही दुःख रूप हैं, क्योंकि इनका परिणाम दुःख ही है। इनका उदय कर्म का विपाक है और कर्म का विपाक गुण का रोधक है। स्व-गुण के रोध को सुख भला कौन कहेगा। कहा भी है—

सायाऽसायं दुक्खं तत्त्वरहम्मि य जग्गो सुहं तेणं ।

देहिंदिएसु दुक्खं, सुक्खं देहिंदियाभावे ॥२०११॥

—विशेषावश्यक भाष्य

साता और असाता दोनों ही दुःख रूप हैं। वेदनीय कर्म का अभाव हो जाने पर ही सुख है। देह और इन्द्रियां भी दुःखरूप ही हैं। वास्तविक सुख तो देह और इन्द्रिय के अभाव रूप में है। सर्व परकीयभावों के संग से रहित स्वाभाविक आनन्द परमानन्द है। वह परमानन्द ही श्री अजितनाथ का स्वरूप है।

जगत में जीवादि षड्द्रव्य हैं। उसमें पाँच अस्तिकाथ ही परमार्थ से द्रव्य हैं और छट्ठा काल उपचार से द्रव्य कहा जाता है। यह चर्चा तत्त्वार्थ भाष्य तथा धर्मसंग्रहणी में देखनी चाहिए। एक-एक द्रव्य के अनन्त गुण एवं अनन्त पर्याय होने के कारण अनेकता जाननी चाहिए तथा एक द्रव्य में एक समय में स्याद् नित्यं, स्याद् अनित्यं, स्याद् एकम्, स्याद् अनेकम्, स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् भिन्नं, स्याद् अभिन्नं, स्याद् वक्तव्यं, स्याद् अवक्तव्यं—इन सब के स्वभाव की युगपत् प्रवृत्ति ज्ञानीगम्य है। इतने धर्म समकाल जिसमें प्रवृत्त होते हैं, उन धर्मों की अनन्त प्रवृत्तियों को स्याद्वाद कहते हैं। 'स्यात् इति पदं अनेकान्त-द्योतक' ऐसी स्याद्वादमयी आत्मा की गुण पर्याय रूप जो सत्ता है, उसके आप रंसी अर्थात् रसिक हैं। आप स्याद्वादमयी आत्म-सत्ता के भोक्ता हैं। अमल अर्थात् कर्ममल रहित हैं, अखण्ड अर्थात् कभी भी खण्डित नहीं होने वाले एवं अनूप अर्थात् उपमा रहित हैं। ऐसे प्रभु

अर्थात् आपको देखकर मुझे अपूर्व लाभ हुआ है, अतः उसीका वर्णन कर रहे हैं—

आरोपित सुख भ्रम टल्युं रे,
भास्युं अव्याबाध ।
समयुं अभिलाषी पणूं रे,
कर्त्ता साधन साध्य ॥ अजित० ॥६॥

उपर्युक्त गुणों से युक्त ऐसे प्रभु आत्मानन्द भोगी, आत्म-स्वरूप में रमण करने वाले तत्त्व-विलासी हैं । उनके दर्शन करके मेरा अनादि काल का आरोपित सुख अर्थात् इन्द्रिय-सुखों में सुख का भासन रूप भ्रम दूर हो गया और अव्याबाध आत्मिक आनन्द सुख 'भास्यो' अर्थात् प्रतीत होने लग गया । जब तक विषय सुखों में सुख की बुद्धि थी, तब तक विषय सुखों की अभिलाषा थी और अब सर्व विषय-सुखों से रहित अव्याबाध सुख वाले श्री प्रभुजी के दर्शन हुए । इससे भव्य जीव को ऐसा निश्चय हो गया कि वास्तविक सुख तो अव्याबाध सुख है, अतः अव्याबाध सुख की अभिलाषा का स्मरण हो गया । फलतः वह जीव स्वरूपानुयायी हो गया । इतने काल पर्यन्त विषय सुख की अभिलाषा से वह आत्मा विषय सुख का कर्त्ता था । उसे जब अव्याबाध सुख की अभिलाषा हुई तब वह उसकी कारण सामग्री को प्राप्त करने हेतु प्रवृत्त हुआ । कर्त्ता को जो कार्य करना होता है, वह वैसी ही कारण सामग्री को एकत्रित करता है । जिसे करना चाहता है, वही कार्य उसका साध्य होता है । अब तक जीव का साध्य विषय सुख था, अतः साधन भी विषय सुख के ही प्राप्त करता था । अब निर्विकार अव्याबाध सुख वाले प्रभु श्री अजितनाथ के दर्शन के अनन्तर दर्शक का साध्य भी अव्याबाध सुख बन गया । साध्य तथा साधन का स्मरण हो गया ।

ग्राहकता स्वामित्वता रे,
व्यापक भोक्ता भाव ।
कारणता कारज दशा रे,
सकल ग्रह्युं निज भाव ॥ अजित० ॥८॥

अभी तक यह जीव विषय-सुख का ग्राहक था, अब शुद्ध अव्याबाध सुख वाले परमेश्वर को देखकर उस सुख का ग्राहक बन गया। इतने काल पर्यन्त अज्ञान से प्रेरित विषय-सुखों के हेतु धन, स्त्री, वस्त्र, आहारादिक पर-भावों का स्वामित्व कर रहा था; अब ज्ञानादिक अनन्त गुण सम्पत्ति के स्वामी श्री देवाधिदेव को देखकर इस जीव को भी अनन्त ज्ञानादि स्वसम्पदा का स्वामित्व प्राप्त हो गया। अर्थात् ग्राहक भाव तथा स्वामित्व भाव स्मरण में आ गया। अनन्त काल से जो आत्मा विषयादिक परभाव में व्यापक था, वह अब आत्मानन्द तथा उसके साधन में व्यापक बन गया। जो अनादि काल से पर-भाव का भोक्ता था, वह अब स्व-भावभोगी परम प्रभु को देखकर स्वभाव-भोक्ता बन गया अर्थात् व्यापकत्व तथा भोक्तृत्व भी स्मरण में आ गया। जो आत्मा अब तक अज्ञानवश संसार में आठ कर्म रूप उपाधि का उपादान कारण था, अब शुद्ध स्वरूपी निष्कर्म देव तत्त्व अर्थात् अरिहन्त के दर्शन से अपने शुद्ध स्वरूप का उपादान कारण बन गया। अब तक यह आठ कर्म रूप कार्य का कर्त्ता था, अब परमदेव के प्रति श्रद्धा होने से संवर-निर्जरा रूप कार्य का कर्त्ता बन गया। अतः हे परमेश्वर ! हे जगदाधार ! हे दीनबन्धो ! मेरी चेतना आपकी अनुयायी हो गई। इससे कारण तथा कार्य इत्यादि तथा अन्य भी अनन्त आत्मशक्तियाँ स्मृति में आने लगीं। समस्त आत्म-शक्तियों ने आत्मभाव स्वीकार कर लिया और पर-भाव का त्याग प्रारम्भ कर दिया।

श्रद्धा भासन रमणता रे,

दानादिक परिणाम।

सकल थया सत्ता रसी रे,

जिनवर दरिसण पाम ॥ अजित० ॥६॥

अब तक औदयिक पुण्य प्रकृति का उदय जीव को इष्ट प्रतीत होता था, अतः पुण्य के उदय को सुख मानता था; जबकि औदयिक पुण्य प्रकृति सातावेदनीय आदि का उदय गुणों का रोधक एवं तत्त्व-विमुख करने वाला है। अब उसे ऐसी श्रद्धा हो गई कि अव्याबाध

निष्कर्म स्वरूप ही मेरा साध्य है । और, वस्तु की यथार्थता का ज्ञान और अर्थात् भासन भी स्मरण में आ गया । पौद्गलिक वर्ण-गंध आदि में होने वाली रमणता भी स्वरूपाभिमुख हो गई । दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—इन पाँचों का क्षयोपशम भी परानुयायी था; पौद्गलिक वस्तुओं को देना—दान, प्राप्त करना — लाभ, भोगना — भोग, एक ही वस्तु का बार-बार उपयोग करना — उपभोग और वीर्य भी बालवीर्य था । मानसिक, वाचिक एवं कायिक शक्तियाँ भी कर्म के ग्रहण, बन्धन आदि आठ करण रूप में प्रवृत्त हो रही थी । हे प्रभो ! आपके दर्शन से ये सभी शक्तियाँ सत्ता रूप से अपने जीव द्रव्य के अर्थात् आत्मा के मूल धर्म ज्ञानादि अनन्त गुण पर्याय की रसिक बन गई, अर्थात् पुद्गलानुयायिता का परित्याग करके शुद्ध स्वरूपानुयायी हो गई । स्वसत्ता मेरा धर्म है—ऐसी श्रद्धा हो गई । स्वयं के गुण ही भाव निक्षेप रूप सार तत्त्व हैं—ऐसा ज्ञान हो गया तथा आत्म-धर्म क्षमादि में रमण हो गया और सहकार रूप दान गुण, गुण प्राग्भाव रूप लाभ, स्वगुण का भोग, स्वपर्याय का उपभोग और वीर्य भी पण्डित वीर्य होकर संवर का हेतु तथा निर्जरा रूप हो गया । हे वीतराग देव ! हे जिनेश्वर देव ! आपके दर्शन पाकर मेरे गुण स्वसत्ता रसिक बन गये ।

तेरा निर्यामक माहणो रे,

वैद्य गोप आधार ।

देवचन्द्र सुख सागरू रे,

भाव धर्म दातार ॥ अजित ०॥१०॥

हे प्रभो ! आप संसार समुद्र से पार उतारने वाले चारित्र रूप जहाज को चलाने वाले निर्यामक के सदृश हैं । आप स्वयं तत्त्व धर्म रूप से परिणत हैं, द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा से रहित हैं और परम अहिंसक धर्म के उपदेशक हैं, अतः माहण हैं । (किसी भी जीव को कष्ट मत दो—ऐसा कहने वाले हैं) । आत्मा की अशुद्धता रूप भाव रोग को नष्ट करने के लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय औषधि है । इस औषधि को बताने वाले आप ही महावैद्य

हैं तथा भाव से ज्ञानादि गुण तथा द्रव्य से छ जीव निकाय रूप जीवों की रक्षा करने वाले परम गोप हैं । भव अटवी में भ्रमण करते प्राणियों के आप ही परम आधार अर्थात् सार्थवाह हैं ।

सर्व देवों में चन्द्रमा के समान, स्वयं के सुख के सागर—ऐसे श्री अजितनाथ परमेश्वर आप स्व द्रव्य में व्यापक रूप से रहे हुए सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य रूप भाव-धर्म के दाता हैं अर्थात् हे प्रभो ! आपके दर्शन करने से भाव-धर्म की स्मृति होती है और आप ही भव्य जीवों के भाव-धर्म के उपदेशक एवं दाता हैं ।



३. श्री संभव जिनेन्द्र स्तवन

(राग-धरारा ढोला)

श्री संभव जिनराज जी रे, ताहरूँ अकल स्वरूप ।
स्व पर प्रकाशक दिनमणि रे, समता रस नो भूप ॥
जिनवर पूजो रे ! पूजो पूजो रे भविक जन पूजो,
हाँ रे प्रभु पूज्यां परमानन्द ॥ जिनवर पूजो रे ॥टेर॥

श्री संभव जिनेश्वर की स्तुति कर रहे हैं—हे संभवनाथ जिनराज !
'जिन' का अर्थ है, कर्म जीतने वाले श्रुतकेवली । अवधिज्ञानी और मनपर्यव ज्ञानी भी जिन कहलाते हैं; उन सब में आप राजा के समान हैं, अतः जिनराज कहलाते हैं । आप का स्वरूप अकल है, इन्द्रिय-गम्य नहीं है । स्व को और अन्य भव्य जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि, हे भव्यो ! तुम परम पूज्य परमेश्वर की पूजा करो । वे प्रभु कैसे हैं ? स्व-पर-प्रकाशक अर्थात् स्व के ज्ञानादि गुण तथा पर-धर्मास्ति-कायादि के धर्म स्वभाव को प्रकाशित करने के लिए दिनमणि अर्थात् सूर्य हैं तथा सब वस्तुओं में राग-द्वेष के अभाव रूप समता रस के राजा हैं । श्रीमद् भविक अर्थात् मोक्षरुचिसम्पन्न जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि, ऐसे तत्त्व-प्रकाशक श्री अरिहन्त भगवान को पूजो । पुनः पुनः पूजो । तुम ऐसे भगवान की पूजा करो जो स्वरूप भोगी, निर्मलानन्दमय, अज, अविनाशी, अक्षयी, अनाहारी, अशरीरी, अनन्त ज्ञानमय, अनन्त दर्शनमय एवं शुद्ध स्वरूपी हैं । ऐसे देव तत्त्व को पूजने से परमानन्द होता है ।

पौद्गलिक पदार्थों के संयोग से होने वाला सुख औपचरिक सुख है; अतः परमानन्द नहीं है । जो आत्मा का सहज अविनाशी, अप्रयासी स्वरूप सुख अव्याबाध रूप है, उसे परमानन्द कहते हैं । उस सुख की प्राप्ति अरिहन्त देव की पूजा करने से होती है ।

यद्यपि अरिहन्त देव अन्य जीव के अव्याबाध आदि गुणों के कर्त्ता नहीं हैं; किन्तु जो भव्य जीव स्वयं के शुद्ध पारिणामिक परम सिद्धत्व स्वरूप को साध्य बनाकर परमात्मा वीतराग की सेवा करता है, अवलम्बन लेता है, वह निश्चय से स्वयं के स्वरूप को प्रकट करता है। यह नैश्चयिक कारण है अर्थात् इससे स्वरूप प्रकट होता ही है—ऐसी आस्था रखनी चाहिए।

अविसंवादि निमित्त छो रे,

जगत जन्तु सुखकाज।

हेतु सत्य बहुमान थी रे,

जिन सेव्यां शिवराज ॥ जिन० ॥२॥

हे प्रभो ! आप अविसंवाद निमित्त हैं। विसंवाद उसे कहते हैं; जिसमें निर्धारण अर्थात् निश्चय न हो; किन्तु, प्रभो ! आप अविसंवाद निमित्त हैं अर्थात् निश्चय से निर्धारित कार्य को करने वाले हैं, अतः आप अविसंवाद निमित्त कारण हैं। निमित्त का लक्षण है—“कार्य भिन्नत्वे सति कर्तृत्वव्यापारत्वे सति हेतुनिमित्तमिति।” जहाँ कार्य की भिन्नता हो वहाँ कर्तृत्व व्यापार होने पर वही हेतु निमित्त है। अतः हे प्रभो ! जगत के जीवों का आत्म-मुख रूप कार्य निष्पन्न करने में आप प्रधान निमित्त कारण हैं। ऐसे सत्य हेतु अर्थात् कारण का बहुमान पूर्वक सेवन करते हुए मैं मोह के वशीभूत हुआ, तृष्णा से अस्त, पुद्गल का रागी, असंयमी, मिथ्यात्व में भूला हुआ निराधार अशरण हूँ। आप जैसे त्रैलोक्यपति परमेश्वर तीर्थंकर का योग मुझे मिला; अतः मेरा यह समय, यह घड़ी धन्य है। आप के असंख्यात आत्म-प्रदेश कर्मरहित हैं, आप निःसंगी हैं, स्वरूप भोगी हैं—ऐसे आप सद्दश देवतत्त्व का बहुमान करते हुए जो जिन अर्थात् वीतराग की सेवा करता है वह जीव स्वयं परम कल्याणमय बन जाता है। यहाँ सत्य शब्द दोनों के साथ ही जोड़ना चाहिए। हेतु सत्य अर्थात् अरिहन्त देव अपने मोक्ष रूप कार्य के हेतु हैं, वे सत्य हैं; उनका सच्चा बहुमान करना भी सत्य है। द्रव्य बहुमान—प्रभु के अद्भुत वर्ण, गंध, संस्थाना-

तिशय, वचनातिशय, प्रातिहार्य प्रमुख सभी शुद्ध हैं और बहुमान के कारण है; अतः इहलौकिक एवं पारलौकिक इन्द्रिय-मुख की आशसा छोड़कर उनका बहुमान करना चाहिए। वे बहुमान करने योग्य हैं। भाव बहुमान अर्थात् अरिहन्त के शुद्ध अनन्त ज्ञानादि गुणों का, सकल पुद्गलातीत आत्म-तत्त्व का, परम अरूपी अतीन्द्रियत्व का बहुमान भाव बहुमान कहलाता है, क्योंकि जिनशासन में नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीनों ही निक्षेप कारण रूप हैं और चौथा भाव निक्षेप कार्य रूप है, अतः जो प्रभु के अतिशयादिक के योग विकल्प हैं—वह द्रव्य बहुमान है। दर्शन गुण से प्रभुता का ज्ञान होने पर तत्त्व प्रादुर्भाव का जो बहुमान है—वह भाव बहुमान है। नामादि तीन निक्षेप भाव के कर्त्ता हैं, ये भावाभिलाषी हैं, अतः ये भी बहुमान हैं। ऐसे सत्य बहुमान से की गई सेवना अर्थात् प्रभु की आज्ञानुसार परभाव का त्याग और स्वभाव का ग्रहण ही वास्तविक सत्य बहुमान है। ऐसा बहुमान करने पर शिवराज अर्थात् निरुपद्रव स्थान, सिद्धत्व रूपी राज्य प्राप्त होता है। सांसारिक शिव औपचारिक और अल्पकालिक है, सांसारिक जीवों द्वारा मान्य है; किन्तु वास्तविक शिव तो निरुपद्रव स्थान सिद्धत्व है, जो अविनाशी और शाश्वत है।

उपादान आतम सही रे,

पुष्टालम्बन देव ।

उपादान कारण पणो रे,

प्रकट करे प्रभु सेव ॥ जिन०॥३॥

वद्यपि स्वरूप प्राप्ति में उपादान कारण ही मूल कारण है; तथापि निमित्त कारण की भी विशेषता है, उसी को बता रहे हैं—जो कारण उसी कार्य रूप में अभेद परिणत हो जाये, उसे उपादान कारण जानना चाहिए। जो कर्त्ता के व्यवहार से कार्य को उत्पन्न करने में सहकारी हो, उसे निमित्त कारण कहते हैं। कर्त्ता के व्यापार को करने में वह निमित्त कारण उस कारण से भिन्न होता है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि उपादान कारण में तथा निमित्त कारण में जो कारण

धर्म है—वह वस्तु में सत् पर्याय है अथवा असत् है अर्थात् उत्पन्न होता है। इसका उत्तर है कि जो कारण पर्याय वस्तु धर्म में हो तो सिद्ध भगवान में भी उपादान कारण प्राप्त होना चाहिए; किन्तु वह तो दिखाई देता नहीं है। और, यदि कारण दिखाई देता है तो कार्य भी दिखाई देना चाहिए; वह कार्य तो उनका सम्पूर्ण हो चुका है। यदि निगोदावस्था में भी उपादान कारण मानें, तो उनका भी आत्मसिद्धि रूप कार्य होना चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं है। कारण नियम से कार्य करता है और कारण काल तथा कार्य काल नियम से अभेद हैं। इस विषय को विशेषावश्यक के मतिज्ञानाधिकार में देखना चाहिए। अतः कारण पर्याय उत्पन्न होती है तथा कार्य सम्पूर्ण होने पर कारणता का अभाव हो जाता है। जिसकी सादि है, उसी का अन्त होता है; अतः कारण पर्याय सादि-सान्त है। यहाँ कोई कहे कि जो उत्पन्न पर्याय है, वह कब उत्पन्न हुई? तो उत्तर है कि जब कर्त्ता को कार्य की रुचि हो, उस समय कारणता उत्पन्न होती है अर्थात् भव्य तथा अभव्य सभी जीव सम्पूर्ण सिद्धता के उपादान तो हैं; किन्तु सभी सिद्धता उत्पन्न नहीं करते; क्योंकि उनके उपादान में कारणता नहीं है। यदि कारणता प्रकट हो तो कार्य उत्पन्न हो सकता है; अतः सर्व आत्मा अपने-अपने गुण प्राग्भाव रूप सिद्धता कार्य के उपादान अवश्य हैं, किन्तु श्री जिनेश्वरदेव रूप शुद्ध तत्त्व के आलम्बन से उपादान कारणता प्रकट होती है। अतः पुष्ट अर्थात् नियम से महान आलम्बन श्री अरिहन्त देव हैं, क्योंकि उस आलम्बन के बिना आत्मा अनादि दोष से निवृत्त होकर उस महान तत्त्व का आश्रय नहीं ले सकता। तीर्थकर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न अरिहन्त देव के आश्चर्यजनक अतिशय समवसरणादि का आलम्बन लेकर संसारी जीव अपने आत्म-धर्म को समीप करता है। जगत के आधार श्री तीर्थकर की ज्ञानादि गुण रूप स्वरूप सम्पदा का आलम्बन लेने पर आत्म-धर्म अवश्य उत्पन्न होता है। अतएव अरिहन्त देव उस भव्य जीव के स्वयं की शुद्ध सत्ता में प्राग्भाव से मुख्य आलम्बन हैं।

अब श्री वीतराग देव पुष्ट आलम्बन किस प्रकार हैं? इसका हेतु बताते हैं कि यद्यपि आत्मा में उपादानत्व अनादि-कालीन

है; परन्तु वह आत्मा का सिद्धता रूप कार्य नहीं करता है, क्योंकि उसका उपादान कारणत्व प्रकट नहीं हुआ। उपादान कारणत्व को प्रकट करने वाली वीतराग की सेवा, भक्ति, उपासना, पूजा आदि आत्मा को उपलब्ध नहीं हुयी। वीतराग अरिहन्त देव की द्रव्य भाव से भक्ति करता हुआ संसारी भव्यात्मा मोक्ष का साधक बनता है। जगद्दयालु, कर्मरोग के भाववैद्य, मिथ्यान्धकार नाशक दिवाकर, ममत्वभाव रहित श्री वीतराग अरिहन्त महाप्रभु की आराधना करने से आत्मा का उपादान कारणत्व प्रकट होता है और मोक्ष रूप कार्य सिद्ध होता है, अतः वे पुष्टालम्बन हैं।

कारज गुण कारण पणो रे,

कारण कार्य अनूप।

सकल सिद्धता ताहरी रे,

म्हारे साधन रूप ॥ जिन०॥४॥

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को शरीर, इन्द्रियाँ, विषय, कषाय रूप कार्य करते हुए अनन्त काल व्यतीत हो गया। जीव को जब सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हुआ तब उसे ऐसा ज्ञान हुआ कि रत्नत्रय गुण अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र को विकसित करना स्वयं आत्मा का कार्य है। तत्पश्चात् श्री वीतराग अरिहन्त की सेवा पूजा भक्ति, आगम श्रवणादि निमित्त कारण पाकर ज्ञानादिक कर्मों के क्षयोपशम से यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा, तत्त्व-भासन और तत्त्व-रमण अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र विकसित हुये। परभाव त्याग रूप भेद रत्नत्रयी की सम्प्राप्ति हुई — यह प्रथम कार्य हुआ। तदनन्तर क्षायिक अभेद रत्नत्रयो रूप स्वकार्य करने को कारण रूप से प्रवृत्ति करे। तब जो कार्य रूप थो, वही कारण रूप बन गई। वही भेद रत्नत्रयी का कारण रूप बनकर क्षायिक भाव में कार्य रूप से परिणत होती है। अतः जो कारण होता है, वही कार्य बन जाता है। यह उपादान कारण कार्य रूप पद्धति है। अब इसेही निमित्त रूप से कहते हैं :—

हे भगवन् ! आपका जो शुद्ध स्वरूप है, वही आपका कार्य गुण है; किन्तु वही भव्य मोक्षरुचि जीव के लिए कारण रूप है; क्योंकि

उस आत्मा को अपना उपादान शुद्ध करना है, आपके शुद्ध गुणयुक्त उपादान का आलम्बन लेकर उस उपादान को आपके जैसी सत्ता प्रकट करनी है। यह कार्य है अर्थात् जो कारण है, वैसा ही करने के संकल्प से कार्य है। अतः हे प्रभो ! आपकी सकल सम्पूर्ण सिद्धता, सर्व प्रदेश निरावणता, सर्वस्व धर्म प्राग्भावता मेरे लिए साधन रूप है। हे प्रभो ! परम प्रभुता रूप सम्पदा को जानकर जब मेरी आत्मा आपकी शुद्धता के साधनों का अवलम्बन लेगी तब परभाव त्यागी बनकर स्वरूपावलम्बी बनेगी। और, ऐसा होने पर मेरा सिद्धता रूप कार्य सम्पन्न होगा। अतः आपकी सिद्धता मेरे लिए कारण रूप है। उससे मैं अपना स्वरूप प्रकट करूँ, वह आपका उपकार है। अतः हे देव ! मेरे तो मात्र आप ही आधार, त्राण, शरण, सर्वस्व हैं।

एक बार प्रभु वन्दना रे,

आगम रीते थाय ।

कारण सत्ये कार्यनी रे,

सिद्धि प्रतीत कराय ॥ जिन०॥५॥

अतः श्री अरिहन्त अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनयुक्त, शुद्ध चारित्रवान, अविकारी, अकषायी, स्वरूपभोगी, स्वरूपरमणकर्त्ता, स्वरूपविलासी, त्रैलोक्यपूज्य, त्रैलोक्योपकारी, जंगमभाव सूर्य, कर्मरोग, के महावैद्य, परमेश्वर, परमोपकारी आदि अनन्त गुणशाली भगवान को आगम/सिद्धान्तानुसार विधि से एक बार भी वन्दन हो जाय अर्थात् अन्य सर्व कार्य छोड़कर मात्र वन्दन रूप कार्य गुण बहुमान पूर्वक हो। प्रभु के अद्भुत स्वरूप महाप्रातिहार्य, समवसरणादि आश्चर्यकारी अतिशयों से युक्त तीर्थकरत्व की महानता के प्रति हार्दिक विनम्रता, अहोभाग्य का गौरव हो तथा साक्षात् दर्शन के विरह में कातरतापूर्वक वन्दन हो तो मेरा मोक्ष रूप कार्य सिद्ध होगा—ऐसी प्रतीति अर्थात् विश्वास हो जाता है। कारण की सत्ता होने पर या कारण के सत्य होने से कार्य की सिद्धि का विश्वास होता ही है। सारांश यह है कि श्री अर्हन्त महाप्रभु को विधि पूर्वक वन्दन करते हुये आत्मा रूप उपादान गुणानुयायी बन गया तो निमित्त तथा उपादान दोनों कारण सत्य हो गये

और दोनों की सत्यता के सद्भाव में कार्य की सत्यता भी निश्चित है। जैसे स्त्री, पुत्र, धन, वैभव, ऐश्वर्यादि अशुद्ध निमित्तों के सद्भाव में उपादान कारण रूप आत्मा भी अशुद्ध बना रहता है; जिससे संसार भ्रमण रूप अशुद्ध कार्य होता है, वैसे ही श्री वीतराग का शुद्ध निमित्त संप्राप्त होने पर आत्मा रूप उपादान कारण भी शुद्ध परिणतिमय बन जाता है और उससे शुद्ध सिद्धता रूप कार्य की सिद्धि हो जाती है। अनादि काल से संसार-भ्रमण करते जो भाव कभी न आया, ऐसा वीतराग के प्रति बहुमान का भाव यदि एक बार आ जाय तो कार्य सिद्ध होने की प्रतीति अवश्य हो जाती है।

जो शुद्ध सत्ता वाले हैं, अन्य जीवों को संसार-भ्रमण कराना और सिद्ध बनाना जिनका कार्य नहीं है, ऐसे वीतराग भगवान तो वस्तुतः अकर्त्ता हैं। यही उनका वास्तविक स्वरूप है। इसे बताते हैं :—

प्रभु परो प्रभु ओलखी रे,
अमल विमल गुण गेह ।
साध्य दृष्टि साधक परो रे,
वन्दे धन्य नर तेह ॥ जिन०॥६॥

प्रभु श्री अरिहन्त देव की सेवा, आराधना, उपासना करने से सिद्धि प्रकट होती है। श्री वीतराग भगवान कर्ममल से सर्वथा रहित हैं, राग-द्वेषादि सर्व दोषों से मुक्त हैं, विमल अर्थात् विगतमल हैं—उज्ज्वल हैं, गुणगेह अर्थात् ज्ञानादि गुणों के गृह / आवास हैं। प्रभु की ऐसी प्रभुता को पहचान कर साध्यदृष्टि अर्थात् स्वयं की आत्मा भी प्रभु के जैसी ही है—उपर्युक्त अमल विमल ज्ञानादि गुणों से युक्त है। उस सर्व आत्म-सम्पत्ति को प्रकट करने रूप साध्य पर दृष्टि रखते हुए अर्थात् आत्म-तत्त्वरूप कार्य का आलम्बन लेकर, साधक रूप होकर स्वयं के क्षयोपशम वाले ज्ञानादि गुणों को क्षायिक—सर्वथा निर्मल करने रूप कार्य में प्रवृत्ति करते हुए शुद्धानन्दमय परमज्ञानी निर्मोही देव श्री अर्हन्त वीतराग देव परमात्मा को जो इस प्रकार वन्दन करता है, वे नर / प्राणी धन्य हैं। कृतपुण्य हैं ! ऐसा जाने, ऐसा विचार करे। कहा भी है :—

जे पुण तिलोयनाहं, भक्तिभर-पूरिएण हिअयेण ।
वंदंति नमसंति ते धन्ना पुण्णकयत्था य ॥

अर्थ—जो त्रैलोक्यनाथ भगवान को भक्ति से भरे पूर्ण हृदय से वन्दन नमस्कार करते हैं, वे धन्य हैं, वे पुण्यशाली हैं, वे कृतार्थ हैं ।

जन्म कृतारथ तेहनो रे,
दिवस सफल पण तास ।
जगत शरण जिन चरण ने रे,
वंदे धरिय उल्लास ॥ जिन०॥६॥

उन जीवों का जन्म कृतार्थ है और दिवस भी वे ही सफल हैं, जब वे जगच्छरण अर्थात् जगत के शरण रूप अर्थात् मोहमुग्ध जीवों को भवारण्य में भटकते हुये, मिथ्यात्व रूप दस्युओं के द्वारा लूटे जाते हुए प्राणियों के शरण बाण और आधारभूत श्री जिन वीतराग देव के चरणों की उल्लासपूर्वक अर्थात् अत्यन्त हर्षपूर्ण हृदय से वन्दना अर्थात् गुण-स्मरण व गानपूर्वक नमस्कृति करते हैं ।

निज सत्ता निज भाव थी रे,
गुण अनन्तचुं ठाण ।
देवचन्द्र जिनराज जी रे,
शुद्ध सिद्ध सुख खाण ॥ जिन०॥७॥

वे भगवान वीतराग महाप्रभु निजसत्ता अर्थात् अनन्त गुण पर्यायात्मक आत्मा का अस्तित्व, निज भाव अर्थात् स्व ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यादि भावों से अनन्त गुणों के स्थान हैं । सर्व देवों में चन्द्रमा के समान श्रेष्ठ श्री जिनराज जो सामान्य केवली जिनों की अपेक्षा, जिनों में राजा हैं । वे शुद्ध स्वरूप वाले तथा सिद्ध हैं । उनकी आत्मा पूर्ण सिद्ध एवं सर्वथा कर्मबन्धन से मुक्त है, वे सुख की खान/आकर हैं ।

४. श्री अभिनन्दन जिन स्तवन

(तर्ज :- ब्रह्मचर्य पद पूजिये)

क्यूँ जाणुँ क्यूँ बनी आवशे,
अभिनन्दन रस रीत हो, मित्त ।
पुद्गल अनुभव त्याग थी,
करवी जसु परतीत हो, मित्त ॥क्यूँ०॥१॥

श्री अभिनन्दन प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं कि किसी भव्य जीव को श्री वीतराग देव से एकत्व रूप से मिलने की अभिलाषा हुई; किन्तु मिलने की शक्ति स्वयं में न जानते हुए विचार करता है कि न जाने प्रभु के साथ मिलना कैसे होगा ? उन परमप्रिय प्राणेश्वर प्राणवल्लभ से मिलने की मेरी अभिलाषा कैसे पूर्ण होगी ? मिलन की दुर्लभता विचारता हुआ कहता है—हे श्री अभिनन्दन प्रभो ! हे संवरनृपनन्दन ! हे सिद्धार्थ राज्ञी के पुत्र ! आपके साथ मेरा प्रेम सम्बन्ध कैसे होगा ? उस सर्वोत्तम रस का आस्वादन कैसे कर सकूँगा ? वह कौन सा उपाय है ? उसे प्राप्त करने की कौन सी रीति है ? मैं तो पौद्गलिक / भौतिक वर्ण गन्ध रस स्पर्श का अनुभव करता रहा हूँ । इन्हीं विषय सुखों में रस का आस्वादन करता रहा हूँ। शास्त्र में पढ़ा एवं सुना है कि इन भौतिक सुखों का त्याग करने पर ही वीतराग से राग किया जा सकता है। अनादि काल के परिचित भोगोपभोगों से विरक्ति होने पर ही प्रभु परमात्मा से राग होता है और तब प्रतीति अर्थात् विश्वास होता है कि मैं शुद्ध आत्मा से प्रेम कर सकता हूँ। और, जब तक आत्मा शुद्ध स्वरूप का भोगी नहीं बने तब तक आत्म तत्त्व वाले परमात्मा से प्रीति नहीं कर सकता। प्रीति के बिना रसास्वादन नहीं होता। रस के बिना आनन्द नहीं। नीति का कथन है कि समान स्वरूप रंगरूप आचार-विचार वाले ही पारस्परिक सम्बन्ध से सुखी हो

सकते हैं। स्वयं को ही श्रीमद् कहते हैं कि मित्र ! यह तू ही विचार कर ।

परमात्म परमेश्वर,

वस्तुगते ते अलिप्त हो, मित्त ।

द्रव्ये द्रव्य मले नहीं,

भावे ते अन्य अव्याप्त हो, मित्त ॥ क्यूँ० ॥२॥

भगवान् श्री अभिनन्दन प्रभु तो परमात्मा हैं, परमेश्वर सर्वोत्कृष्ट ईश्वर हैं, अर्थात् अपने असंख्यात प्रदेशों में पारिणामिक रूप से रहे हुये अनन्त गुण पर्यायों के ईश्वर हैं। अथवा सर्व प्रकार से स्वाधीन एवं निर्दोष हैं, अतः परमेश्वर हैं। वे वस्तुगते अर्थात् मूल वस्तु आत्म स्वभाव से ही अलिप्त हैं अर्थात् सभी द्रव्य अपने स्वरूप में ही रहते हैं, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं मिलता। आत्मा भी एक द्रव्य है और वे आत्माएं अनन्त हैं, एक दूसरे में नहीं मिलतीं। सभी जीव-द्रव्य शुद्ध संग्रह नय की अपेक्षा से अलिप्त हैं, वे किसी अन्य रागादि द्रव्य से लिप्त नहीं होते। श्री अभिनन्दन प्रभु तो सर्व नयों से विशुद्ध हो गये हैं, टंकोत्कीर्ण न्याय से प्राग्भावधर्मी बन गए हैं। वे सर्वथा परद्रव्य से अलिप्त हैं अर्थात् किसी द्रव्य से लिप्त नहीं हो सकते। वे कैसे मिल सकते हैं ?

लोक में छह द्रव्य हैं—१. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. पुद्गलास्तिकाय, ५. जीवास्तिकाय, ६. काल।

१. धर्मास्तिकाय—असंख्यात प्रदेशी, अक्रिय, अचल, अचेतन, अजीव है, चतुर्दश लोक प्रमाण, अनादि अनन्त है, अरूपी है, जीव और जड़ पुद्गल की गति में सहायक है। अजीव है।

२. अधर्मास्तिकाय—असंख्यात प्रदेशी, चतुर्दश लोक प्रमाण, अक्रिय, अचल, अचेतन, अरूपी है, जीव और जड़—पुद्गल की स्थिति में सहायक है। अजीव है।

३. आकाशास्तिकाय—अनन्तप्रदेशी, लोकालोकप्रमाण, अनादि अनन्त, अक्रिय, अचल, अचेतन, अरूपी, अजीव है। जड़ एवं चेतन को अवकाश (स्थान) देता है।

४. पुद्गलास्तिकाय—अनन्तानन्त परमाणु, लोक प्रमाण, अनादि अनन्त, रूपी, अजीव, सक्रिय, अचेतन, वर्ण गंध रस स्पर्श युक्त एक-एक परमाणु वाला—ऐसे अनन्त परमाणु हैं। पूरण गलन स्वभाव वाला है।

५. जीवास्तिकाय—असंख्यात प्रदेशी, लोक प्रमाण, अनादि अनन्त, अरूपी, चेतनागुण युक्त, ज्ञान दर्शन चारित्र्य तप वीर्ययुक्त, सक्रिय, चेतना लक्षण वाले अनन्त जीवद्रव्य हैं।

ये पाँचों द्रव्य सप्रदेशी हैं, अतः अस्तिकाय कहलाते हैं।

६. काल—अप्रदेशी, अरूपी है, वर्त्तना रूप है। निश्चय नय से, पञ्चास्तिकाय की वर्त्तना रूप और व्यवहारनय से उपचार से ज्योतिष चक्र—सूर्य चन्द्रादि के चार से अढ़ाई द्वीप में उपलक्षित होता है। दिन, रात्रि-समय, आवलिका, मुहूर्त, घटी, पल-विपल, पक्ष, मास, वर्ष, आदि का बोध कराने वाला है।

इन छह द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये चार द्रव्य अपरिणामी हैं, किसी अन्य द्रव्य से नहीं मिलते अर्थात् परस्पर एक नहीं होते। अन्य द्रव्य रूप में परिणत नहीं होते। जीव, पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं, परस्पर मिल जाते हैं। जो जीव कर्म पुद्गल सहित हैं, उसी से अन्य पुद्गल मिल सकते हैं। जो सर्वथा कर्मरहित शुद्ध-सिद्ध हो गया है उससे पुद्गल का सम्बन्ध नहीं रहता। वे परस्पर पुनः एक नहीं होते। पुद्गल परमाणु तो परस्पर मिलते हैं। परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं, वे स्कन्ध संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं से बनते बिखरते रहते हैं। इस बनने-बिखरने का नाम ही पूरण गलन है। ये स्वभाव से भी बनते बिखरते हैं और प्रयोग से भी।

किन्तु जीव सकर्मा होने पर ही पुद्गल से मिलता है। वह जब

तक परानुयायी—कर्म परवश रहता है, स्वरूप को नहीं जानता, तब तक पुद्गल का अनुयायी रहता है । स्वरूप—आत्मरूप का भान हो जाने पर अर्थात् तत्त्व श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन हो जाने पर परानुयायिता क्रमशः घटती जाती है । पुद्गल को विभाव मानकर उसके प्रति हेय बुद्धि हो जाती है । फिर क्रमशः त्यागता हुआ, एक समय सर्वथा त्याग कर शुद्ध आत्मा—परमात्मा बन जाता है । प्रत्येक जीव अपनी ही सत्ता में रहता है, अन्य जीव से तद्रूप नहीं बनता । सब जीव अपनी सत्ता में रहे हुए स्वकृत कर्मों का सुख-दुःख अनुभव करते हैं । एक दूसरे के सुख-दुःख का विनिमय नहीं होता ।

मेरे भगवान् श्री अभिनन्दन प्रभु तो सिद्ध हो गये हैं, सर्व कर्मों से और कर्मबन्ध के हेतुओं से सर्वथा मुक्त बन गये हैं । उन्हें कोई पुद्गल स्पर्श नहीं कर सकता । द्रव्य, द्रव्य से मिलता नहीं—यह भी नियम है । शुद्ध आत्मा अशुद्ध आत्मा से नहीं मिल सकती, किन्तु शुद्ध से शुद्ध आत्मा भी तो नहीं मिल सकती अतः द्रव्य रूप से मिलन ही असम्भव है । उसमें भी अन्य जीवों तथा पुद्गल का अव्याप्तित्व है अर्थात् अव्याप्त ही रहते हैं; क्योंकि पर व्यापकता भी उपाधि है । प्रभु श्री अभिनन्दन देवाधिदेव का भाव धर्म अत्यन्त निर्मल हो गया है, स्वभावानुयायी बन गया है अर्थात् कर्तव्य, भोक्तृत्व, ग्राहकता, व्यापकता, आधारता, रमणता, अवस्थानत्व इत्यादि सभी स्वरूप में परिणित हो गए हैं । वे अन्य द्रव्य को कैसे दे सकते हैं ? अतः प्रभुजी के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सभी शुद्धधर्मों हो गए हैं ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का स्वरूप बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

“द्ववं गुण समुदाओ, खित्तं ओगाह वट्टणा कालो ।
गुण पज्जाय पवित्ति, भावो निअ वत्थु धम्मो सो ॥”

अर्थात् गुण पर्याय का समुदाय द्रव्य, जितने क्षेत्र में प्रदेशों की अवगाहना हो वह क्षेत्र, द्रव्य में पर्यायों का उत्पाद व्यय वर्तता है—वह काल है तथा द्रव्य के स्वयं के गुण पर्याय की प्रवृत्ति—वह भाव है । इस

प्रकार द्रव्यादि चार की परिणति—वह वस्तु धर्म है। अतः जो प्रभु परमात्मा चारों ही अपेक्षा से भिन्न हैं, वे मुझ से कैसे मिल सकते हैं ?

शुद्ध स्वरूप सनातनो,
निर्मल जेह निःसंग हो मित्त ।
आत्म विभूतें परिणाम्यो,
न करे तेह परसंग हो मित्त ॥ क्यूँ० ॥३॥

वीतराग देव तो शुद्ध—निर्दोष स्वरूप वाले हैं, ऐसा स्वरूप जिनका सनातन—नित्य है। यद्यपि पर्याय से अनित्य है; किन्तु यहाँ कूटस्थ नित्यता को अपेक्षा से नित्य कहा है। निर्मल—ज्ञानावरणादि कर्ममल से रहित हैं। निःसंग—सर्वसंग से मुक्त हैं, जिनके असंख्यात आत्म प्रदेशों में द्रव्य से किञ्चिद् भी अन्य द्रव्य का कोई अंश नहीं है अर्थात् पुद्गल द्रव्य का एक परमाणु मात्र भी नहीं है; भाव से भी जिनकी परिणति में राग-द्वेषादि नहीं है, अतः निस्संग हैं। वे परमेश्वर आत्मविभूतें—स्वयं की शुद्ध स्याद्वादरूप अनन्त, अज—अजन्मा, अविनाशी अखण्ड स्वधर्म ज्ञानादि में परिणत हो चुके हैं। वे वीतराग परसंग—अन्य किसी द्रव्य का संग नहीं करते अर्थात् सत्ता से कोई जीव द्रव्य परसंगी नहीं है। सकर्मा होने से जीव विभाव में परिणत होता है किन्तु श्री अभिनन्दन भगवान की आत्मा तो सर्वथा निष्कर्म—आठ कर्मों से पूर्ण मुक्त हो चुकी है। मात्र रत्नत्रय—ज्ञान दर्शन चारित्र और अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध स्वरूप हो गये हैं। वे किसी प्रकार भी परसंग नहीं कर सकते; तो ऐसे प्रभु से कैसे मिलन हो ? हे भगवन् ! आप से मिले बिना मैं सुखी कैसे हो सकता हूँ ? हे मेरे आत्मन् ! मित्र ! क्या उपाय है ?

परा जाणूँ आगम बले,
मलवूँ प्रभु तुम साथ हो मित्त ।
प्रभु तो स्वसम्पत्तिमयी,
शुद्ध स्वरूप नो नाथ हो मित्त ॥ क्यूँ० ॥४॥

उपर्युक्त विचार करते हुए विवेक हुआ कि—अहो ! आगम-शास्त्र, “आप्तवचनादाविर्भूत आगमः” श्री वीतराग तीर्थंकर भगवान् के वचन से प्रकट हुये वाक्य, आगम-शास्त्र कहलाते हैं। उनके श्रवण अध्ययन आदि से अर्थात् श्री गुरु महाराज के मुखारविन्द से श्रवण किया है और स्वयं भी पढ़ा है कि मेरी आत्मा का स्वरूप भी सिद्ध आत्माओं के जैसा ही है, मैं भी भव्य / मुक्त होने योग्य हूँ। अतः प्रभु से मिलने योग्य हूँ। मैं मिल सकता हूँ, किन्तु मैं भी अपने आत्मा को कर्ममल रहित बनाऊँ, तभी मिल सकूँगा; क्योंकि प्रभु तो स्वसम्पत्ति-अनन्त ज्ञानादिमय हैं। उनके असंख्यात प्रदेश सर्वथा शुद्ध हो चुके हैं। उनके सभी प्रदेशों में ज्ञानादि गुण व्याप्त हैं। उनके साथ मिलने की रुचि वाले को भी वैसा ही बनना पड़े, तभी मिलन हो सकता है। वे स्वयं शुद्ध स्वरूप वाले हैं तथा आत्मस्वरूप के नाथ—स्वामी रक्षक हैं। वे अशुद्ध आत्मा के साथ कैसे मिल सकते हैं? और मैं अशुद्ध आत्मा हूँ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि किसी भी द्रव्य में अन्य पर-द्रव्य से मिलने की सामर्थ्य नहीं है, न वैसा स्वभाव है; तब साधक का आत्म द्रव्य भी वस्तु धर्म स्वभाव से शुद्ध स्वरूप वाला है। उसकी सत्ता में भी तो अन्य द्रव्य-अन्य आत्मा से मिलने का स्वभाव नहीं है तो फिर किस प्रकार मिल सकता है? इसका समाधान आगे की गाथा में पढ़िये—

पर परिणामिकता अच्छे,

जे तुझ पुद्गल योग हो मित्त ।

जड़ चल जग नी ऐंठ नो,

न घटे तुझने भोग हो मित्त ॥क्यूँ०॥५॥

हे आत्मन् ! मित्र ! सुनो—अनादि अतीत काल से संसारी जीव का स्वभाव—आत्मिक सुख ज्ञानावरणादि कर्मों से आवृत्त—ढँका हुआ है। भोग धर्म क्षयोपशम है अर्थात् कर्मों के क्षयोपशम से भोगा जाता है। कुछ न कुछ सुख रूप या दुःख रूप भोग आत्मा को भोगना ही पड़ता है। जब तक आत्मा स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है, सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान नहीं होता, तब तक पौद्गलिक भौतिक वर्ग गन्ध-रस-स्पर्श जो वास्तव में आत्मा के लिए अयोग्य हैं; उन्हें भोगता हुआ परपरिणामी-परभावभोगी बना हुआ है। यह परपरिणामिकता जीव का अनादि स्वभाव सा बन गया है। पर, वास्तव में यह आत्म स्वरूप नहीं है। अज्ञानवश आत्मा परभाव-कर्त्ता, परभाव का ही भोक्ता बना रहता है, परभाव में ही रमण करता है, परभाव का ही ग्रहण करने वाला है। इस प्रकार परभावमय बना हुआ है। यहाँ प्रश्न होता है कि जो शुद्ध आत्म द्रव्य है, वह परभाव का कर्त्ता-भोक्ता कैसे बना ? उत्तर—उसकी चेतना अनादि से पुद्गलों के संयोग से पुद्गलावलम्बी बनी हुयी, पर की कर्त्ता-भोक्ता हो रही है। यही कह रहे हैं कि, हे चेतन ! पुद्गल के संयोग से जो तेरी चेतना परपरिणामी बनी हुई है; वह अनादिकाल की अशुद्धता विजातीय है, दोष स्वरूप है और आत्मा के लिए अयोग्य है। परवस्तु का भोग, ग्रहण आदि स्तेन-चौर्यवृत्ति है। यह तेरे लिए योग्य नहीं, क्योंकि सभी भोग्य वस्तुएँ पर जड़ द्रव्य है, चल है। जगत् के जीवों द्वारा भोगकर परित्यक्त की गयी भूँठन है।

जड़ पुद्गल द्रव्य द्रव्य रूप से परमाणु रूप से तो ध्रुव है; किन्तु पर्याय रूप से स्कन्धावस्था में अध्रुव-अनित्य है। वर्णादि स्कन्धादि सभी पर्याय अवस्थाएँ पलटती हैं और सभी परमाणु संसारी/संकर्मा सभी जीवों के द्वारा शरीर रूप में, भाषा रूप में, मन रूप में, आहार रूप में, श्वासोच्छ्वास रूप में, अनन्त-अनन्त बार ग्रहण कर-के भोग कर छोड़े गए भूँठन स्वरूप है। आत्म द्रव्य तो स्वरूप भोगी है, अतः हे चेतन ! इन पुद्गल जड़ वस्तुओं का भोग तेरे लिए उचित नहीं; क्योंकि हंस मोती को छोड़कर अन्य वस्तु को अन्य वस्तु-अन्य कीच, कूड़ा-ककट आदि में कभी अपनी चोंच तक नहीं डालता। तुम्हें भी जड़ वस्तुओं का भोग करना छोड़ देना चाहिए।

शुद्ध निमित्ती प्रभु ग्रहो,

करी अशुद्ध परहेय हो मित्त ।

आत्मालम्बी गुण लयी करी,

सहु साधक नो ध्येय हो मित्त ॥क्यूँ०॥६॥

इस कारण अशुद्ध निमित्त रूप पर-जड़ वस्तुओं के भोग का परित्याग कर शुद्ध निमित्ती कर्मरहित पूर्णानन्द रूप प्रभु का आलम्बन लो । अर्थात् इस आत्मा में जो पर-पुद्गल जड़ की अनुयायिता है, उसे दूर करने के लिए अशुद्धालम्बन का परित्याग कर श्री वीतराग अर्हन्त देव का आलम्बन लेना चाहिए । अतः शुद्ध निमित्ती प्रभु का ग्रहण करो अर्थात् प्रभु को भजो, उन्हीं की सेवा करो; किन्तु इससे पूर्व पर-वस्तु जो हेय है, उसका परित्याग कर श्री वीतराग अर्हन्त देव की उपासना करो । वे प्रभु आत्मा लम्बी अर्थात् भाव आत्मा का ही आलम्बन ग्रहण करने वाले एवं उसी में तन्मय हो जाने वाले हैं । गुणलयी अर्थात् आत्म गुण-ज्ञान-दर्शन चारित्र्यादि में तल्लीन रहते हैं । वे वीतराग कैसे हैं ? मोक्ष तत्त्व के सभी साधक सम्यग्दृष्टि, देशविरति, सर्वविरति, श्रेणी-उपशम श्रेणी, क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ शुक्ल ध्यान में लीन सभी आत्माओं के लिए ध्येय हैं अर्थात् श्री सिद्ध भगवान् सभी के ध्येय हैं ।

ध्यान के दो प्रकार हैं—१. सालम्बन २. निरालम्बन । श्री अरिहन्तादि का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, वह सालम्बन ध्यान है और आलम्बन रहित जो मात्र आत्मा का ध्यान होता है वह निरालम्बन ध्यान कहलाता है । श्री अभिनन्दन भगवान् का ध्यान सालम्बन ध्यान है । वे ही सर्व साधकों के ध्येय हैं ।

जिम जिनवर आलम्बने,
वधे सधे एकतान हो मित्त ।

तिम तिम आत्मा लम्बनी,

ग्रहे स्वरूप निदान हो मित्त ॥ वयूँ ० ॥ ७ ॥

अर्थ—ऐसा करते हुए ज्यों-ज्यों साधक आत्मा श्री जिनेश्वर देव के तत्त्वालम्बन में बढ़ता है अर्थात् सर्व कर्मों के क्षयोपशम से, चेतना की सम्पूर्ण शक्ति से अरिहन्त की शुद्धता में तन्मय हो जाने पर प्रभु के साथ एकतान-एकत्व का अनुभव सधे अर्थात् समस्त परभाव की रमणता नष्ट होकर आत्मा परमात्म स्वरूप से व्याप्त हो जाती है,

चेतना उसी में तन्मय होती है; त्यों-त्यों यह साधक आत्मा का जो साध्य स्वरूप प्राप्ति है, उसका आलम्बन लेने वाला होता है और उपादान का स्मरण—चिन्तन ध्यान रूप हो जाता है तथा स्वरूप का निदान—मूल कारण ग्रहण अर्थात् अंगीकार कर लेता है।

स्व स्वरूप एकत्वता,
साधे पूर्णानन्द हो मित्त ।
रमे भोगवे आत्मा,
रत्नत्रयी गुणवृन्द हो मित्त ॥क्यूँ०॥८॥

अर्थ—वह साधक जब निज स्वरूप एकत्वता—ज्ञान-दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय की एकता को ग्रहण कर लेता है, तब पारिणामिक परम तत्त्व आत्मा में एकत्व, शुद्ध स्वरूप रमण कर्त्ता, शुद्ध स्वरूप भोगी हो जाता है और पूर्णानन्द—सम्पूर्ण आत्यन्तिक एकान्तिक अनन्तातिशय अबाधक केवल निराबाध स्वाधीन आत्मसुख की सम्प्राप्ति हो जाती है। फिर यह आत्मा स्वयं के रत्नत्रयी गुणवृन्द—ज्ञानादि गुणों के समूह में रमता है, उन्हीं का भोग करता है। तन्मय तद्-विलासी स्वाभावानन्दी बन जाता है अर्थात् सिद्ध होकर सादि अनन्तकाल स्वपारिणामिक रूप से सिद्धशिला पर विराजमान हो जाता है।

अभिनन्दन अवलम्बने,
परमानन्द विलास हो मित्त ।
देवचन्द्र ! प्रभु सेवना,
करि अनुभव अभ्यास हो मित्त ॥क्यूँ०॥९॥

अर्थ—इस प्रकार अभिनन्दन प्रभु का अवलम्बन लेने पर परम आनन्द का विलास सम्प्राप्त होता है। सर्व देवों में चन्द्रमा के समान हे श्री अभिनन्दन भगवन् ! आपकी सेवना, पूजा, उपासना, आराधना जो करे, वह अनुभव के अभ्यासपूर्वक करे। यही साधना आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति में अव्यर्थ कारण है। इसी प्रकार आत्मा को

अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है। श्रीमद् देवचन्द्र स्वयं को ही प्रभु स्तुति व्याज से सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे देवचन्द्र ! ऐसे प्रभु की सेवा अनुभव के अभ्यासपूर्वक करो; जिससे परमानन्द के विलास की अनुभूति हो। प्रायः सभी स्तवनों में स्वनाम का निवेश युक्तिपूर्वक किया है।



५. श्री सुमति जिनेन्द्र स्तवन

(राग—कङ्खा—धार तरवार नी०)

अहो ! श्री सुमति जिन ! शुद्धता ताहरी,
स्वगुण पर्याय परिणाम रामी ।
नित्यता एकता अस्तित्व इतर युत,
भोग्य भोगी थको प्रभु अकामी ॥अहो०॥१॥

अर्थ—अहो ! श्री सुमतिनाथ भगवन् ! आपकी शुद्धता आश्चर्य स्वरूप है । आपके स्वगुण—ज्ञान दर्शन चारित्र्यादि, तथा पर्याय—१. द्रव्य पर्याय, २. गुण पर्याय, ३. द्रव्य व्यञ्जन पर्याय, ४. गुण व्यञ्जन पर्याय, ५. स्वभाव पर्याय है । सहभावी धर्म को गुण कहते हैं और क्रमभावी को पर्याय कहते हैं । जैसा कि श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

गुणाणामासन्नो द्रव्यं एगदव्वासिया गुणा ।
लक्षणं पञ्जबाणं तु, उभन्नो नित्सिया भवे ॥

अर्थ—गुणों का आश्रय द्रव्य है । उस द्रव्य के गुण उसी द्रव्य का आश्रय लेकर रहते हैं । लक्षण और पर्याय दोनों द्रव्य और गुण के आश्रित रहते हैं ।

ऐसी शुद्धता के अर्थात् गुण और पर्याय के परिणामन में ही रमने वाले हैं । अर्थात् परभाव—पौद्गलिक शरीरादि से निवृत्त होकर स्वधर्म स्वभाव में ही रमण करने वाले हैं । आपकी शुद्धता कैसी है ? नित्यतायुक्त है—“तद्भावाव्ययत्वं नित्यत्वम्” उस द्रव्य के भाव से दूर न होना ही नित्यत्व है । तथा एकता अर्थात् एकत्व, अस्तित्व—अस्तित्व और इनसे इतर—अनित्यत्व अनेकत्व नास्तित्व धर्मयुक्त भी है, क्योंकि

जो नित्य है, वहीं अनित्य भी है—अन्यापेक्षा से। जो एक है—अन्य अपेक्षा से अनेक भी है। और, जहाँ अस्तित्व है वहाँ अन्य अपेक्षा से नास्तित्व भी है। यही आश्चर्य का विषय है। स्वयं के गुण पर्याय ही आपके भोग्य हैं, उन्हीं के आप भोगी हैं। इन स्वगुणादि के भोग की कामना रहित होने से आप अकामी हैं, अर्थात् स्वरूपभोगी कामनारहित (वाञ्छा अभिलाषामुक्त) होता है—अतः अकामी है। स्वआत्मक्षेत्र से पृथक् पुद्गल के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के भोग की वाञ्छा को कामना कहते हैं। इन वर्णादि का भोग आत्मा के नहीं, जो अशुद्ध आत्मा है, मिथ्यात्व मोहनीयादि कर्मसहित आत्मा है, उसी के इनका भोग है। शुद्ध आत्मा तो ज्ञानादि गुण जो स्वक्षेत्र व्यापक हैं, पूर्ण व्यक्त हो गए हैं उन्हीं के भोगी हैं। मेरे जैसे साम्राज्य के लिए तो यह भी आश्चर्यकारक है।

अब नित्यत्व अनित्यत्व आदि धर्मों की समझाते हैं—

ऊपजे व्यय लहे तदपि तेहवो रहे,

गुण प्रमुख बहुलता तहवि पिण्डी॥

आत्मभावे रहे अपरता भवि ग्रहे,

लोकप्रदेशमित परा अखण्डी ॥ अहो ० ॥ २ ॥

अर्थ—जगत् में छह द्रव्य हैं, उसमें से काल उपचार से द्रव्य है, अर्थात् अन्य द्रव्यों के अतीत, वर्तमान और भविष्य का बोध कराने में काम आता है। शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। उनमें से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय—ये तीन—एक-एक द्रव्य हैं। जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं। द्रव्य के अगुरु लघु पर्याय में गुण, हानि-वृद्धि रूप चक्र एक साथ जल के आवर्तवत् चलता रहता है, वह एक द्रव्य है। जिसका चक्र भिन्न हो, वह सिन्न द्रव्य है। उन सभी द्रव्यों में उत्त्पाद व्यय ध्रौव्य होता रहता है। सत् के नित्यानित्य है। द्रव्य में ध्रौव्य सदा रहता है और पर्यायों में उत्पाद व्यय होता रहता है। जैसा कि विशेषावश्यक स्थल में कहा है—

“तं जइ जीवो नासे तण्णासो होइ सब्बसो नत्थि ।

जं सो उप्पाय-व्यय-ध्रुव धम्माणंतपज्जाओ ॥५४३॥

सब्बं चिच्चय पइसमयं उप्पज्जइ नासए य निच्चं च ।

एवं चेव य सुह-दुक्ख-बंध-मोक्खाइ सब्भावो ॥५४४॥

अर्थ—यदि जीव का व्यय-नाश होता है, तो वह सर्वथा नहीं होगा; क्योंकि उत्पाद व्यय धर्मी अनन्त पर्याय हैं, द्रव्य तो ध्रुव है।

वे पर्याय ही नित्य-प्रति समय उत्पन्न और नष्ट होते हैं और इसी कारण सुख दुःख मोक्षादि का सद्भाव है। यहाँ युक्तियां जानने के लिए महाभाष्य पढ़ना चाहिए—

इस प्रकार जीव का नित्यानित्य स्वभाव है, उसे बताते हैं :- पूर्व पर्याय का व्यय (नाश) और अभिनव पर्याय का उत्पाद (उत्पत्ति) होता है। यथा—एक प्रदेश में अगुरु लघु पर्याय अनन्त गुण हैं, दूसरे प्रदेश में उससे अनन्तभाग हीन हैं। तृतीय प्रदेश में असंख्यात गुण-वृद्धि है, चतुर्थ पर्याय में संख्यात गुण-वृद्धि है। इस प्रकार असंख्य विभाग हैं। वे प्रति-समय परावर्त रूप हैं। वे जहाँ अनन्त गुण हैं, वहाँ असंख्यात गुण हो जाते हैं। इस कारण जिस प्रदेश में अनन्त गुण हट गया, उसमें उसका व्यय हो गया और असंख्यात गुण उत्पत्ति हुई वह उत्पाद हो गया। उसमें जो अगुरु-लघुत्व था, वह ध्रुव / निश्चल रहा। सत् रूप से ही रहा। ज्ञेय का ज्ञान करना यह ज्ञान का धर्म-स्वभाव है। ज्ञेय के परिवर्तन होने पर ज्ञान भी पलट जाता है। यदि ज्ञान नित्य हो तो उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता; अतः विवक्षित समय में केवल-ज्ञान के अनन्त अतीत धर्म स्वभाव हो गये, उन्हें जानता है। वर्तमान में अनन्त धर्म हैं, उन्हें भी जानता है तथा अनागत काल में अनन्त होंगे—उन्हें भी जानता है। यद्यपि हो चुके और भविष्य में होंगे—वे सभी ज्ञेय के धर्म हैं; किन्तु उन्हें जानने का गुण-धर्म ज्ञान में है। परज्ञेय का ज्ञातृत्व भी (जाणपणा) परानुयायी नहीं होता।

विषयभेदाद् विषयिणोऽपि भेदः, ज्ञेयभेदाद् ज्ञानभेदः, पुनः ज्ञानभेदः, यावन्तो हि ज्ञेयस्य पर्यायास्तावन्तस्तदेव भासकत्वेऽस्याप्येष्टव्या इति बृहद्भाष्ये ।

अर्थ—विषय भेद से विषयी का भी भेद होता है। ज्ञेयभेद से ज्ञान का भी भेद हो जाता है। फिर ज्ञान भी ऐसा ही है। जितने ज्ञेय के पर्याय हैं, उतने ही भासकत्व रूप से ज्ञान के भी इष्टव्य हैं अर्थात् ज्ञान के पर्याय भी उतने ही होते हैं।

जो ज्ञान वर्तमान रूप से जानता है, वही ज्ञेय को अतीत रूप से जानता है और जो अनागत है, उसे भी वर्तमान में जानता है। ज्ञान के ये पर्याय भासकत्व और वेतृत्व रूप में परिवर्तित होते रहते हैं। इससे पूर्व पर्याय का व्यय, उत्तर पर्याय का उत्पाद और ज्ञान रूप से ध्रुवत्व रहता है। इसी प्रकार दर्शन चारित्रादि गुण भी जानने चाहिए। अतः हे सुमतिनाथ जिन ! आपकी शुद्धता कैसी है ? जिस समय उत्पन्न होती है, उसी समय व्यय हो जाती है, फिर भी वैसी ही रहती है अर्थात् मूल ध्रुव धर्म—जो नित्यता है, वह नष्ट नहीं होता। पर्याय पलटते हैं, उन्हीं में उत्पाद-व्यय होता रहता है। तथा एक ही आत्मा में ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण, वीर्यगुण, दानगुण, लाभगुण, भोगगुण, उपभोगगुण, अरूपीगुण, अगुरुलघुगुण, अव्याबाधगुण, आदि अनन्तगुण हैं। वे सर्वगुण भिन्न-भिन्न हैं अतः अनेकता है। वे सभी गुण समुदाय रूप हैं और प्रत्येक आत्मा में रहते हैं। वे आत्मा को छोड़कर कभी भिन्न क्षेत्री—अन्य द्रव्यों में नहीं रहते। उन अनन्त गुण-पर्यायों का पिण्ड रूप आत्मा है; अतः एक रूप है। पुनः हे प्रभो ! आप अस्तित्व रूप हैं। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव रूप में अस्तित्व है। वह अस्तित्व भाव कभी नष्ट नहीं होगा। अतः हे भगवन् ! आप सदा आत्म-भाव में ही रहते हैं। अपर—दूसरे द्रव्य का भाव कभी ग्रहण नहीं करते। इस कारण स्यात् अस्तित्व रूप हैं। स्वयं के धर्म में ही आत्मभाव में रहते हैं और कदापि परभाव में नहीं जाते; पर द्रव्य के धर्म का आप में स्यात् नास्तित्व है। आप कभी पर द्रव्य का धर्म-भाव ग्रहण नहीं करते, कभी पररूप में परिणत नहीं होते, अतः स्यात् अस्ति-नास्ति रूप है। यहाँ सप्तभंगी उत्पन्न होती है, उसे बताते हैं—

१. स्यादस्ति—आपका स्वद्रव्य अर्थात् आत्मा अपने गुण पर्याय का समुदाय है। आत्मा का अगुरुलघु गुण विभागीकृत असख्य प्रदेशों

में रहता है, वही स्वक्षेत्र है। उत्पाद व्यय रूप प्रवर्तना स्वकाल है और ज्ञान के अनन्त पर्याय, दर्शन के अनन्त पर्याय, चारित्र के अनन्त पर्याय, अंगुलघु गुण के अनन्त पर्याय स्वभाव हैं। इन सर्व की अपेक्षा से 'अस्तित्व' भी आप में है।

२. स्यान्नास्ति—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभाव की अपेक्षा से आपमें 'नास्तित्व' है।

३. स्यादस्ति स्यान्नास्ति—ये दोनों भी वस्तुधर्म से आप में विद्यमान हैं। अतः 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' है।

४. स्यादवक्तव्य—ऐसे उपर्युक्त धर्म-स्वभाव एक द्रव्य में एक समय में हैं, अथवा वस्तु में अनन्त धर्म हैं, जो वचन द्वारा अगोचर हैं, ऐसे धर्म 'अवक्तव्य' हैं।

५. स्यादस्ति अवक्तव्य—यह 'अवक्तव्य' अस्ति धर्म का भी है।

६. स्यान्नास्ति अवक्तव्य—यह 'अवक्तव्य' नास्ति धर्म का भी है।

७. स्यादस्ति नास्ति युगपद् अवक्तव्य—वह अस्ति नास्ति धर्म एक साथ नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार सामान्य से सप्तभंगी का स्वरूप कहा। इसी प्रकार नित्य अनित्य की, एक अनैक की, वक्तव्य अवक्तव्य की, गुण पर्याय की, द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक की सप्तभंगी होती है। इस प्रकार अनन्त सप्तभंगी हो सकती हैं। इस सप्तभंगी से सर्व पदार्थ अपने स्वभाव में ही रहते हैं; परिवर्तन नहीं होता। इसी कारण आप अस्ति नास्ति स्वरूप हैं। स्वधर्म रूप से ही रहते हैं, परधर्म को ग्रहण नहीं करते। पुनः है 'प्रभो'! लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, आप उतने ही असंख्य प्रदेश वाले हैं। उन असंख्य आत्म प्रदेशों का स्वरूप—षड् गुण हानि-वृद्धि रूप, अंगुलघु पर्याय का तरतमयोग, विभाग रूप से उनकी स्थिति, शृंखला की कड़ियों के समान ज्ञानादि गुणों का अवस्थान क्षेत्र, क्षयोपशम काल में कार्याभ्यास में तरतमता, इनका स्वरूप कम्मपयडी प्रकरण के योग स्थान अधिकार में तथा

बृहत्कल्पभाष्य में संयम श्रेणी अधिकार में है, वहाँ से जानना चाहिए । तथा क्षायिक भाव में सर्वगुणों की समानता रहती है किन्तु अगुरुलघु पर्याय का तारतम्य (कमीबेशी) सर्वदा रहता है; अतः प्रदेश धर्म है । अथवा सर्वगुण पर्याय तुल्य विभाग में विभाजित होते हैं, किन्तु किसी भी समय पृथक्-पृथक् खण्डित नहीं होते अतः अखण्ड रूप हैं अर्थात् असंख्यात प्रदेश रूप अवयवता है; फिर भी वह भिन्न नहीं होती । यह भी विस्मयकारक है ।

कार्य कारण पणो परिणमे तहवि ध्रुव,

कार्य भेदे करे पण अभेदी ।

कर्तृता परिणमे नव्यता नवि रमे,

सकल वेत्ता थको पण अवेदी ॥अहो०॥३॥

अर्थ—जीव द्रव्य में जितने गुण हैं, वे सब स्वयं का कार्य करते हैं और जो उपादान कारण रूप है, वही कार्य बन जाता है । यहाँ प्रश्न होता है कि जो पूर्वकाल में कारण है और उत्तरकाल में कार्य बन जाता है, तब यह तो जमाली का मत है । यदि कारण-काल और कार्य-काल भिन्न हों तो कारण-काल का विनाश होने पर कार्यकाल में कारण बिना कार्योत्पत्ति होगी और कारण बिना कार्य मानने पर अनेक दोषों की उत्पत्ति होगी । जैसे घट से पट कार्य और पट से घट कार्य । अतः कारण बिना कार्य नहीं हो सकता । इस कारण, कारण भाव तथा कार्य भाव दोनों ही एक समय होते हैं । यह जैन दार्शनिक मान्यता है । इस विषय का वर्णन 'विशेषावश्यक भाष्य' में विस्तार से है । जबकि साह्य कृत्रिम उत्पत्ति कारण कार्य में एक-कालता है तब सहज अकृत्रिम कारण-कार्यता एक काल में ही होती है; अतः जीव का केवलज्ञान गुण सर्व विशेष व सामान्य को जानता है । इसमें सर्व का ज्ञान रूप कार्य है और ज्ञान गुण जानने रूप कार्य में प्रवृत्त होता है—यह कारण है तथा उसी समय कारण कार्य रूप में परिणत होता है । ज्ञान गुण भी सदा ध्रुव है । ऐसे ही दर्शनादि अनन्त गुण हैं, वे भी सब इसी रीति से परिणत होते हैं । जहाँ कारणता का व्यय—वही कार्य का

उत्पाद और कार्यता का व्यय—वहीं कारणता का उत्पाद । इस प्रकार सर्व द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रुव धर्म है । यहाँ कोई कहे कि उत्पाद और व्यय स्वतः नहीं होते, पर-प्रत्ययी हैं अर्थात् परनिमित्त से होते हैं । ऐसा कहना भूल है, क्योंकि परप्रत्ययी धर्म वस्तु का लक्षण नहीं होता । लक्षण तो स्वधर्म का ही होता है । इस विषय में तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार की साक्षी उद्धृत करते हैं—

अथ यो व्याचक्ष्येते व्ययोत्पादौ न स्वतो व्योम्नः किन्तु परप्रत्ययाज्जायेतेऽवगाहकसन्निधानायत्तावुत्पादव्ययाविति तेषां कथम-लोकाकाशेऽवगाहकाभावात् अर्द्धवैशसं च सतोलक्षणं लक्षणस्य साध्याऽव्यापित्वं चेष्ट्यते स्थित्युत्पादव्ययत्रयमिति । अत्रोच्यते—य एवं महात्मानस्तर्कयन्ति स्वबुद्धिबलेन पदार्थस्वरूपं तेऽत्र निपुणतरमनुयोक्तव्याः, कथमेतत् वयं तु विस्त्रसापरिणामेन सर्ववस्तूनामुत्पादादित्रयमिच्छामः, प्रयोगपरिणत्या जीवपुद्गलानामित्थं तावदस्मद्दर्शनं विशुद्धसिद्धान्त-सद्भावं अस्मदुक्तार्थानुगुणमेव च भाष्यकारेणाप्युच्यते ।

अर्थ—अब जो दोनों ऐसा कहते हैं कि व्यय और उत्पाद आकाशद्रव्य के स्वतः नहीं होते, अवगाहक की सन्निधि के स्वाधीन उत्पाद व्यय होते हैं । उनके मन में अलोकाकाश में जहाँ अन्य द्रव्य का अभाव है वहाँ अवगाहक के अभाव में उत्पाद व्यय कैसे होंगे ? और, अर्द्ध वैशस् अर्थात् आधी विशिष्टता सत् का लक्षण नहीं होता, हमें लक्षण का साध्य से व्यापी होना इष्ट है । अर्द्ध व्यापित्व लक्षण नहीं होता । स्थिति, उत्पाद, व्यय तीनों ही सद्वस्तु के लक्षण हमें इष्ट हैं । यहाँ कहते हैं जो महात्मा स्वबुद्धि बल से ऐसा तर्क करते हैं, पदार्थ का स्वरूप ऐसा मानते हैं, उन्हें निपुणता से ऐसे समझाना चाहिए कि महानुभावों ! ऐसा कैसे हो सकता है ? हम तो विस्त्रसा—स्वभाव परिणाम से सर्व वस्तु द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रुवता मानते हैं तथा जीव और पुद्गलों का प्रयोग परिणति से । इस प्रकार पहले हमारे सिद्धान्त की अविरोधता और सद्भाव को समझो । हमारे कहे सिद्धान्त के अनुसार ही भाष्यकार श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी कहा है । ऐसे वचन देखकर श्रद्धा को यथार्थ और दृढ़ करना चाहिये ।

हे भगवन् ! आपके गुण कार्यरूप से परिणत होते हैं। इससे उनमें उत्पाद व्यय है और गुण का अभाव नहीं होता, वह ध्रुव धर्म है; अतः स्यान्नित्यम्, स्यादनित्यम् ऐसा स्वरूप है। यह भी आश्चर्यजनक है, जो काल को इसमें परत्व कहते हैं, उन्हें उत्तर देना चाहिए कि काल तो पंचास्तिकाय से भिन्न नहीं है तो फिर परत्व क्यों कहते हैं ? और, आत्मद्रव्य में जितने-जितने गुण हैं, वे सब भिन्न रूप से अपना-अपना कार्य करते हैं। ज्ञान जानने का, दर्शन देखने का, सम्यक्त्व वस्तु-निर्द्धारण का, चारित्र्य स्थिरता रूप कार्य करता है और अमूर्तगुण अरूपित्व कार्य का कर्त्ता है। इस प्रकार सर्व गुण स्व-स्व कार्य के कर्त्ता हैं। ऐसा कार्यभेद होने से वस्तु में अनेकता का स्वभाव है; अतः भेद स्वभाव है, किन्तु उस कार्य धर्म का कारण किसी द्रव्य से या क्षेत्र से पृथक् नहीं होता—इस कारण अभेद रूप है। जैसे सुवर्ण में पीतत्व, गुरुत्व और स्निग्धता। कार्य भेद से ये तीनों धर्म प्राप्त होते हैं, परन्तु ये कभी सुवर्ण से पृथक् नहीं होते। ऐसे ही आत्मा के अनन्त गुण भी भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, परन्तु वस्तुधर्म—आत्मधर्म से भिन्न नहीं हैं। कार्य तो भेदें अर्थात् भिन्न रूप से करते हैं। परन्तु, अभेदी हैं अर्थात् भेद रहित अभिन्न हैं। प्रति समय कर्तृत्व रूप से हैं।

यद्यपि पंचास्तिकाय में चार द्रव्य अजीव भी अस्तित्व रूप हैं; पर वे अकर्त्ता हैं, एक मात्र जीवास्तिकाय स्वतन्त्रकर्त्ता है, स्वाधीन रूप से कारणावलम्बी होकर कार्य की निष्पत्ति करता है—अतः वह कर्त्ता कहलाता है। जैसे घट निर्माण रूप कार्य, उसका कर्त्ता कुम्भकार। वैसे ही ज्ञानादि कार्य का कर्त्ता आत्मा है; अतः कर्तृत्व रूप से परिणत होता है, किन्तु कोई नवीन रूप में रमण नहीं करता अर्थात् प्रति समय पर्याय में परिणत होता हुआ भी कुछ नया नहीं करता। उसका अस्ति धर्म वैसा ही रहता है। पुनः सकल अर्थात् सर्व छह द्रव्य हैं, उनके गुण पर्याय स्वभाव इनके उत्पाद रूप, व्यय रूप, ध्रुव रूप के अतीत अनागत वर्त्तमान काल—तीनों ही काल के आप वेत्ता हैं, इन सबको जानते हैं। फिर भी आप अवेदी अर्थात् स्त्री, पुरुष, नपुसंक वेद से रहित हैं। अतः वेत्ता होते हुए भी आप अवेदी हैं। यह भी आश्चर्य ही है।

शुद्धता बुद्धता देव ! परमात्मता,

सहज निज भाव भोगी अयोगी ।

स्व-पर उपयोगी तादात्म्य सत्ता रसी,

शक्ति प्रयुज्जतो न प्रयोगी ॥अहो०॥४॥

अर्थ—पुनः हे देव ! शुद्धता—सकल पुद्गल/कर्मादि जड़ से मुक्त संकरता अर्थात् मिश्रता रहित हैं। बुद्धता—केवलज्ञान, केवलदर्शन की सम्पूर्णता से युक्त पूर्ण बोध स्वरूप हैं, पूर्ण ज्ञाता द्रष्टा हैं। देव—‘दीव्यति इति देव’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार रमणीशील हैं। अर्थात् स्वयं के विशुद्ध स्वरूप में ही क्रीड़ा करते हैं अर्थात् देवजयी कान्तिवाले पूर्ण हर्ष वाले हैं। परमात्मा—आपकी आत्मा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से मुक्त है, अतः परम श्रेष्ठ है। सम्पूर्ण रूप से परमात्म स्वरूप के भोक्ता हैं। परमात्म-भाव को प्राप्त हो गये हैं। परमात्म-भाव के ही समस्त रूप से स्वामी हैं। सहज अर्थात् अकृत्रिम भाव तथा स्वयं के ज्ञानादि अनन्त धर्म के भोगी हैं—आस्वादन करते हैं। तथापि अयोगी—भजन, वचन, काय रूप योगों से रहित हैं। जिनका अयोग्योपशमी वीर्य है, उनके मन, वचन, काया की प्रवृत्ति है। आप तो क्षायिक वीर्य वाले हैं अर्थात् पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म की संख्या क्षय हो गया है। जो मनोवर्गणा, भाषावर्गणा और शरीर वर्गणा योग के अवष्टम्भ के हेतु हैं—उन्हें द्रव्य योग कहते हैं। अवष्टम्भग्राहक वीर्य परिणाम—प्रथम परिणमन, दूसरा अबलम्बन, तीसरा ग्रहण रूप—इन तीन शक्तियों को भाव योग कहते हैं। ऐसा योग परिणमन आपके नहीं है, कारण कि योग से आस्रवकर्म का आत्मा में आगमन होता है—वह आपके होता नहीं, आप सम्पूर्ण रूप से कर्म रहित आत्मा हैं। योग—आत्मा के साथ कर्मों का योग-संयोग करने वाले हैं। वे आप में नहीं हैं, आप अयोगी हैं। पुनः आप स्व-पर उपयोगी हैं। स्व—आत्म तत्त्व, पर—अन्य सर्व अनन्त आत्मा—सिद्ध व संसारी दोनों प्रकार के जीवात्मा तथा धर्मास्ति अधर्मास्ति आकाशास्ति पुद्गलास्तिकाय स्वरूप द्रव्य और छटा काल रूप द्रव्य—इन सबके ज्ञाता द्रष्टा हैं ॥ (ज्ञान दर्शन को जैन परिभाषा में उपयोग कहते हैं) आप सर्व तत्त्वों तथा द्रव्यों की त्रैकालिक परिणति

के ज्ञाता द्रष्टा हैं, तथापि तादात्म्य सत्ता ज्ञान दर्शनादि अनन्त गुणों की सत्ता रूप तादात्म्य के रसी-रसिक हैं। उन्हीं का आस्वादन करते हैं अर्थात् स्व-पर के ज्ञाता-द्रष्टा होने पर भी भोगी तो स्वरूप के ही हैं। तन्मय रूप से रहे हुए स्वसत्ता स्वरूप के ही भोगी हैं। प्रश्न होता है कि ज्ञाता-द्रष्टा तो स्व-पर दोनों के हैं तो भोगी भी दोनों के क्यों नहीं? उत्तर—पर के ज्ञाता - द्रष्टा होना, ज्ञान गुण व दर्शन गुण का कार्य है और भोग चारित्र का कार्य है। स्वक्षेत्र-आत्मा में रमण को ही चारित्र कहते हैं। वह रमण तो स्व आत्मा में ही होता है, पर में नहीं। अतः भगवान् तादात्म्य रसिक हैं। परक्षेत्रवर्ती धर्म जाना देखा जा सकता है, भोगा नहीं जा सकता। भोग-रमण तो स्वक्षेत्र में ही हो सकता है। दूर की वस्तु का जो आत्मा से अतिरिक्त है, उसका भोग नहीं हो सकता, वह तो मात्र जानी व देखी जा सकती है। आपकी शक्ति अनन्त है। जो कर्म सहित जीव हैं, उनकी शक्तियाँ ज्ञानावरणादि कर्मों से आच्छादित हैं। आपने साध्य साधक भाव से सर्व कर्मों को नष्ट कर दिया और फलस्वरूप अनन्त शक्तियाँ संप्राप्त हो गईं। उन शक्तियों की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न है। जैसे ज्ञान की प्रवृत्ति सर्व जानने की, दर्शन की प्रवृत्ति देखने की है वैसे ही सर्व शक्तियों की स्व-स्व कार्य की प्रवृत्ति है। उन सर्व शक्तियों का प्रयोग तो आपके होता है। यद्यपि कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञापकत्व, पारिणामिकत्व, ग्राहकत्व, आधारत्व आदि शक्तियों की प्रवृत्ति होती रहती है, कोई भी बिना प्रवृत्ति के नहीं है तदपि आप प्रयोगी नहीं हैं; क्योंकि आपको किसी भी शक्ति की प्रवृत्ति करने का प्रयोग/प्रयास नहीं करना पड़ता, कोई विकल्प या उद्यम नहीं होता। स्वतः ही सहज प्रवृत्ति होती रहती है। अतः प्रयुञ्जन-पूर्ण प्रयोग होने पर भी आप तो प्रयोगी नहीं हैं।

वस्तु निज परिणते सर्व पारिणामिकी,
 एहले कोई प्रभुता न पामे ।
 करे जाणे रमे अनुभवे ते प्रभु,
 तत्त्व स्वामित्व शुचि तत्त्व धामें ॥अहो०॥५॥

अर्थ—प्रभु श्री सुमतिनाथ में १. नित्य २. अनित्य ३. एक ४. अनेक ५. अस्ति ६. नास्ति ७. भेद ८. अभेद आदि अनन्त धर्म हैं, अतः उनमें परमेश्वरत्व है। उसका अभिज्ञान (पहचान) कैसे हो? उसी को बतलाते हैं—नित्यानित्य धर्म तो सभी द्रव्यों में हैं। वस्तु जीव और पुद्गल, निज परिणते—स्वपरिणति से सर्व नित्यानित्यादि स्याद्वाद परिणति से पारिणामिक भाव वाले हैं अर्थात् नित्यानित्यादि धर्म रूप से सभी द्रव्य परिणत होते रहते हैं। किन्तु, इससे सभी द्रव्य प्रभुता को प्राप्त नहीं करते। प्रभुता अर्थात् पारमैश्वर्य तो अनन्त जीवों में से कोई विरल आत्मा ही प्राप्त कर सकता है। शेष धर्मास्तिकायादि द्रव्य तो अजीव हैं। उनमें तो प्रभुता करने की शक्ति है ही नहीं; क्योंकि वे पारिणामिक नहीं हैं। जो द्रव्य 'करे जाणे रमे' अर्थात् कर्त्ता हो, ज्ञाता हो, भोक्ता हो—जो स्वधर्म का कर्त्तादि हो। क्योंकि, शेष अजीव—धर्मास्ति अधर्मास्ति पाँचों द्रव्य—वे सभी उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप से परिणत तो होते हैं; परन्तु कर्त्तृत्व उनमें नहीं है, वह तो मात्र जीव में ही है। इसका कारण यह है कि सभी अजीव द्रव्यों में द्रव्यता प्रति प्रदेश में है। और, वह प्रत्येक प्रदेश में प्रवृत्ति करती है, प्रत्येक प्रदेश में रहती है। परन्तु, एक प्रदेश को दूसरे प्रदेश की सहायता होकर एक साथ प्रवृत्ति होती हो, ऐसा नहीं है। जीव के तो प्रत्येक प्रदेश में अनन्त-अनन्त धर्म हैं। वे प्रत्येक प्रदेश में रहे हुए प्रवृत्ति करते हैं; परन्तु सर्व प्रदेशों का समुदाय मिलकर साथ प्रवृत्ति करता है; अतः जीव कर्त्ता है और इसी कारण वे अनन्त धर्म स्व-स्व धर्म को करते हैं। यह कर्त्तृत्व भाव ही प्रभुता है। यद्यपि अजीव द्रव्यों में अनन्त गुण पर्याय हैं, फिर भी वे द्रव्य अपने गुणादि के ज्ञाता नहीं; क्योंकि अजीव में ज्ञानादि गुण नहीं होते। आत्मा तो ज्ञानादि अनन्तागुणशाली है। वह स्व के अनन्त गुण तथा अन्यान्य अनन्त जीवों के, तथा पर-धर्मास्ति आदि के अनन्त गुणों को जानता है; क्योंकि आत्मा का असाधारण गुण—धर्म ज्ञान है। स्व-चारित्र गुण से आत्मा स्वरूप में ही रमण करता है, अजीव द्रव्य स्व में नहीं रमण कर सकते, तथा आत्मा स्वधर्म को भोगता है। इसी कारण स्वधर्म को ही अनुभवे अर्थात् अनुभव करता है; क्योंकि जो कर्त्ता है, वह भोक्ता भी है ही, जो कर्त्ता

नहीं है वह भोक्ता भी नहीं है। अतः आत्मा ही स्वरूप में रमण-कर्ता और अनुभवी है। अतएव जो कर्ता है वही भोक्ता, ज्ञाता, अनुभव-कर्ता भी है। अनुभव धर्म भी आत्मा में ही है, अन्य पदार्थों में नहीं, अतः वही प्रभु-समर्थ परमेश्वर है; जो उपर्युक्त कर्ता ज्ञाता भोक्ता अनुभवकर्ता है। अन्य दर्शनी कोई परमेश्वर को अकर्ता कहते हैं। कोई परभाव-जगत्-कर्ता कहते हैं, वे भी मिथ्या कहते हैं; क्योंकि परमेश्वर कर्म-ज्ञाना-वरणादि आठ कर्म सहित अनन्त जीव और सिद्ध-कर्मों से मुक्त, अनन्त जीव परमेश्वर हैं; ऐसा मानना पड़ेगा। इसका उत्तर है—‘तत्त्व स्वामित्व शुचि तत्त्व धामे’ अर्थात् तत्त्व-वस्तु का मूल धर्म, यथा आत्मा का मूल धर्म-ज्ञान दर्शन ज्ञातृत्व द्रष्टृत्व आदि गुणों का स्वामित्व, प्रभुत्व अर्थात् परमेश्वरत्व तो सर्वथा कर्मों से मुक्त पूर्ण शुचि-पवित्रता युक्त सर्वथा शुद्ध पूर्ण आत्मा के सिद्धावस्था में ही होता है। शेष सभी संसारी जीवों में परमेश्वरत्व नहीं है। यद्यपि सभी जीवों में सत्ता रूप से परमेश्वरत्व है; परन्तु जिनके ज्ञानादि गुण पूर्ण अभिव्यक्त हो गए वे ही परमेश्वर-पूज्य हैं। महामहोपाध्याय श्री यशोविजय जी म० ने भी ऐसा ही कहा है :—

“जे जे अंशे रे निरुपाधिक पणुं, ते ते कहिये रे धर्म ।

सम्यग् दृष्टि रे गुणठाणा थकी, जीव लहे शिव शर्म ॥”

अर्थ—आत्माओं के जितने-जितने अंशों के रूप में आत्मा-निरुपाधिक-कर्ममल रहित बनता है, उतने-उतने अंशों में आत्म धर्म प्रकट होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा गुणस्थान से ऊपर चढ़ते-चढ़ते अयोगी गुणस्थानक तक कर्ममल से मुक्त बनता जाता है और अन्त में सर्वथा सिद्ध बुद्ध मुक्त बन जाता है। अतः जो अर्हन् और सिद्ध हैं, वे परमेश्वर परमात्मा पूज्य हैं।

जीव नवि पुगली नैव पुगल कदा,

पुगलाधार नहीं तास रंगी ।

पर तणो ईश नहीं अपर ऐश्वर्यता,

वस्तु धर्म कदा न परसंगी ॥ अहो० ॥६॥

अर्थ—अब जीव का जो मूल धर्म श्री सुमतिनाथजी के प्रकट हो गया है, उसे कहते हैं। जीव नवि पुद्गली—जीव कभी पुद्गल नहीं बना, अनन्त काल से पुद्गल के साथ रहने पर भी कभी पुद्गल रूप नहीं बना। न ही जीव पुद्गल का आधार बना; क्योंकि आधार तो क्षेत्र होता है और सभी द्रव्यों का आधार—क्षेत्र आकाश है। धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल—ये सभी आकाश द्रव्य में रहते हैं। परन्तु, जीव के प्रदेशों में पुद्गल का निवास जीव के भावों की अशुद्धता से हुआ है; कारण कि सभी संसारी जीवों के भोग तथा उपभोग गुण सदा क्षायोपशमिक रहता है अर्थात् अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से जीव की वीर्य शक्ति मनो वाक् काय रूप योग सम्बन्ध से अपना कार्य करती है, जिससे भोगोपभोगादि भी पौद्गलिक—भौतिक वस्तु का ही होता है, स्वात्मगुणों का का नहीं, अतः परभोगी बना रहता है। वीर्य भी परानुयायी रहता है। मनो वाक् काय शक्ति भी सम्यग्दर्शन के अभाव में तथा सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र के अभाव में पर-पौद्गलिक—भौतिक वस्तुओं के भोगोपभोग में भी व्यय होती रहती हैं। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ग्राहकत्व, व्यापकत्व गुण सदा निरावरण रहते हैं और स्वकार्य—ज्ञातृत्व, द्रष्टृत्व, स्वगुणरमणता, स्वगुण-ग्राह्यता, स्वगुण-भोक्तृत्व पर-आवरण है। इससे पुद्गल ग्राह्यता पुद्गलानुयायी प्रवृत्ति रूप कार्य होता रहता है, उसी का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व भी है। पुद्गल भोग रूप से पुद्गल के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श में व्यापक बना रहता है। अतः व्यापकत्व भी उन्हीं में रहा, उन्हीं ही ग्रहण करता रहता है। जिन्हें भोगा है, उन्हीं ही पाने की इच्छा—भोगने की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न होती रहती है। पुद्गल के वर्णादि का भोग किया है, उन्हीं ही बार-बार भोगना अच्छा लगता है, अतः उन्हीं ही पुनः-पुनः ग्रहण करता और भोगता है; अत एव आत्म प्रदेशों में पुद्गलों का निवास हो रहा है। यद्यपि आत्मप्रदेश स्वगुण पर्याय के क्षेत्र हैं, पुद्गल के नहीं। मूल वस्तु धर्म से आत्मा पुद्गल का रंगी—रमण करने वाला नहीं है, किन्तु स्वधर्म का आस्वाद कभी हुआ नहीं, अतः पुद्गलास्वादी और पुद्गल का ही रंगी बना हुआ है। वास्तविक विचार करते हुए आत्मा तथा पुद्गल का क्या और कैसा सम्बन्ध है? आत्मा इन पर-भावों का पुद्गलों का स्वामी भी नहीं है,

न परभाव से इसका ऐश्वर्य है, न प्रभुता है, वस्तुधर्म से कदापि पर वस्तु का संगी भी नहीं है। आत्मा का सत्ताधर्म तो ज्ञानादि गुणमय है। अतः मेरे सुमतिनाथ भगवान् परमेश्वर तो शुद्ध देवाधिदेव हैं। वे पुद्गल के आधार और रंगी-पुद्गल में रमने वाले नहीं हैं। वे तो सर्वथा पुद्गलातीत हैं।

संग्रहे नहीं आपे नहीं परभणी,
नवि करे आदरे न पर राखे।
शुद्ध स्याद्वाद निज भाव भोगी जिके,
तेह परभाव ने केम चाखे ॥ अहो० ॥७॥

अर्थ—मेरे श्री सुमतिनाथ भगवान् तो सर्वथा शुद्ध सिद्ध बुद्ध मुक्त हो चुके हैं। वे परवस्तु पुद्गलादि को 'संग्रहे नहीं' अर्थात् संग्रह नहीं करते कि यह मेरी है, न पर वस्तु-धन कलत्र पुत्रादि किसी को देते हैं। वे न पर-भाव या वस्तु को 'करे' अर्थात् करते हैं, न उसे ग्रहण करते हैं। न पर-वस्तु-धन वैभव आदि को 'राखे' अर्थात् रखते हैं, न रक्षा करते हैं; क्योंकि वे शुद्धात्मा हैं। शुद्ध धर्म वाले परमात्मा शुद्ध स्याद्वाद धर्म निजभाव के भोगी हैं, अपने ज्ञानदर्शनादि अनन्त गुणों के भोक्ता हैं, उन्हीं का आस्वादन करते हैं। वे परभाव-पौद्गलिक वर्ण गन्ध रस स्पर्शादि तथा कर्म रूप राग-द्वेषादि का आस्वादन कैसे कर सकते हैं, कदापि नहीं। अतः परमात्मा परभाव को कैसे चाखें अर्थात् कैसे आस्वादन करें? वे तो स्वरूप के भोगी हैं।

ताहरी शुद्धता भास आश्चर्य थी,
ऊपजे रुचि तेणे तत्त्व ईहे।
तत्त्वरंगी थयो दोष थी ऊभग्यो,
दोष त्यागें ढले तत्त्व लीहे। अहो० ॥८॥

अर्थ—अब साधन धर्म बताते हैं । कोई प्रश्न करे कि भगवान् श्री सुमतिनाथ प्रभु तो स्वयं मुक्त होकर कृतकृत्य हो चुके हैं, वे अन्य आत्माओं के मुक्ति के कर्त्ता ही नहीं हैं, तो उनकी स्तवना क्यों करते हो ? इस से क्या लाभ है ? उन्हें उत्तर देते हुए कवि ने स्तुति से होने वाला लाभ स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है । वे प्रभु से कहते हैं कि हे भगवन् ! आपकी शुद्धता, निष्कर्मता, अनन्त गुणों की अभिव्यक्तितादि का जिस समय भासन-ज्ञान होता है और ज्ञानादि गुणों का ज्यों-ज्यों उद्घोष करता है, गायन करता है, त्यों-त्यों गुणों का भासन-ज्ञान होता है और भक्तिलीन आत्मा आश्चर्यान्वित होता है कि, अहो ! प्रभु का कैसा अनन्त अनुपम ज्ञान है । लोकत्रयवर्ती षड्द्रव्यों को, उनकी त्रिकालवर्ती प्रवृत्ति को एक समय में जानते हैं । वैसे ही प्रभु का अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र्य, सकल पुद्गलों का अभोगित्व है । अहो ! प्रभु का परमानन्द ! इत्यादि विस्मयकारिता वाले अद्भुत गुणों से आश्चर्य होना स्वाभाविक है और इससे स्वयं की शुद्ध परमात्म दशा प्रकट करने की रुचि होती है तथा तत्त्व-आत्मतत्त्व को शुद्ध बनाने की ईहा-चेष्टा करता है अथवा ईहा-इच्छा करता है । मोक्ष रुचि जीव विचारता है कि मेरी आत्मा कब कर्मों से मुक्त बने ? कब मेरा शुद्ध पारिणामिक भाव प्रकट हो ? कब मैं अपने ज्ञानादि गुणों का भोग करूँ और अनन्त जीवों द्वारा भुक्त पौद्गलिक भोगोपभोगों का परित्याग कर स्वधर्म का कब भोग करूँगा ? ऐसी रुचि उत्पन्न होती है । फिर वह वैसी रुचि वाला जीव तत्त्व की ईहा करता हुआ समय व्यतीत करता है । वह ज्यों-ज्यों तत्त्व की ईहा-इच्छा अभिलाषा करता है, त्यों-त्यों तत्त्व का रंग विकसित होता है और ज्यों-ज्यों तत्त्वरंगी बनता है त्यों-त्यों राग-द्वेषादि अठारह पाप स्थानक आदि दोषों से 'ऊभग्यो' अर्थात् उकता कर दोषों का परित्याग करता है । 'दले' अर्थात् आत्म तत्त्वाभिमुख होकर, 'लीहे' शुद्ध स्वरूप का आस्वादन करता है । स्वभाव परिणामी बनता है । यह सर्व कार्य प्रभु का अवलम्बन लेने पर होते हैं ।

शुद्ध मार्गे वध्यो साध्य साधन सध्यो,
 स्वामि प्रतिच्छन्दे सत्ता आराधे ।
 आत्म निष्पत्ति तेम साधना नवि टके,
 वस्तु उत्सर्ग आतम समाधे ॥ अहो० ॥६॥

अर्थ—इस प्रकार पारिणामिक रूप से स्मरण किया आत्मा शुद्ध मार्ग की ओर अग्रसर हुआ, साध्य—स्वयं का परमात्म भाव, उसके साधन का उपाय प्राप्त हो गया । अब आत्मा को 'स्वामि प्रतिच्छन्दे' भगवान् श्री सुमतिनाथ के जैसी ही मेरी सत्ता है अर्थात् मेरा स्वरूप भी ऐसा ही है, ऐसा निश्चय हो गया । और, मेरी आत्मा स्वसत्ता की शुद्धि के कार्य को 'आराधे' अर्थात् पूर्ण रूप से साधना में तत्पर हो जाएगी । प्रभुजी जैसी सत्ता अपनी भी प्रकट कर लेगा । कर्म-मुक्त होकर निर्मल शुद्ध आनन्द का उपभोग करेगा । इससे पूर्व जैसे-जैसे आत्म-विशुद्धि होती जायेगी, वैसे-वैसे साधना अर्थात् प्रभु रूप बनने का कार्य ध्यान, साधना, प्रभु भक्ति, स्मरणादि भी कम होंगे और आत्मलीनता बढ़ती जायेगी । नियम है कि ज्यों-ज्यों कार्य पूर्ण होने लगता है त्यों-त्यों कारणों/साधनों की आवश्यकता में कमी होती जाती है । क्योंकि कारण कार्यान्वयी है, वस्तु या कार्य का धर्म नहीं । जो वस्तु कार्य में अनिवार्य हो वह कारण है और जब कार्य पूर्ण हो जाए, तो कारण की आवश्यकता नहीं रहती । इसी प्रकार आत्म कार्य स्वरूप सिद्धि/सिद्धत्व प्राप्त हो जाने पर, उत्सर्ग रीति से पूर्ण समाधि परमानन्द होने पर कारणता भी नहीं रहती है ।

माहरी शुद्ध सत्ता तणी पूर्णता,
 तेहनो हेतु प्रभु तू ही साँचो ।
 देवचन्दे स्तव्यो मुनिगुरो अनुभव्यो,
 तत्त्व भक्ते भविक सकल राखो ॥ अहो० ॥१०॥

अर्थ—अतः हे प्रभो ! मेरी शुद्ध निर्मल आत्म सत्ता की पूर्णता-कर्मों से सर्वथा मुक्त होने की अवस्था अर्थात् सिद्धावस्था की सम्प्राप्ति के सत्य हेतु—कारण/निमित्त आप ही हैं। आप सद्यः शुद्ध देव का निमित्त समुपलब्ध हुये बिना मेरी आत्मा निर्मल—कर्ममल से सर्वथा मुक्त कैसे बने ? क्योंकि सभी मुक्त होने वाले जीवों की यही परिणति है कि निमित्त का अवलम्बन लेकर ही उपादानावलम्बी होते हैं। श्री वीतराग देव निमित्त कारण हैं और स्वयं की आत्मा आदान कारण है। जैसे सुवर्ण रूपी उपादान कारण को शुद्ध करने के लिए रसायन शास्त्री और तेजाब अग्नि आदि निमित्त कारण हैं, वैसे ही श्री वीतराग अर्हन्त, सिद्ध और संयमतपादि भी आत्मोपादान की शुद्धि के लिए निमित्त कारण हैं। ऐसे श्री अरिहन्त देवाधिदेव की, चतुर्निकाय—भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी एव वैमानिक देवों में चन्द्र श्रेष्ठ सद्यः देवचन्द्र ने स्तवना की अर्थात् उनके आन्तरिक गुणों का वर्णन करते हुये स्तुति की। श्री देवचन्द्र जी कहते हैं कि मैं मुनि/साधु निर्ग्रन्थ/सर्वत्यागी होने से मैंने भी उन गुणों का आंशिक अनुभव किया। आपके ज्ञानादि आत्मिकगुणों का किञ्चिद् अनुभव होने से उन गुणों की थोड़ी महत्ता मेरे भी समक्ष में आयी कि अहो ! मुझ में आंशिक शुद्धि होने से कितनी अधिक समाधि का परमानन्द का मुझे अनुभव हो रहा है, तो जिन के ज्ञानादि गुण सर्वथा शुद्ध निर्मल हो गए हैं, उनके परमानन्द का तो कहना ही क्या ? वे तो पूर्णतः कर्ममल का क्षय हो जाने से केवल विशुद्ध आत्मा बन गये हैं; भविष्य में कदापि मलिन होने वाले नहीं। उनका आनन्द तो कभी नष्ट होगा नहीं, सदा एकरूप ही रहेगा। श्रीमद् कहते हैं—हे भव्यजनों ! आप भी सात्त्विक भक्ति में श्री सुमतिनाथ भगवान के आन्तरिक—अनन्त ज्ञानादि गुणों में 'राचो' अपने आत्मा में भी उन गुणों का रंग चढाओ अर्थात् अनन्त ज्ञानादि गुणों के प्रति बहुमान पूर्वक उन गुणों का स्मरण करते हुए हे मोक्षार्थी बन्धु जनों ! उन्हीं गुणों में रमण करते हुए प्रभु में लीन बनो। मग्न हो जाओ।

श्री पद्मप्रभ जिन स्तवन

(राग—हुँ तुझ आगल शी कहूँ केशरिया लाल)

श्री पद्मप्रभ जिन गुणनिधि रे लाल,
जगतारक जगदीश रे, वालहेसर ।
जिन उपकार थकी लहे रे लाल,
भविजन सिद्धि जगीश रे, वालहेसर । १।
तुझ दरिसरा मुझ वालहो रे लाल,
दरिसरा शुद्ध पवित्त रे, वालहेसर ।
दरिसरा शब्द नयें करे रे लाल,
संग्रह एवंभूत रे, वालहेसर । तुझ० ॥२॥

अर्थ—अब श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र के निमित्त कारण की कारणता का यथार्थ रूप से स्तवन करते हैं—

श्री पद्मप्रभ जिनेश्वर गुणों के निधान हैं । जगत् में जो मोक्षार्थी जीव हैं, उनके तारक—तारने वाले हैं । सर्व-श्रेष्ठ गुणों के धारक हैं, अतः जगत् के ईश/स्वामी सर्व से महान् हैं । हे वालहेसर ! प्रियतम ! जिन उपकारों से ही भव्यजन सिद्धि लहे—प्राप्त करते हैं । जगीश—जगत् की सभी सर्व श्रेष्ठ सम्पदाएँ उन्हें प्राप्त हो जाती हैं और वे अन्त में सिद्धि/मोक्ष में निवास करते हैं । हे प्रभो ! आपका दर्शन मुझे अत्यन्त वालहो अर्थात् वल्लभ है, अथवा हे भगवन् ! आपके दर्शन में कारण रूप आपकी मोहन मुद्रा के दर्शन, वही उत्कृष्ट निमित्त कारण रूप से आपका दर्शन-शासन—दार्शनिक मान्यताएँ और संयम रूप एवं तप रूप

आचरण तथा उपादान कारण रूप दर्शन—सम्यग्दर्शन वह मुझे अत्यन्त 'बालहो' वल्लभ/प्रिय/इष्ट है। हे प्रभो ! आपका दर्शन सम्यक् तत्त्व रुचि रूप है वही शुद्ध व पवित्र है, वही आत्मा का स्वरूप निर्धारण रूप, स्वरूप रुचि रूप प्रकट हो जाये तो आत्मा मोह मल्ल पर विजय प्राप्त कर ले और सर्व कर्मबन्धन से मुक्त होकर सिद्ध बन जाये। अतः वही शुद्ध पवित्र मार्ग है। आपका निरूपित दर्शन—जीव, जगत का यथार्थ वर्णन, स्वरूपादि ही वास्तव में सत्य आत्म हितकारी है। कहा भी है—

सम्मत्तेणं सुद्धो सच्च सुंकिच्चो हवइ सिवहेऊ ।

संवर बुड्ढो तह निज्जरा य धम्ममूलं च सम्मतं ।१।

मूलदारं पइट्ठारं आहारो भायणं निहि ।

दुमुक्कं सावि धम्मस्स सम्मतं परिकित्तिं ।२।

अर्थ—सम्यक्त्व से शुद्ध सत्य रूप से किया गया सुकृत्य ही मोक्ष का हेतु बनता है। संवर-संयम की वृद्धि तथा कर्मों की निर्जरा रूप धर्म का मूल सम्यक्त्व ही है।

प्रतिष्ठान—आत्मा में स्थित रहने या प्रवेश का मूल द्वार भी सम्यक्त्व है। आत्मनिधि ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुण सम्पत्ति का आधार या भाजन—पात्र भी सम्यक्त्व है और विधर्म—पौद्गलिक भावों को प्रवेश नहीं देने वाला भी सम्यक्त्व ही कहा गया है।

पुनः हे प्रभो ! आपका दर्शन अथवा शुद्ध तत्त्व श्रद्धा रूप दर्शन—सम्यग्दर्शन जो जीव शब्द नय से करता है वह जीव (क्योंकि संग्रहनय की अपेक्षा से सभी जीव समान हैं) जब स्वयं के सर्व आवरण—कर्मों का आवरण क्षय करके सम्पूर्ण रूप से सिद्ध बुद्ध मुक्त बन जाता है तब एवंभूत नय से सिद्ध बन जाता है।

यहाँ नयों का स्वरूप संक्षेप से बतलाते हैं—

१. नैगम नय—योगों की चञ्चलता हो, उपयोग भी अन्य कार्य में लगा हो, मात्र चक्षु इन्द्रिय से प्रभु मुद्रा को देखना, वह नैगम नय से प्रभु दर्शन है।

२. संग्रह नय—‘सत्ताग्राही संग्रहः’ वस्तु की सत्ता का संग्राहक संग्रह नय है। सभी प्रभु हैं, सभी में भगवान् हैं। सर्व जीव परमात्मा स्वरूप हैं। सब दर्शन करें। उसने संग्रह नय से किये।

३. व्यवहार नय—विधि से वन्दन-नमन करे, आशातना का वर्णन करे और प्रभु मुद्रा, प्रभु के पूर्ण शरीर को नयनों से देखे, वह व्यवहार नय से दर्शन कहलाता है।

४. ऋजुसूत्र नय—मन, वचन, काय योग की एकाग्रता पूर्वक, प्रभु के गुणों में उपयोग रखता हुआ सर्वतोभाव से सर्व इन्द्रियों से अर्थात् शरीर से विनम्रतापूर्वक कर-जोड़ योग-मुद्रा से स्थित, रस-नेन्द्रिय/जिह्वा से गुणगान करता हुआ चक्षुरिन्द्रिय से एकाग्र दर्शन करता हुआ, श्रोत्रेन्द्रिय/कानों से प्रभु-गुण-पूर्ण स्तवन स्तुति आदि सुनता हुआ, घ्राणेन्द्रिय से प्रभु के मूल देह की कमलगन्ध को मन से सूँघता हुआ और मन को मात्र प्रभु में मग्न रखता हुआ हर्ष व प्रशस्त राग से दर्शन करे, वह ऋजु सूत्र नय से दर्शन करना है।

५. शब्द नय—अन्तरंग परिणामों की परिणति, चेतना का उधर ही आकर्षण तथा वीतराग की वीतरागता में मन का योग, सर्व इन्द्रियों का प्रभु की मुद्रा व प्रभु के शरीर से ही ध्यान लगा हुआ है। अन्तरंग आत्म-सत्ता विकसित करने रूप साध्य रुचि सहित बना हुआ प्रभु के तत्त्व-सम्पदा रूप का अवलोकन/दर्शन करे, वह शब्द नय से दर्शन कहलाता है।

६. समभिरूढ नय—सम्यक् प्रकार से अर्थ पर्याय, वचन पर्याय आदि भिन्न-भिन्न नाम लिंग गुणादि से वस्तु के पर्याय पृथक्-पृथक् हैं, उनका सभी का ग्रहण इससे होता है। प्रभु के भी अनन्त गुण हैं। उनका उसी रूप में स्मरण करता हुआ प्रभु के दर्शन करे, वह समभिरूढ नय से दर्शन है।

७. एवम्भूत नय—समस्त गुण पर्याय पारिणामिकता रूप परिणत, प्रकट रूप से सम्पूर्ण वस्तु का ग्रहण होता है। श्री पद्मप्रभ

भगवान जो सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, शुद्ध परमात्मा हैं, उनके उसी भाव का स्मरण करते दर्शन करना, एवंभूत नय से दर्शन है ।

इस प्रकार प्रभुजी के दर्शन करने वाला नियमा-निश्चय से स्व-सत्ता को प्रकट करता है । अतः प्रभु दर्शन निमित्त कारण रूप जानना चाहिए ।

ऐसे ही सम्यक्त्व को भी सप्त नय से विचारना चाहिए और शब्द नय से जो शुद्ध श्रद्धा रूप है, वह सम्यक्त्व संसारी भव्य जीव की सत्ता में प्राग्भाव रूप से विद्यमान है और विकसित होता है ।

बीजें वृक्ष अनन्तता रे लाल,

पसरे भूजल योग रे, वाल्हेसर ।

तिम मुझ आत्म सम्पदा रे लाल,

प्रकटे प्रभु संयोग रे, वाल्हेसर । तुम्ह० ।३।

अर्थ—अब कारण कार्य भाव बताते हैं । जैसे बीज में अनन्त वृक्षरूप बनने की योग्यता है, किन्तु 'पसरे भूजल योग' अर्थात् पृथ्वी-उर्वरा भूमि में बीज का वपन किया जाए, जल-सिञ्चन किया जाए, रक्षा की जाए, आसपास में उगने वाले अन्य झाड़-झंखाड़ घासफूस उखाड़ दिये जाएँ, धूप लगने दी जाए, बर्फ-पाला पड़ने पर ढँक दिया जाए, तो फिर वह वृक्ष रूप बनता है । उससे हजारों और लाखों की संख्या में बीज प्राप्त होते हैं । परम्परा से अनन्त वृक्ष हो जाते हैं । इसी प्रकार आत्म उपादान का धर्म भी निमित्त के बिना प्रकट नहीं होता । मेरी आत्म-सम्पदा यद्यपि सत्ता रूप से मुझ में ही है; तथापि बिना प्रभुजी रूपी निमित्त मिले प्रकट नहीं हो सकी थी । वीतरागदेव का शुद्ध स्व-रूपी निमित्त मिलने पर आत्मा की ज्ञान-दर्शनादि सम्पत्तियाँ प्रकट होती हैं । श्री अरिहन्तदेव की पूजा सेवा भक्ति रूप आलम्बन लेने से और सर्व प्रकार की भक्ति से आत्मा में सम्यक्त्व रूपी बीज के अंकुर का स्फोट होता है, उस बीजांकुर की सिञ्चन क्रिया प्रभु-भक्ति रूप जल से करे । राग द्वेष कषाय आदि दुर्गुण रूप झाड़-झंखाड़ आदि को दूर करता रहे,

सर्व प्रकार से तत्त्व श्रद्धा की रक्षा करता हुआ, व्रत नियम तप त्याग की रक्षा-पंक्ति बनाकर रक्षित आत्मा एक समय अवश्य आत्मसम्पत्-केवलज्ञान केवलदर्शनादि रूप प्राप्त करता है और कर्मों से पूर्ण मुक्त होकर सिद्ध बन जाता है ।

जगत जन्तु कारज रुचि रे लाल,

साधे उदये भाण रे, वाल्हेसर ।

चिदानन्द सुविलासता रे लाल,

वाधे जिणवर भाण रे, वाल्हेसर । तुभ० १४।

अर्थ—जिस प्रकार विश्व में रहे हुए सभी संसारी जीव, चराचर प्राणी पशु पक्षी वृक्षादि एवं मनुष्य, 'उदये भाण सूर्योदय होने पर ही आहार एवं भोग सामग्री-भोग प्राप्ति के साधन स्वरूप धन-प्राप्ति की इच्छा से, रुचि से, कार्य-सेवा परिश्रमादि उद्यम में प्रवृत्त होते हैं । यद्यपि रुचि तो सर्वदा बनी रहती है, पर प्रवृत्ति सूर्यादि का उद्योत होने पर ही होती है, सूर्योदय का निमित्त पाकर-प्रकाश होने रूप निमित्त पाकर ही सभी प्राणी कार्य करने लगते हैं । यह नियम स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है । उसी प्रकार मेरी आत्मा में चिद्-ज्ञान, आनन्द-अव्याबाध सुख, अथवा सकल ज्ञेय की ज्ञायकता रूप ज्ञान, जरा जन्म मरण सुख-दुःख राग-द्वेषादि से अतीत अव्याबाध सुख आनन्द की सुविलासता-शुद्ध आत्म स्वरूप का भोग यद्यपि आत्म-सत्ता में स्वाभाविक रूप से विद्यमान है; तथापि जब जिनेश्वर का वर-श्रेष्ठ धर्मध्यानादि रूप भाण-ध्यान सर्व दोषों से-अनुष्ठान दोष, एकान्त दोष तथा अर्थापत्ति दोष रहित ध्यान-चिन्तन करने पर ही आत्मानन्द प्रकट होता है । उपादान रूप मेरी आत्मा तो है; किन्तु हे प्रभो ! आप सद्यः वीतराग रूप निमित्त मिलने पर ही आत्मा में अवस्थित ज्ञानादि गुणों का प्रकटीकरण होता है । अतः आपके समान मेरा कोई उपकारी नहीं है । आपका दर्शन मुझे अत्यन्त बालहो-बल्लभ, प्रिय, इष्ट है । अनन्त काल से संसार में भ्रमण करते हुए जीव को वीतराग का दर्शन मिलना अति दुर्लभ है । वह मिल जाय तो मेरा अनन्तानन्त काल

का दारिद्र्य दूर हो जाय और मैं आत्मधन-ज्ञानादि से सम्पन्न हो जाऊँ । कल्याणमन्दिर नामक पार्श्वनाथ स्तोत्र के रचयिता कहते हैं—

नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन,
पूर्वं विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि ।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः,
प्रोद्यत् प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ॥३७॥

अर्थात् हे विभो ! मोहान्धकार-आवृत लोचनों (आँखों) से आज से पूर्व मैंने वास्तव में आपको एक बार भी नहीं देखा । अन्यथा वे मर्म को भेद देने वाली, बाँधने में तत्पर ये अनर्थों की गतियाँ कैसे होती ? अर्थात् प्रभु का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है । वह तो दर्शन के अभिलाषी जनों को ही इष्ट होता है, उन्हें ही इस दर्शन को सम्प्राप्ति होती है ।

लब्धि सिद्धि मन्त्राक्षरे रे लाल,
उपजे साधक संग रे, वाल्हेसर ।
सहज अध्यातम तत्त्वता रे लाल,
प्रकटे तत्त्वी रंग रे । वाल्हेसर । तुभ० १५।

अर्थ—पुनः दृष्टान्त पूर्वक सिद्धि की प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं । जैसे आकाशगामिनी आदि अनेक प्रकार की लब्धियों (शक्तियों) की सिद्धि, यद्यपि मन्त्राक्षरों में है; किन्तु वे मन्त्राक्षर सुयोग्य उत्तर साधक मिलने पर ही सिद्ध होते हैं । वैसे ही सहज-स्वाभाविक अध्यात्म तत्त्वता-आध्यात्मिक सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शनादि जो आत्मा में तन्मय रूप से रही हुई है, स्याद्वाद रूप ज्ञान-दर्शनादि आत्मपरिणति रूप तत्त्वता यद्यपि वस्तु धर्म में रही है; तथापि वह जब पूर्ण शुद्ध स्वरूप आत्मा सर्वथा घातिकर्मों के आवरण से मुक्त आत्मस्वरूपभोगी आत्मरमणी आत्माश्रयी असंख्यत आत्मप्रदेश ज्ञानावरणादि कर्म चतुष्टय संश्लेष रहित ऐसे देवाधिदेव श्री अरिहन्त प्रभु के आलम्बन द्वारा उनके साथ एकरंगता हो, एकत्वता हो तब निरावरण ज्ञानादि का प्रकटीकरण होता है ।

लोह धातु काञ्चन हुवे रे लाल,
 पारस फरसन पाम रे, वाल्हेसर ।
 प्रकटे अध्यातम दशा रे लाल,
 व्यक्त गुणी गुण ग्राम रे, वाल्हेसर । तुभ० । ६।

अर्थ—अब द्वितीय दृष्टान्त से और स्पष्ट करते हैं । यद्यपि लोह धातु में स्वर्ण बनने की सत्ता है; तथापि पारस पाषाण का स्पर्श पाकर ही स्वर्णत्व व्यक्त होता है अर्थात् स्वर्णरूप बन जाता है । तथैव भव्यात्मा में भी शुद्धात्म दशा सत्तारूप से तो है ही; किन्तु व्यक्त तो कर्मावरण से रहित, गुणी-अरिहन्त देव के गुण-ग्राम का चिन्तन मनन स्मरण गायन करने पर ही भक्त आत्मा गुणानुयायी होकर सम्पूर्ण रूप से तन्मय हो जाय तभी सत्ता में रहे हुये ज्ञानादि गुणों की अभिव्यक्ति हो पाती है, और तब आत्मा सिद्ध बुद्ध मुक्त हो जाती है ।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि निमित्त बिना ही सिद्धत्व की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती ? उत्तर है कि अनादि काल से पुद्गल-कर्मादि जड़ पदार्थों से सम्बद्ध रहा आत्मा उसी सम्बद्धता के निमित्त से अभिनव कर्मों का आस्रव-बन्ध करता रहता है । बन्ध के निमित्त मिथ्यात्व अविरति कषायादि जो पुद्गल कर्म रूप हैं उन्हीं निमित्तों से नवीन कर्मों का बन्ध होता है । आत्मा जब इन मिथ्यात्वादि रूप निमित्तों का परित्याग करे तो मुक्त होता है । इन पुद्गल कर्म रूप निमित्तों का त्याग श्री वीतराग अहैन् शुद्धात्मा का आलम्बन लिए बिना होता नहीं; अतः श्री वीतराग देवाधिदेव का अवलम्बन लेने पर ही आत्म-सत्ता में रहे हुये ज्ञानादि गुण प्रकट होते हैं ।

आत्म सिद्धि कारण भगी रे लाल,
 सहज नियामक हेतु रे, वाल्हेसर ।
 नामादिक जिनराज ना रे लाल,
 भवसागर महासेतु रे, वाल्हेसर । तुभ० । ७।

अर्थ—पूर्व गाथाओं में कहे गए उपादान व निमित्त का संयोग होने पर ही कार्यात्पत्ति होती है। अतः आत्मसिद्धि—आत्मा को शुद्ध पवित्र बनाने का कार्य होने के लिए, सहज—स्वाभाविक नियामक—निर्द्धार हेतु—कारण श्री वीतरागदेव की सम्प्राप्ति होने पर ही निश्चय से भव्य जीव को मोक्षरूप कार्य की सिद्धि हो। यह निर्द्धार—निश्चय हुआ। नामादिक—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव-चार निक्षेप हैं, श्री जिनेश्वर देव के नामादि—नाम व गुण का उच्चारण श्रवण स्मरण चिन्तन ध्यान करने पर अनेक जीव नाम-गुणादि के आलम्बन से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र्य आदि प्राप्त करके सिद्ध हो गए। तथा स्थापना रूप जिनेन्द्र भगवान की आकृति—मुख, पद्मासन, नासाग्रदृष्टि, प्रशान्त मुख, समता का साक्षात् मूर्त रूप, विषयविकार वर्जित अतिशय रूप सम्पन्न प्रतिमा का अवलोकन कर मनो वाक् काय योग स्वतः स्तम्भित, स्थिर व तन्मय हो जाते हैं। गुणी—रत्नत्रय गुण सम्पन्न भगवान् वीतराग का अवलम्बन लेकर स्वगुणों को अभिव्यक्त करते हुए अनेक जीव स्व-स्वरूप स्थित हो गए हैं। ऐसे ही द्रव्य निक्षेप—श्री तीर्थंकर अर्हन् देव का पूर्व भव, जन्म एवं गृहस्थावस्था से आरम्भ कर छद्मस्थ दशा, केवलज्ञान प्राप्त्यनन्तर देवागमन, देवकृत अद्भुत समवसरण रचना, अष्ट महा प्रातिहार्य, चतुर्दिक—पूर्वाभिमुख स्वयं तीर्थंकर एवं दक्षिण पश्चिम उत्तराभिमुख देवकृत प्रतिविम्बों के दर्शन, भगवान का सदुपदेश, पैंतीस गुणातिशय युक्त वाणी श्रवण कर अद्भुत दृश्य से प्रभावित अनेक भव्य-जन गुणावलम्बी होकर स्वसम्पदा—अनन्त ज्ञानादिक का वरण कर सिद्धावस्था सम्प्राप्त करते हैं तथा श्री अरिहन्त देव का भाव-निक्षेप-अरिहन्त के ज्ञानादि गुण और अनन्त गुणों के पर्यायि—अग्रुलघुतादि गुणों की अनन्त परिणति का भासन, श्रद्धान और रमण अर्थात् अनन्त शक्तियों का विचार करते अनन्त जीव मोक्ष रूपी लक्ष्मी का वरण कर चुके हैं, कर रहे हैं और भविष्य में भी करेंगे। अतः अरिहन्त श्री तीर्थंकर देव के चारों ही निक्षेप भव रूप महासागर में सेतु/पुल पार होने के साधन स्वरूप हैं; अथवा बड़े बन्दरगाह जैसे हैं, जहाँ से यात्री मोक्ष जाने वाले संयम रूपी महायान में बैठ कर स्व के इष्ट स्थान सिद्ध-शिला पर जाते हैं। अतएव प्रभु के नामादि चार निक्षेपों का अवलम्बन लेकर आत्मसिद्धि करनी चाहिए।

स्तम्भन इन्द्रिय योग नो रे लाल
 रक्त वर्ण गुणराय रे । वाल्हेसर ।
 देवचन्द्र वृन्दे स्तव्यो रे लाल,
 आप अवर्ण अकाय रे । वाल्हेसर । तुभ० । ८।

अर्थ—तीर्थंकर भगवान् श्री पद्मप्रभ देव का परमौदारिक शरीर रक्तवर्णी है । वह आत्मधर्म-साधक भव्य जीव के लिए स्तम्भन कार्य करने वाला है । विद्या-साधक को यदि स्तम्भन कार्य करना हो तो वह रक्त वर्ण के सभी साधनों का उपयोग करता है । आसन, जपमाला, पूजा सामग्री आदि सभी रक्त वर्ण के लेता है; जिससे उसे सिद्धि मिलती है । ऐसे आत्म-साधक स्वरूप-प्राप्ति के आकांक्षी भव्य जीव के लिये भी रक्त वर्ण वाले श्री पद्मप्रभ भगवान् का अवलम्बन सभी इन्द्रियों—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन इन्द्रियों को बाह्य विषयों से विमुख कर देता है और उन्हें योग—मन वचन काया की प्रवृत्ति को भी सब पौद्गलिक भावों से हटा कर स्वभाव के अभिमुख कर देता है । अर्थात् भव्य जीव प्रभु के वर्ण अवलम्बन से अपनी इन्द्रियों—मनादि को स्तम्भित कर लेता है । अथवा रक्त वर्ण के प्रभाव से वे इन्द्रियाँ और मन स्वयं स्तम्भित हो जाते हैं । 'देवचन्द्र वृन्दे' देव अनेक प्रकार के हैं—मनुष्यों के देव राजा, चक्रवर्ती नरदेव, पृथ्वी का पति—नृप, भूदेव—विप्र, अर्हन्तों में देव श्री तीर्थंकर भगवान्, धर्म देव—आचार्य (गणधरादि) चतुर्विध संघ के सञ्चालक, भाव देव—भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव और इनके अपने-अपने अधिपति, सुरदेव—इन्द्र इन सर्व के 'वृन्दे' समूह के द्वारा, 'स्तव्यो' उनके द्वारा स्तुत हुये भगवान् श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र हैं, जो अब सिद्धावस्था में अवर्ण अगन्ध, रसरहित, स्पर्श विहीन हैं; क्योंकि ये वर्णादि तो पुद्गल-जड़ पदार्थों के शरीरादि के होते हैं और भगवान् तो शरीररहित हो गये हैं । द्रव्य कर्म—ज्ञानावरणादि, भाव कर्म—राग-द्वेषादि, नो कर्म—शरीर, इन सर्व कर्म पुद्गलों से मुक्त हैं, पुद्गलातीत हैं । वे ही मेरे परम

बल्लभ प्रियतम हैं, मेरे आघार हैं, परम शरण हैं । ऐसे गुण निधान
श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र के निमित्त द्वारा मेरा कार्य-आत्म-स्वरूप की प्राप्ति
अवश्य सिद्ध होगी ।



७. श्री सुपाश्वर्ष जनेन्द्र स्तवन

अब श्री सुपाश्वर्षनाथ प्रभु के सहज-स्वाभाविक धर्म रूप तात्त्विक सम्पदा-ज्ञानादि अनन्त गुणों की स्तवना करते हैं। जगत् के जीव पुद्गलानन्दी हैं अर्थात् भौतिक भोगोपभोग के साधनों की प्राप्ति के उपाय और मिले हुए भोगों का भोग करने तथा नवीन भोग सामग्री पाने में आनन्द की अनुभूति करते हैं; किन्तु ये सारे भौतिक-पुद्गल संयोगजन्य सुख और दुःख आत्म-सुख नहीं हैं; क्योंकि वे सर्व विभाव हैं और आत्मा का सहज सुख तो स्वात्मरमणता है, ऐसा आगम-शास्त्र वचन है, वही यहाँ बतलाते हैं। आत्मा के अनन्त गुण हैं, उन गुणों का पृथक्-पृथक् स्वभाव और सुख है। 'एक अव्याबाध सुख रूप गुण आत्म-धर्म सब से पृथक् है' ऐसी व्याख्या है। 'आत्मा के ज्ञान दर्शन रूप गुण, ये मूल गुण हैं और वीर्यादि सर्व उन गुणों की प्रवृत्ति रूप धर्म हैं, स्वभाव हैं' एक ऐसी भी व्याख्या है। और, १. ज्ञान २. दर्शन ३. चारित्र ४. दान ५. लाभ ६. भोग ७. उपभोग इत्यादि अनन्त गुण आत्मा में हैं। विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

क्षायिकसम्यक्त्व - केवलज्ञान - केवलदर्शन - सिद्धत्वादि पुनः सिद्धावस्थायामपि भवन्ति। अन्ये तु दानादि लब्धिपञ्चकं चारित्रं सिद्धस्यापीच्छन्ति तदावरणस्य तत्राप्यभावात्। आवरणाभावेऽपि च तदसत्त्वे क्षीणमोहादिष्वपि तदसत्त्वप्रसंगात्, ततस्तन्मते चारित्रादीनां सिद्धावस्थायामपि सद्भावः, पुनस्तत्त्वार्थे पुनरप्यादि ग्रहणं कुर्वन् ज्ञापयति।

अत्रानन्तधर्मात्मकतयाऽशक्याः प्रस्तारयितुं, सर्वे धर्माः प्रतिपदं प्रवचनज्ञेन तु पुंसा यथा सम्भवमायोजनीया, क्रियावत्त्वं पर्यायोप-

योगिता प्रवेशाष्टकनिश्चलता एवं प्रकाराः सन्ति भूयांसः । अपि समुच्चये एवं प्रकारा अनादिपारिणामिका भवन्ति जीवस्य भावाः ।

अर्थ—क्षायिक सम्यक्त्व, केवल दर्शन, सिद्धत्वादि धर्म तो पुनः सिद्धावस्था में भी होते हैं । अन्य आचार्य तो दानादि लब्धि-पंचक—दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य तथा चारित्र सिद्धों के भी होता है, ऐसा उन्हें इष्ट है । क्योंकि, इन गुणों पर आवरण का वहाँ भी सर्वथा अभाव है । अन्यथा आवरण के अभाव में इन गुणों का न होना क्षीण मोहदि गुण-स्थानों में भी इनके असत्त्व का प्रसंग उपस्थित हो जायगा । इस कारण उनके मत में चारित्रादि का सिद्धावस्था में भी सद्भाव है । पुनः तत्त्वा-र्थाधिगम सूत्र में भी पुनरपि आदि ग्रहण करते हुए ज्ञापित किया है, बताया है । यहाँ अनन्त धर्मात्मक रूप से सभी धर्मों को विस्तृत रूप से बतलाना अशक्य है । प्रवचन/शास्त्र जानने वाले महानुभाव यथासम्भव इनका आयोजन करें कि क्रियावत्त्व, पर्यायोपयोगिता, अष्ट रुचक प्रदेशों की निश्चलता, निरावरणता आदि बहुत से गुण इस प्रकार के हैं । इस प्रकार के अनादि पारिणामिक भाव जीव के होते हैं । इनमें जीव के पृथक्-पृथक् अनन्त धर्म कहे हैं और प्रमाणनयतत्त्वालोक की रत्नाकरावतारिका नामक टीका में भी ऐसा ही उल्लेख है । वह सप्त भंगी के अधिकार में है । उसी ग्रन्थ की स्याद्वावरत्नाकर नामक बृहटीका में भी ऐसा ही कहा है—

“एकप्रवस्तुन्येकैकधर्मपर्यायानुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः स्यात्काराद्धितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभंगीति । नन्वेकस्मिन् जीवाविबस्तुन्यनन्तविधीयमान-निषिध्यमानानन्तधर्माः स्याद्वादीनां भवेयुः । वाच्येयता यत्तत्त्वाद् वाचकेयता-यास्ततो विरुद्धं सप्तभंगीति ब्रूयाणं निरस्यति । एकप्रवस्तुनि विधीयमान-निषिध्यमानानन्तधर्माऽभ्युपगमेनानन्तभंगी प्रशान्तैव सप्तभंगीति चेतसि न निषेयमिति । अत्र हेतुमाह—विधि - निषेध-प्रकारावेक्षया प्रति-पर्याये वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभंगीनामेव सम्भवादिति । तथाप्येकैकपर्यायमाधित्यविधिनिषेधविकल्पाभ्यां व्यस्त-समस्ताभ्यां सप्तैव भङ्ग्यः सम्भवन्ति न पुनरनन्तास्तत्कथमनन्तसप्त-

भंगी प्रसंगादि संगतत्वं सप्तभंग्याः समुद्भाव्यते ? कुतस्तथैव भंगाः सम्भवतोत्यत्राहुः । प्रतिपर्यायि प्रतिपद्य तु पर्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवादिति, अनन्तधर्मपेक्षया सप्तभंगीनामानन्त्यं यदा यान्ति तदभिमतमेव ।

एक ही वस्तु में एक-एक धर्म और पर्याय की व्याख्या में बिना विरोध के व्यस्तरूप-विकीर्ण रूप में और समस्त रूप में तथा विधि निषेध रूप में स्यात्कार से लक्षित सात प्रकार के वाक् प्रयोग से सप्तभंगी हो जाती है । यहाँ शंका करने वाला कहता है कि स्याद्वाद दर्शन की मान्यता वालों के मत में एक ही जीवादि वस्तु में विधीयमान निषिध्यमान अनन्त धर्म होते हों, परन्तु कथन की अपेक्षा 'अनन्त धर्मों को कहने के लिये सप्तभंगी ही है' ऐसा मानना उनके कथन में ही विरुद्ध है । उत्तर-किन्तु ऐसा नहीं है कि एक ही वस्तु में विधीयमान और निषिध्यमान अनन्त धर्म स्वीकार करने पर अनन्त भंगी होगी, सप्त भंगी ही नहीं रहेगी, ऐसा चित्त में सन्देह नहीं करना चाहिये । इस विषय में हेतु कहते हैं-विधि-निषेध प्रकार की अपेक्षा से वस्तु के प्रति पर्याय में अनन्त सप्त भंगी ही होना सम्भव है । तथापि एक-एक पर्याय को लेकर विधिनिषेध विकल्पों से और व्यस्तता समस्तता से सप्तभंगी हो सकती है न कि अनन्त भंगी । अनन्त भंगी कैसे हो सकती है ? और, पुनः प्रश्न-जब अनन्त भंगी का संगतत्व ठीक है फिर सप्तभंगी की उद्भावना क्यों करते हैं ? वहाँ सात ही भंगी कैसे हो सकती है ? क्योंकि वस्तु के धर्म अनन्त हैं, ऐसा आप ही कहते हैं । उत्तर है कि अनन्त धर्मों की अपेक्षा से अनन्त सप्त भंगी हमें अभिप्रेत ही है, भले अनन्त सप्त भंगी हो । इस कारण वस्तु में अनन्त धर्म हैं । कोई कहे कि वस्तु में धर्म और गुण पृथक्-पृथक् हैं, वे अनभिज्ञ हैं; क्योंकि नाम-भेद और अश-भेदत्व तो शब्दादि सभी नय सम्मत हैं अर्थात् मान्य हैं । घट कुम्भादि में एक वस्तु के स्वपर्यायवाची शब्दों में नामभेद से भेद है ही । इस रीति से गुण शब्द और धर्म शब्द में नामभेद है, किन्तु विशेष रीति से गुण और धर्म ये दोनों एक ही है ।

श्री विशेषावश्यक में कहा है—

“जह सो वैसेस धम्मो चेरण तह मया किरिया” । जैसे वह विशेष धर्म चेतना है, वैसे ही जीव की सारी क्रिया चेतनामय है । यहाँ चेतना गुण को धर्म शब्द से अभिहित किया है । पुनः भाष्य में कहा है—“ननु गुणस्वभावयोरभेद एव तदभेदनिबन्धनधर्मभेदाभावात्” गुण और स्वभाव का तो अभेद ही है, क्योंकि दोनों में धर्म भेद का कोई कारण नहीं है, उसका अभाव है । कहा भी है—

“हवे भेद गुण ना भाखीजे, तिहाँ आस्तिकता लहिये री” ।

यह पाठ द्रव्य गुण पर्याय रास में है । इस प्रकार महोपाध्याय श्री यशोविजय जी महाराज ने भी आस्तिकता धर्म को गुण नाम से अभिहित किया है तथा आगम-सिद्धान्त में भी उपयोगादि एवं अव्या-बाध अवन्ने आदि अनेक गुणों का कथन है तथा श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में मुक्त आत्मा “निष्क्रियस्तथा क्षायिकसम्यक्त्व-वीर्यसिद्धत्व-दर्शन-ज्ञानैरात्यन्तिकैः संयुक्तो निर्द्वन्द्वेनापि सुखेन तथाऽस्तिकायत्व-गुण-वत्त्वानादित्वाऽसंख्येयप्रदेशत्व-नित्यत्वादयः सन्त्येव जीवस्य ।” सिद्धा-वस्था प्राप्त मुक्त आत्मा निष्क्रिय होता है तथा क्षायिक सम्यक्त्व, वीर्य, सिद्धत्व, दर्शन ज्ञान से अत्यन्त संयुक्त, निर्द्वन्द्व सुख से युक्त तथा अस्ति-कायत्व, गुणवत्त्व, अनादित्व, असंख्य प्रदेशत्व, नित्यत्वादि जीव के हैं ही ।

यद्यपि श्री भगवती सूत्र में सिद्ध भगवन्त को अवीर्यी तथा तथा अचारित्रि हैं; ऐसा कहा है । तदपि वहाँ करण रूप चल वीर्य अर्थात् मन वचन काय की शक्ति रूप वीर्य वहाँ नहीं है, न इन तीन योग से करना, कराना और अनुमोदन रूप करण है । उसे ही श्री अनुयोगद्वार सूत्र में क्षायिक लब्धि के अधिकार में तथा प्रज्ञापना सूत्र में ‘वीर्य जीव का लक्षण है’ ऐसा कहा है तथा चारित्र प्रवृत्ति रूप में नहीं; किन्तु स्थिरता रूप में है, वहाँ से देखिये । वसुदेव हिण्डी और श्रीपाल चरित्र में भी सिद्ध स्तुति के अधिकार में कहा है :—

“जे एतं गुणा दुगुणा इगतीस गुणा य अहव अदठ गुणा ।

सिद्धा एतं चउक्का ते सिद्धा दितु मे सिद्धि ॥ ॥

अर्थ—जो सिद्ध अनन्त गुण वाले, दो गुण वाले, इकतीस गुण वाले अथवा अष्ट गुण वाले और अनन्त चतुष्क वाले हैं, वे मुझे सिद्धि प्रदान करें तथा बृहत्कल्प भाष्य में भी कहा है—

“द्वेण जीव द्ववं संखातीतपदे समो गाढं ।

काले अणाइणिहणे भावेणाणाइयाणंता ॥”

अर्थ—द्रव्य से जीव द्रव्य अनन्त हैं, क्षेत्र से असंख्य प्रदेशों के स्थान में अवगाहना करके रहे हुए हैं, काल से अनादि अनन्त हैं और भाव से अनादि अनन्त अरूपी हैं ।

इसी प्रकार द्रव्यार्णव तथा आप्तमीमांसादि अनेक ग्रन्थों में कहा है । अतः जब आत्मा की भेद व्याख्या करें तब अनन्त जीव हैं, एक-एक जीव के अनन्त गुण हैं, एक-एक गुण में अनन्त अविभाग हैं, एक-एक अविभाग में अनन्त पर्याय हैं । कम्मपयड़ी प्रकरण में भी ऐसी ही व्याख्या इष्टिगोचर होती है और श्री भगवती सूत्र टीका में भी यही अविभाग तथा पर्यायों का एकत्व बताया है । संक्षिप्त व्याख्या में दोनों गुण-पर्याय को पर्यायास्तिक नय कहा है । इस प्रकार के विचार-मति-विभ्रम का परित्याग करके श्रद्धावान बनना चाहिये । इसी कारण श्री सप्तम भगवान् श्री सुपाश्वर्षनाथ प्रभु की स्तवना में श्री अरिहन्त देव का परिचय कराने के लिए गुणों की पृथक्ता से व्याख्या करके उनकी पृथक्ता का ज्ञान कराने को और स्व आत्मसत्ता की रुचि उत्पन्न करने के लिये गुणों का पृथक् धर्म कहते हुए स्तवना करते हैं—

(राग—हो सुन्दर तप सरिखुं जग को नहीं)

श्री सुपास आनन्द में,

गुण अनन्त नो कन्द हो, जिनजी ।

ज्ञानानन्दे पूरणो,

पवित्र चारित्रानन्द हो, जिनजी । श्री सु० ।१।

श्री सुपाश्वर्षनाथ भगवान तो आनन्दमय हैं । शुद्ध आनन्द इन में है; क्योंकि इन के आनन्द में किसी प्रकार का मल या दोष नहीं,

अपितु स्वरूप का सुख है, परवस्तु की अन्य द्रव्य के संयोग की आवश्यकता नहीं। वे भगवान् अनन्त गुण के कन्द हैं—मूल हैं। गुण सहभावी होते हैं। कहा भी है—‘सहभावी गुणाः’ अथवा ‘द्रव्याश्रया गुणाः’ अर्थात् गुण द्रव्य का आश्रय लेकर रहते हैं। वे गुण उसी द्रव्य के हैं, अन्य द्रव्य के नहीं। गुणों में पर्याय हैं, क्योंकि कल्पभाष्य में कहा है—‘सध्वे सपज्जवा गुणा’ अर्थात् सर्व गुण पर्याय सहित हैं। आवश्यक निर्युक्ति का वचन है—‘अपज्जवे जाणणा नत्थिः पर्याय रहित गुण में ज्ञान नहीं है। अतः गुण में पर्याय हैं, किन्तु गुण में अन्य गुण नहीं हैं। श्री नयचक्र प्रकरण में कहा है कि यदि गुण में अन्य गुण हो तो गुण द्रव्यत्व प्राप्त कर लें; अतः गुण निर्गुण है। सुपाश्वर्नाथ भगवान् एक जीव द्रव्य हैं, वे अनन्त गुणों के कन्द हैं अर्थात् अनन्त गुण युक्त हैं। जैसे कन्द—वनस्पति काय का कन्द—मूली आदि अनन्त जीवों का कन्द है, भगवान् भी अनन्त गुणों से युक्त हैं। उनमें ज्ञान जो आत्मा का गुण है, वह विशेष अवबोध स्वरूप है। सकल पदार्थों के विशेष धर्म गुण पर्याय और उनकी अनन्त परिणति के ज्ञायक होने से नित्यानित्यादि अनन्त धर्मों का ज्ञायकत्व, वेतृत्व, अगुरुलघुत्व, अनन्त पर्यायों का पिण्ड, ऐसा ज्ञान गुण है; यह लोकालोक सकल प्रत्यक्ष रूप है, सर्व प्रदेश निरावरण रूप उसके आनन्द से पूर्णपावन-पवित्र है तथा कषाय—क्रोधादि, नोकषाय—हास्यादि नव से रहित और पुद्गल जड़ पदार्थ के भोग तथा प्राप्ति की आशा से रहित, निर्दोष स्वरूप स्थिरता रूप चारित्र्य, अनन्त पर्यायात्मक अकषायता, अवेदता—स्त्री पुं नपुंसक वेद रहितता, असंगता, परम क्षमा, परम मादंभ, परम निर्लोभता रूप, स्वरूप एकत्व रूप, हे सुपाश्वर् प्रभो ! ऐसा चारित्र्य आपमें है अर्थात् आप चारित्रानन्दमयी हैं; अतः आप पवित्र एवं निर्मल हैं।

संरक्षण विन नाथ छो,

द्रव्य विना धनवन्त हो, जिनजी ।

कर्ता पद किरिया विना,

सन्त अजेय अनन्त हो, जिनजी । श्री सु० ॥२॥

अर्थ—पुनः हे प्रभो ! आप 'संरक्षण बिन' किसी की शस्त्रादि धारण कर रक्षा नहीं करते तथापि नाथ हैं, रक्षक हैं अर्थात् किसी अन्य जीव की या धन-सम्पत्ति, स्वजन-परिजन, राष्ट्र, देश, नगर, ग्राम, आराम, क्षेत्र, राज्य आदि का संरक्षण कर चक्रवर्ती, नृपति, सेनापति, गृहपति या सामान्य द्वारपालादि का कार्य नहीं करते हैं । तथापि सर्व के त्राता शरणदाता और आधार-आश्रयदाता हैं । सर्व भव्य जीवों की मुक्ति के हेतु हैं और द्रव्य-बाह्य परिग्रह धन-वैभव, गज, अश्व, रथ, प्रासाद, हर्म्य, स्वजन, परिजन, वस्त्र, अलंकार, दास-दासी आदि सर्व प्रकार के धन से रहित होने पर भी आप स्वसम्पत्ति-ज्ञानादि स्वगुण पर्याय रूप अनन्त धन आपके पास है, अतः आप धनवन्त हैं । पुनः हे भगवन् ! कर्त्तापि भी आप में है । तन द्वारा गमनागमन, भोजनपान, आरोहण-अवरोहण, मन द्वारा होने वाले चिन्तन ध्यान मनन सङ्कल्प विकल्प आदि एवं वचन द्वारा की जाने वाली भाषण सम्भाषण प्रवचन गायन आदि किसी भी क्रिया की प्रवृत्ति का अभाव होने पर भी स्वभाव स्वरूप स्वगुणों का कर्त्तृत्व तो आप में है ही । 'मुक्त आत्मा निष्क्रिय होते हैं' ऐसा तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है । हे पुनः स्वामिन् ! आप सन्त-उत्तम हैं, अजेय अर्थात् आपको कोई जीत नहीं सकता, पराभव नहीं कर सकता । राग द्वेषादि शत्रु और उपसर्ग परिषह आदि पर आपने विजय प्राप्त की है, वे ही पराभूत हुये, आप तो सदैव अजेय ही रहे । पुनः आप अनन्त हैं । सिद्धावस्था का कभी अन्त होता नहीं । और अनन्त गुण पर्याय वाले हैं अतः आप अनन्त हैं ।

अगम अगोचर अमर तू,

अन्वय ऋद्धि समूह हो जिनजी ।

वर्ण गन्ध रस स्पर्श विन,

निज भोक्ता गुण व्यूह हो जिनजी । श्री सु० ॥३॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपका स्वरूप सामान्य ज्ञानी नहीं जान सकते । सामान्य मतिश्रुतादि ज्ञान के द्वारा आप गम्य-जानने योग्य नहीं हैं, न विशेष ज्ञानी-श्रुतकेवली अवधिज्ञानी आदि के गम्य-जानने योग्य

है। अगोचर इन्द्रियों द्वारा भी गोचर नहीं हैं, अर्थात् देखे नहीं जा सकते। अमर हैं, अर्थात् मरते नहीं; क्योंकि आयु कर्म का क्षय ही मृत्यु है, आप तो सर्व कर्मों से पूर्ण मुक्त हैं। प्राणों का वियोग मरण है, आप सर्व द्रव्य प्राणों से रहित हैं। हे भगवन् ! आप अन्वय अर्थात् आत्मा के सहज स्वाभाविक ज्ञायकादि गुण और उनकी प्रवृत्ति-ज्ञान दर्शन चारित्र वीर्यादि अन्वयी गुण हैं, उसी ऋद्धि सम्पदा के समूह हैं और कषायादि दोषों के हट जाने से अकषायादि गुण उत्पन्न हुये, वे व्यतिरेक गुण हैं। ऐसा होने पर भी, उनका सद्भाव होने पर भी जो गुण प्राप्त होते हैं, वे अन्वयी गुण हैं, उनके आप समूह हैं अर्थात् सर्वगुण रूप हैं। पुनः वर्ण गन्ध रस स्पर्श ये पुद्गल के धर्म-स्वभाव हैं, उससे रहित हैं। फिर भी निज-स्वयं का स्वरूप-ज्ञान-दर्शनादिमय स्वरूप उसके भोक्ता हैं। आप तो गुणों के व्यूह रचना विशेष हैं। गुण रूप ही आत्मा है।

अक्षय दान अचिन्तना,
लाभ अयत्ने भोग हो जिनजी।
वीर्य शक्ति अप्रयासता,
शुद्ध स्वगुण उपभोग हो जिनजी। श्रीसु०॥४॥

अर्थ—पुनः हे विभो ! आपके अनन्त गुणों की प्रवृत्ति किस रीति से होती है ? उसे ही बताते हैं। आपका वीर्य-शक्ति गुण वह अन्य गुणों को सहकार/सहायता देता है। वैसे ही ज्ञान गुण के उपयोग बिना वीर्य का स्फुरण नहीं होता, अतः वीर्य गुण को भी ज्ञान की सहायता है। ज्ञान में रमण चारित्र गुण की सहायता से होता है। पर में रमण न होना चारित्र को ज्ञान की सहायता है। इस प्रकार एक गुण को अनन्त गुणों की सहायता है। सभी गुण परस्पर सहायक हैं। यह सहाय गुण ही आत्मा का दान गुण है। अतः हे प्रभो ! इस प्रकार आप प्रति समय अनन्त स्वगुण सहाय रूप अनन्त दान देते हैं, तब भी आप अक्षय रहते हैं। अन्य दानदाता तो किञ्चित् समयानन्तर क्षय या सर्वथा नष्ट हो जाते हैं अर्थात् यम के अतिथि बन जाते हैं या उनका

धन घट जाता है, परन्तु आप तो सादि अनन्त काल पर्यन्त स्वाधीन रूप से स्वगुण रूप पात्र को अनन्त दान अक्षय रूप से देते रहते हैं; फिर भी आपकी गुण सम्पत्ति कभी क्षीण नहीं होती, अतः आप अक्षय रहते हुए दान देते रहते हैं। और, जो गुण की पारस्परिक सहायता रूप शक्ति (वीर्य) का लाभ होता रहता है, वह भी निरन्तर होता है। अन्य प्राणियों को जो लाभ होता है, उसका निश्चय नहीं कि सदा होता ही रहेगा। किन्तु, आपके तो न चाहते हुए भी अनन्त लाभ होता ही रहता है, अर्थात् आपको कभी ऐसा मनोविकल्प होता नहीं कि मुझे कुछ लाभ हो; क्योंकि आप अयोगी—मनो वाक् काय मुक्त हैं। अतः अचिन्त्य लाभ के स्वामी हैं। ऐसा आपका लाभ गुण है। पुनः हे नाथ ! आप स्वयं के गुण-पर्याय के भोक्ता हैं। बिना प्रयत्न के ही प्रतिसमय गुणों का भोग होता रहता है तथा उपभोग भी होता रहता है। आत्मा के सर्व गुणों की प्रवृत्ति का सहायक वीर्य (शक्ति) वह अनन्य सहाय अनन्त प्रतिक्षण स्फुरित होता रहता है। किन्तु, उस वीर्य की स्फुरणा बिना प्रयास ही होती रहती है तथा शुद्ध स्वगुण—स्वाभाविक दोषरहित निर्मल स्वगुण ज्ञानादि का आप उपभोग करते रहते हैं।

इस प्रकार अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने से ये पाँच गुण प्रकट हो गये हैं—दान—स्वरूप का दान, स्वरूप स्वगुणों का लाभ, स्वपर्याय का भोग, स्वगुणों का उपभोग, सर्व स्वपरिणति सहकार शक्ति (वीर्य) इस प्रकार से प्रकट हो गये हैं।

एकान्तिक आत्यन्तिको,

सहज अकृत स्वाधीन हो जिनजी ।

निरुपचरित निर्वान्द्र सुख,

अन्य अहेतुक पीन हो जिनजी । श्रीसु०॥५॥

अर्थ—पुनः हे भगवन् ! आपके जो सुख आविर्भूत हुआ है वह एकान्तिक सुख है। दुःख रूप में कदापि परिवर्तित नहीं होगा।

वह सुख आत्यन्तिक है; उससे अधिक अन्य सुख नहीं है अर्थात् सर्वाधिक है। वह भी सहज-स्वाभाविक, अकृत-बिना किया हुआ, किसी का किया हुआ नहीं, कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है। स्वाधीन-अर्थात् स्वयं के ही आधीन है, परवश नहीं। वह सुख निरुपचरित-उपचार से होने वाला नहीं है। 'असत् में सत् का आरोप उपचार कहलाता है।' वह आपके स्वाभाविक सुख में है ही नहीं। संसार में सातावेदनीय का सुख, औपचारिक सुख है। उस सुख को ज्ञानीजन सुख नहीं कहते। जो भवाभिनन्दी, मोहमूढ़, परमार्थ से अनभिज्ञ, विषय गूढ़ बना हुआ प्राणी है, वह इन्द्रिय देह-जनित सुख को सुख मानता है। वह स्वाभाविक सुख नहीं।

कहा है विशेषावश्यक भाष्य में—

“विसयसुहं दुक्खं चिय दुक्खपडियारओ तिगच्छं व्व ।
तं सुहमुवयाराओ न योवयारो विणा तच्च ॥२००६॥”

अर्थ—विषय-भोग-जन्य सुख दुःख रूप ही है। कष्ट पीड़ा का प्रतिकार करने वाली चिकित्सा के समान है। वह औपचारिक-अन्य संयोग से होने वाला सुख है, अन्य संयोग के बिना वह नहीं होता। और, जहाँ संयोग है वहाँ वियोग अनिवार्य है तथा वियोग-जन्य दुःख भी अवश्यम्भावी है ही।

तथा साता का उदय भी स्व-आत्म धर्म का अवरोधक है और कर्म के विपाक रूप है, अतः सुख नहीं।

“सायासायं दुक्खं तव्विरहंमि य जओ सुहं तेणं ।
देहिदिएसु दुक्खं सोक्खं देहेदियाऽभावे ॥२०११॥”

साता असाता दुःख है। उनके विरह में जो सुख है, वही यथोक्त वास्तविक सुख है। देह व इन्द्रियों में जो सुखानुभव है या दुःखानुभूति है, वह शरीर व इन्द्रियों का भाव है।

इस प्रकार औदयिक सुख वह सुख है ही नहीं। और, जो सिद्धों का निरुपम अनन्त आत्म-स्वभाव प्राग्भाव भोक्ता रूप से भोगा जाता

है, वही वास्तविक सुख है। पुनः निर्द्वन्द्व है अर्थात् जिसमें किसी भी जीव या अजीव का संयोग नहीं, परवस्तु का मिश्रण नहीं, कदापि परवस्तु का कारण पाकर उत्पन्न नहीं हुआ। अतएव कहा है कि वह सुख अहेतुक है, पीन अर्थात् पुष्ट है, प्रबल है। अतः श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् का आत्मिक सुख महानन्द स्वरूप है।

एक प्रदेशे ताहरे,
अव्याबाध समाय हो जिनजी।
तसु पर्याय अविभागता,
सर्वाकाश न माय हो जिनजी। श्री सु० ॥६॥

अर्थ—पुनः हे जनेन्द्र देव ! आपके आत्मा के एक प्रदेश में अनन्त गुण एवं अनन्त पर्याय हैं। अतः आपके एक प्रदेश में जो अव्याबाध गुण समाय हुआ, रहा हुआ है, वह अनन्त है। उस अव्याबाध सुख के अनन्त पर्याय हैं, उनकी अविभागता है, केवलज्ञानियों की प्रज्ञा में भी जिसके एक खण्ड/विभाग के दोखण्ड/दो विभाग नहीं होते, उसको अविभाग कहते हैं। वह अविभाग सुख लोकाकाश और अलोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रखा जाय तब भी सर्वाकाश में उसका समावेश नहीं हो सकता अर्थात् सर्वाकाश प्रदेशों से भी आपके एक प्रदेश में रहा हुआ अव्याबाध सुख उसका अविभाग अनन्त गुणा है; क्योंकि कहा है—

“खित्ताओ भाव धम्मा अनन्तगुणा।”

अर्थ—क्षेत्र से भाव धर्म अनन्त गुणा है।

एम अनन्त गुण नो धणी
गुण गुण नो आनन्द हो जिनजी।
भोग रमण आस्वाद युत
प्रभु तू परमानन्द हो जिनजी। श्री सु० ॥७॥

अर्थ—इस रीति से आप अनन्त गुणों के घणी-मालिक स्वामी हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, वीर्य, अव्याबाध, अमूर्तता, अगुरु लघुत्व, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पारिणामिकता, अचल, अविनाशी, अनन्त, अज, अनाश्रयी, अशरीरी, अनाहारी, अयोगी, अलेशी, अवेदी, अकषायी, असंख्य प्रदेशी, अक्रिय, शुद्धसत्ता प्राग्भाव रूप, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत्, भेद-अभेद, भव्यत्व, सामान्य-विशेष इत्यादि अनन्त गुणों के स्वामी हैं। उन गुणों का पृथक्-पृथक् आनन्द है। यहाँ दृष्टान्त से समझाते हैं कि जैसे संसारी गृहस्थ जीवन में धन का सुख भिन्न है। रूप का सुख भिन्न है। भ्राता, पत्नी, पुत्रादि का सुख भिन्न है। भोजन-पान वसन अलंकारादि का सुख भिन्न है। रूप-दर्शन, ज्ञानादि के श्रवण, सुरभिगन्ध, अनुकूल स्पर्शनादि का सुख, सुन्दर सुविधाजनक निवासस्थान, वाहनादि का सभी प्रकार का सुख भिन्न-भिन्न रूप में अनुभव होता है। वैसे ही सिद्ध भगवान् की आत्मा को भी प्रत्येक स्वगुणों का अनुभव भिन्न-भिन्न आनन्द के रूप में है, अतः उनको अनन्त गुणों का आनन्द भी अनन्त रीति से होता है। इतने सर्वगुणों का जैसा आनन्द है वैसे ही उन गुणों के भोग भी है; क्योंकि भोगे बिना आनन्द नहीं आता। अनन्त गुणों का भोग का आनन्द भी अनन्त है। सर्व गुणों में रमण भी अनन्त है वैसे ही सर्व का आस्वादन भी अनन्त है; क्योंकि अनन्त गुणों का आस्वादन करके उनका भोगी आत्मा आनन्द में विलास करता है। अतः हे प्रभो ! आप परमानन्दमय हैं। यहाँ गुण-गुणी का उपचार से भेद सूचित किया है। जो परमानन्दमयी हैं, वे ही परमानन्दमय देव हैं।

अव्याबाध रुचि थी,

साधे अव्याबाध हो जिनजी ।

देवचन्द्र पद ते लहे,

परमानन्द समाध हो जिनजी । श्रीसु० ॥८॥

अर्थ—ऐसा परमानन्द रूप अव्याबाध सुख श्री सुपाश्वनाथ प्रभु का है। ऐसा मुझे निर्धार/निश्चय हुआ कि जैसा सुख श्री वीतराग देव

को है, वैसा ही सुख मेरी आत्मा में भी है। ऐसा ज्ञान हुआ तब उस भव्यात्मा को भान हुआ कि “मैं भी ज्ञानादि अनन्त गुणशाली हूँ।” अब मेरे शुद्धानन्द का भोग कैसे प्रकट हो ? इस प्रकार के विचार वाला जीव उस पपीहा के सदृश है जो ज्येष्ठ मास में तृषातुर होकर मेघवर्षण की प्रतीक्षा में आकाश के अभिमुख हुआ समय व्यतीत करता है। अव्याबाध सुख की रुचि वाला, उसी सुख की प्राप्ति की अभिलाषा में पौद्गलिक-भौतिक भोगजन्य सुख को विषभक्षणवत् आत्म स्वरूप का घातक जान उससे विरक्त हुआ, आत्मानन्द प्राप्ति कैसे हो ? इसी चिन्तन में प्रवृत्त होता है। आत्मा के साधक मुनिवरों की शरण में जाकर वह आत्मा अव्याबाध सुख की प्राप्त्यर्थ स्वयं जगत् के भोगों से उदास बना हुआ, साधना करने लग जाता है और उस अव्याबाध सुख को सम्प्राप्त कर आनन्दमय बन जाता है। कहा भी है—

“पंचासवविरत्ता विसयविजुत्ता समाहिसंपत्ता ।

रागदोषविमुत्ता मुणिणो साहंति परमत्थं ॥”

अर्थ—पंचासव-हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से धिरक्त-त्यागी तथा विषयों से वियुक्त-संयोगरहित, समाधि को सम्प्राप्त, राग-द्वेष से विमुक्त मुनिजन परमार्थ-मोक्ष की साधना करते हैं।

“आउस्स ब्खीणमाणस्स पाणविओगे वि जे समाहि पया ।

सावय दड्ढवया वि हु गिहिणो साहंति परमत्थं” ॥

अर्थ—दृढ़ व्रती गृहस्थ श्रावक भी आयु के क्षीण होने और प्राणों का वियोग हो जाने के समय भी समाधि में ही रहते हैं, वे भी परमार्थ-मुक्ति की साधना करते हैं।

इस प्रकार उत्तम भव्य जीव स्याद्वाद स्वरूप शास्त्र प्रकरणादि का श्रवण कर, पंचासव का त्याग कर, विषयों से विरक्त होकर, शुद्ध संयम का पालन कर, देह से निःस्पृह हो मोक्ष की सिद्धि कर लेते हैं।

ऐसे मुनिराज और गृही श्रावक, विषयों की त्रिकाल में भी बाञ्छा नहीं रखने वाले तत्त्वगवेषक तत्त्वरसिक, तत्त्वानन्द रुचि

अनादि काल से कर्मों द्वारा आक्रान्त स्व-आत्म-स्वरूप को प्रकट करने के लिये समस्त पौद्गलिक-भौतिक पदार्थों से विरक्त हो निज स्वरूप को प्रकट करता है। वह साधक आत्मा, निमित्त-श्री अर्हन्तों का अवलम्बन लेकर स्वरूप का भी आलम्बन करता है और स्वरूप में एकत्व प्राप्त कर, क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ हो, घनघाती कर्मों का क्षय करके सयोगी केवलज्ञानी व केवलदर्शनी बन जाता है। आयु पूर्ण होने पर शैलेशी-करण द्वारा सर्व कर्मों से मुक्त हो, देवचन्द्र-देवों में सर्वोत्कृष्ट धर्मदेव केवली भगवान् उन सर्व में चन्द्र समान श्री तीर्थकर पद प्राप्त कर-लेता है। जिसमें परम समाधि है, वैसे स्वरूपधारक श्री सुपाश्वनाथ भगवान् की सेवा सदा करनी चाहिये। यही भव्य जीव साधक का आधार/त्राण/शरण रूप है।



श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र स्तवन

(राग—नन्दीश्वर बावन जिनालय)

श्री चन्द्रप्रभ जिनपद सेवा,
हेवाये जे हलिया जी ।
आतम गुण अनुभव थी मलिया,
ते भव भय थी टलिया जी । श्री० ॥१॥

अर्थ—अब श्री चन्द्रप्रभ भगवान का स्तवन करते हैं और सेवना क्या है ? इसे भी नय रूप से विस्तृत वर्णन कर हृदयंगम कराते हैं ।

श्री चन्द्रप्रभ भगवान के पद—चरणों की सेवा अर्थात् अरिहन्त पद की सेवा की 'हेवा' जिनके स्वभाव में सेवा करने का भाव स्थिर हो जाता है, सेवा किये बिना शान्ति नहीं मिलती है । ऐसी सेवा करने में जे हलिया अर्थात् जिनकी आदत पड़ गई है । उनका सारा समय प्रभु सेवा में ही व्यतीत होता है, एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता है । जिनके असंख्य आत्म-प्रदेशों में परम पूज्य श्री वीतराग देव आराध्य रूप से विराजमान हैं, वे भव्यात्मा चेतना-लक्षण असंख्य आत्म-प्रदेशों में स्वधर्म के कर्त्ता, स्वभाव के भोक्ता, स्वयं के ज्ञानादि अनन्त गुणों के अनुभव के द्वारा मलिया अर्थात् मिल गये हैं, अर्थात् गुण रूप ही हो गये हैं, आत्म-गुण भोगी बन गये हैं, वे ही जीव भव-चतुर्गति रूप संसार का भय-जन्म-मरण, स्वरूपरोधक कर्मों की आधीनता एवं परतन्त्रता के भय से टलिया अर्थात् बच गये हैं, रक्षित हो गये हैं, उन्हें जन्म-मरण का भय नहीं रहता है । यथार्थ रीति से जो परमात्मा की सेवा करे वह अवश्य असंसारी—मुक्त बनता है । अतः जो भव-भय

से मुक्त होने योग्य बन गये उनका संसार-भ्रमण शेष नहीं रहा । यह आन्तरिक हर्ष से उद्भूत वाक्य है । कारण मिलने पर अवश्य कार्य सिद्ध होता है । अरिहन्त सेवा में परिणत हुये उत्तम जीव प्रभु मिलन के पश्चात् संसार-सागर को गोपद-गाय के पाँव से बने हुए पृथ्वी के छोटे से खड्डे के समान मानते हैं ।

द्रव्य सेव वन्दन नमनादिक,
अर्चन वलि गुण ग्रामो जी ।
भाव अभेद थवा नी ईहा,
परभावे निष्कामो जी । श्री० ॥२॥

अर्थ—वह प्रभु सेवा चार प्रकार के निक्षेप से है—नाम सेवा, स्थापना सेवा, द्रव्य सेवा और भाव सेवा । इनमें नाम एवं स्थापना सेवा तो सुगम है । द्रव्य निक्षेप दो प्रकार से है—आगम से, नो आगम से ।

आगम से द्रव्य निक्षेप—सेवना पद का अर्थ और विधि भी जानता है, किन्तु सेवा करते समय अर्थ का ध्यान नहीं, मन अन्य विचारों में लगा हुआ है, वह आगम से द्रव्य निक्षेप वाली सेवा है । अनुयोगद्वारा में द्रव्य का लक्षण ऐसा है—‘अणुवओगो दव्वं’ जहाँ कार्य तो हो रहा है, परन्तु मन उस कार्य में नहीं है, उसको द्रव्य कहते हैं ।

नो आगम से द्रव्य निक्षेप—इसके तीन भेद हैं—१. ज्ञ शरीर, २. भव्य शरीर, ३. तद्व्यतिरिक्त । जो व्यक्ति जीवितावस्था में प्रभु सेवा करता था, उसका शव, ज्ञ-शरीर कहलाता है । जो भविष्य में प्रभु सेवा करेगा, अभी नहीं कर रहा है, वह भव्य शरीर के नाम से अभिहित होता है तथा जो सेवना की प्रवृत्ति अन्तरंग भाव सेवना की कारण रूप है, वह तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप से सेवना है ।

यहाँ जो शरीर योग से वन्दन-नमनादि की प्रवृत्ति है, वह व्यवहार नय से द्रव्य सेवना है और जो अन्तरंग मन द्वारा प्रभु के बहुमा-

नादि हैं वह ऋजुसूत्र नय से द्रव्य सेवना है। इस प्रकार द्रव्य सेवना का स्वरूप बताया। अर्हन्त देव के चार निक्षेप रूप कारण दृष्टिगोचर, श्रवण-गोचर, स्मरण-गोचर रूप से पाकर जो जीव वन्दन-हाथ जोड़ना, नमन करना, मस्तक भुकाना तथा अभ्युत्थान, अंजलि, समर्पण भाव आदि करना एवं चन्दन-पुष्पादि से अर्चन करना, पुनः गुणग्राम-मुख द्वारा मधुर ध्वनि से गुण गाना, स्तवन स्तुति स्तोत्रादि बोलना, ये सब द्रव्य सेवना जाननी चाहिये। और, जो संसार पराङ्मुख आत्मा अरिहन्त के गुणों का अत्यन्त बहुमान, असंख्य आत्म-प्रदेशों में अर्हन्त की अर्हन् दशा के विचार से आश्चर्यान्वितता, अद्भुतता, अर्हन्त निमित्तता के विरह में असह्य पीड़ा का अनुभव करना और अर्हन्त से अभेद होने की ईहा-चेष्टा, इच्छा अर्थात् स्वयं अर्हन्त बनने की अभिलाषा, भाव रूप से अर्हन्त रूप होने की भावना, वह भी सेवा रूप ही है; किन्तु भावरुचि रहित द्रव्य पूजा की प्रवृत्ति से बाल-लीला समान है। भाव रहित केवल द्रव्य प्रवृत्ति मार्जार संयम-कल्प है। अतः यहाँ भाव अभेद होने की ईहा को भी द्रव्य सेवा कहा है। द्रव्य प्रवृत्ति बिना अकेले भाव धर्म को भी तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य ने साधन कहा है। तथा सम्मति ग्रन्थ में भी कहा है—

“चरण-करणोपहाणा ससमय-परसमय-मुक्कवावारा।

चरणकरणस्स सारं नत्थि य सुद्धं न याणांति ॥

नाणाहिओ वरतर होणोवि हु पवयणं पभावन्तो।

न य दुक्करं करन्तो सुट्ठु वि अप्पागमो पुरिसो ॥”

अर्थ—जो केवल चरण-करण प्रधान धर्म का आचरण करते हैं, स्वसमय-स्वसिद्धान्त आगमादि, परसमय-अन्यदर्शनी जनों के सिद्धान्त को नहीं जानते, वे वास्तव में चरण-करण के सार से, शुद्ध धर्म से अनभिज्ञ हैं।

ज्ञानाधिक साधक हो श्रेष्ठतम है। शिथिल चारित्रवान प्रवचन की प्रभावना करता है। दुष्कर तप नहीं करता हुआ पुरुष

अल्पागमज्ञ होते हुए भी शासन प्रभावक है। इत्यादि वचनों से भाव धर्म ही मुख्य है। भाव तो द्रव्य बिना भी गुणकारी है; किन्तु भाव-साध्य से रुचिहीन अकेला द्रव्य-धर्म किसी काम का नहीं, ऐसी परम्परा है। पुनः परभाव-आत्म-धर्म से अन्य-पुण्यबन्ध, शुभ कर्म के विपाक की कामना या अभिलाषा से मुक्त जो द्रव्य सेवा है, वह तो सार्थक ही है, क्योंकि वह भाव की कारण है।

भाव सेव अपवादे नैगम,
प्रभु गुण ने संकल्पे जी।
संग्रह सत्ता तुल्य आरोपे,
भेदाभेद विकल्पे जी ॥श्री०॥३॥

अर्थ—अब भाव निक्षेप को बताते हैं, वर्णन करते हैं। भाव-निक्षेप के दो भेद हैं—आगम से, नोआगम से। भाव सेवा के रहस्य को, शब्द-वाक्यों के अर्थ आदि को ध्यान में रखता हुआ जो साधक सेवा-वन्दन अर्चनादि करता है, वह आगम से भाव सेवा है। यहाँ आधार-आधेय का अभेद होता है, यह भाव निक्षेप है। और, जो जीव भाव सेवा में परिणत हो गये हैं अर्थात् वैसी भावना में लीन होकर सेवा कर रहे हैं, उनकी सेवा-पूजादि, भक्ति-गुणगानादि नोआगम से भाव सेवा कही जाती है। यहाँ मूल निश्चय-वास्तविक धर्म से विचार करने पर शुद्ध आत्मधर्म में सेव्य-सेवक भाव नहीं है। सत्ता की अपेक्षा सभी आत्माएँ समान हैं और कोई भी आत्मा परस्पर अपने धर्म का विनिमय (लेन-देन) नहीं करती है। परन्तु, जो संसारी आत्माएँ हैं वे अनादि काल से १८ पापस्थानक में लीन होकर कर्म परवश बने हुये, विभाव-भावित हुये पुद्गल-कर्ममय बने हुये, पौद्गलिक-भौतिक सुखों के भिखारी स्वतत्त्व को विस्मृत कर, मोहकर्म के कारागार में बन्दी (कैदी) होकर दुःख भोग रही हैं। वे जब साधना करती हूयों कर्म-कारागार से मुक्त हो, स्वरूप को प्राप्त कर सिद्ध हो जाती हैं, तो वह सिद्धत्व श्री वीतराग अर्हन्तदेव का पूज्य-भाव से अवलम्बन लेने पर ही प्राप्त होता है। अतः स्वात्मकार्य-सिद्धत्व प्राप्ति के लिए भव्य जीव उन

अर्हन्त प्रभु का निमित्त कारण रूप से अवलम्बन लेकर अन्तरंग परिणाम भाव से अर्हन् का दर्शन, नमन, अर्चन, सेवा-भक्ति करता है तब तक सेवक रहता है और जब सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूप पूर्णानन्दमय बन जाता है तब वही आत्मा सेव्य बन जाता है। यह निमित्तावलम्बी सेवा ही भाव से अपवाद सेवा है और अपवाद सेवा करते हुए स्वयं का साध्य सिद्ध करना, वह उत्सर्ग से सेवा है। कहा भी है—

“उक्कोसो उत्सर्गो जस्स संपुण्णममलसब्भावो ।
अववाओ तस्साहरण तव्वुड्ढिकरो अरणेगविहो ॥”

अर्थ—जिनका उत्कृष्ट रूप से सम्पूर्ण निर्दोष स्वभाव हो गया है, जिससे आगे अन्य कोई आत्मदशा है ही नहीं, उसे उत्सर्ग अवस्था कहते हैं और उस उत्सर्ग दशा को प्राप्त करने के लिये कारण रूप मार्ग अंगीकार करना; उसे अपवाद कहते हैं। यहाँ प्रभु सेवा करते जो आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है अर्थात् आत्मा सिद्ध स्वरूप बन जाती है वह उत्सर्ग है और जो इस आत्म-सिद्धि के कार्य में कारण रूप श्री अर्हन्त का अवलम्बन दर्शन-पूजन सेवा भक्ति है, वह सर्व आत्मा को शुद्ध करने की साधना के कारण हैं। अतः ये सब अपवाद सेवा है और यह सप्तनयों से सात भेद रूप हैं। उनका वर्णन निम्न रूप से है :—

१. नैगम नय—‘अनेके गमाः संकल्पारोपांशाश्रयाद्या यत्र स नैगमः’ अर्थात् जहाँ अनेक नामादि गम-मार्ग ग्रहण हों, संकल्प, आरोप और अंश से भी वस्तु को स्वीकार करे, वह नैगम नय है।

२. संग्रह नय—‘संगृह्णाति वस्तु सत्तात्मकं सामान्यं सः संग्रहः’ जो सर्व का संग्रह करे, सर्व का ग्रहण करे, वस्तु की सत्ता को सामान्य रूप से ग्रहण करे, वह संग्रह नय है।

३. व्यवहार नय—‘संगृहीतं अर्थविशेषेण विभजति इति व्यवहार नयः’ संग्रह नय से गृहीत सामान्य को अंश-अंश से, भेद से पृथक्-पृथक् विभक्त करे, वह व्यवहार नय है।

४. ऋजुसूत्र नय—‘ऋजु अतीत-अनागत-वक्रत्व-परिहारेण ऋजु सरलं वर्तमानं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः’ जो ऋजु अर्थात् सरल वर्तमान अवस्था को ग्रहण करे, अतीत एवं अनागत की वक्रता का परिहार कर दे, वह ऋजु सूत्र नय है।

५. शब्द नय—‘शब्दार्थरूपं तद्धर्मरूपपरिणति इति शब्दनयः’ प्रकृति प्रत्ययादि व्याकरण व्युत्पत्ति से सिद्ध शब्द, उसमें पर्यायार्थक शब्द बोलै, उसमें जो अर्थ है वही कर रहा हो, तब की अवस्था ही स्वीकार करे, वह शब्द नय है। यथा—पढ़ते हुये को पाठक कहे, अन्य अवस्थाओं में नहीं। तत्त्वार्थवृत्ति में भी यही कथन है—‘शब्दवशाद् अर्थप्रतिपत्तिरिति। शब्द नयश्च शब्दानुरूपमर्थं इच्छति’ शब्दानुसार अर्थ का ज्ञान हो उसे ही शब्द नय से ज्ञान रूप माने। यह शब्द नय शब्दानुरूप कार्य चाहता है।

६. समभिरूढ नय—‘सम्यक् प्रकारेणार्थपर्याय-वचन-पर्यायितः सकलभिन्न-वचनभिन्न-भिन्नार्थं तत्समुदाययुक्ते ग्राहक इति समभिरूढ नयः’ वस्तु के जितने वर्तमान पर्याय हैं, तथा जिस नाम के जितने वचन पर्याय हैं, वे सर्व शब्द से भिन्न हैं, जैसे—घट कुम्भ इत्यादि। जो शब्द भिन्न हैं, उसका अर्थ भी भिन्न होता है अर्थात् तद्भाव रूप से भिन्न हैं। वे सब वचन पर्याय रूप परिणामन करती वस्तु को वस्तुरूप से ग्रहण करते हों, वह समभिरूढ नय है।

७. एवम्भूत नय—‘सर्व अर्थपर्यायेषु स्वक्रियाकार्यपूर्णत्वेन एवं यथार्थतया भूतः एवम्भूतः’ सर्व अर्थ पर्याय अनन्त हैं, वे सर्व स्वधर्म में सम्पूर्ण स्वयं की क्रिया, वस्तु का धर्म है वह, सम्पूर्ण रूप से हो गया, हो, उसे ही एवम्भूत नय स्वीकार करता है।

इस विषय में श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नय को द्रव्यार्थिक नयों के रूप में मान्य किया है और शब्दादिक तीन नयों को पर्यायार्थिक रूप से भाव निक्षेप में स्वीकृत किया है तथा ऋजुसूत्रादि चार नय को भाव रूप कहा है। उसका आशय यह है कि वस्तु की तीन अवस्थाएँ हैं—१. प्रवृत्ति,

२. संकल्प, ३. परिणति । यह तीन भेद हैं । इनमें योग-व्यापार-संकल्प व चेतना के योग सहित मन के विकल्प को श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण प्रवृत्ति धर्म कहते हैं तथा संकल्प धर्म को उदयैक मिश्रता रूप के कारण द्रव्य निक्षेप कहते हैं और मात्र परिणति धर्म को भाव निक्षेप मानते हैं ।

श्री सिद्धसेन दिवाकर ने विकल्प को चेतना के कारण भाव नय रूप में स्वीकार किया है । प्रवृत्ति की सीमा तक व्यवहार नय है, संकल्प ऋजुसूत्र नय है, एक वचन पर्याय रूप परिणति शब्द नय है और सकल वचन पर्याय रूप परिणति समभिरूढ़ नय है । वचन पर्याय और अर्थ पर्याय रूप सम्पूर्ण परिणति एवंभूत नय है । अतः शब्दादि तीन नय विशुद्ध नय हैं और भाव धर्म में मुख्य भाव की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के ग्राहक हैं । इस प्रकार से संक्षेप में नय का अधिकार बतलाया । अब इन सात नयों से अपवाद भाव सेवना के सात भेद कहते हैं—

१. श्री अर्हन्त रूप स्वजातीय अन्य आत्म द्रव्य के स्वरूप का चिन्तन करने पर चेतना का जो अंश प्रभु के गुणानुयायी संकल्प (जो इससे पूर्व कभी नहीं हुआ था) को इन्द्रियादि के विषयों से निवृत्त कर प्रभु के गुणों में लगाया । इस निमित्तावलम्बिता के लिये अपवाद रूप अन्तरंग परिणाम जो भाव सेवना का संकल्प रूप है, वह एक गम नहीं; किन्तु अनेक गम-मार्ग रूप है । अतः यह नैगम नय से अपवाद भाव सेवना है और आत्म-सिद्धि की निष्पत्ति में कारण रूप है ।

२. श्री अरिहन्त देव के असंख्यात आत्म-प्रदेशों में निष्पन्न निरावरणता को दृष्टि में रखकर, मेरी स्वयं की भी ऐसी ही निरावरणता हो सकती है, मुझ में भी वही शक्ति सत्ता रूप से रहो हुई है, उभय की तुल्यता का आरोपण करे । मुझ में अभी वैसी निरावरणता नहीं है, इसका पश्चात्ताप करे, जिन अंशों में ज्ञानादि निरावरण बने हैं उनका गौरव करे, प्रभु के सर्व निरावरण गुणों का बहुमान करे तथा भेद अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से श्री वीतराग अर्हन्त प्रभु और मेरा आत्म-द्रव्य भिन्न है; किन्तु सत्ता साधर्म्य से अभिन्न है । इस प्रकार सापेक्ष रूप से बहुमान युक्त स्वसत्ता प्रकट करने की रुचि वाले का जो ऐसा विकल्प है, वह संग्रह नय से अपवाद भाव-सेवना कहलाती है ।

व्यवहारे बहुमान ज्ञान निज,
 चरणों जिन गुण रमणा जी ।
 प्रभु गुण आलम्बी परिणामे,
 ऋजु पद ध्यान स्मरणा जो ॥श्री०॥४॥

अर्थ—स्वयं के क्षयोपशमजन्य ज्ञान-दर्शनादि एवं वीर्यादि उनमें प्रति-समय श्री अर्हन्तादि के शुद्ध स्वरूप, केवलज्ञानादि की सम्पदा—उपकार सम्पदा रूप देशना—धर्म कथन जो शुद्ध उपकारी रूप में है और चौतीस अतिशय, पैंतीस वचनातिशय एवं अष्ट प्रातिहार्य रूप सम्पदा है; उन्हीं में स्व उपयोग रखे और कभी प्रभुजी की प्रभुता का विस्मरण न करे तथा बहुमान अर्थात् श्री वीतराग की सर्व से अधिक महानता है, ऐसी श्रद्धा रखे । स्ववीर्य-शक्ति का प्रयोग जिन भक्ति में करे तथा चरण-चारित्र्य से अर्हन्त के गुणों में रमण अर्थात् एकत्व तन्मयता प्राप्त करे । यहाँ जो क्षायोपशमिक आत्म गुणों की प्रवृत्ति भासनादि है वह सब अर्हन्तानुयायी हो जाती है । अतः यह सर्व व्यवहार नय से अपवाद भाव-सेवना है ।

४. प्रभु श्री परमात्मा अयोगी एवं अलेशी हैं, उनके गुणों का अवलम्बन लेकर परिणाम-अन्तरंग आत्म द्रव्य की क्षायोपशमिक परिणति सामान्य चक्र भावरूप, उनमें तन्मय रूप से रहे । उनका कभी विस्मरण नहीं करे, उन्हीं के स्मरण में तदुपयोग से रहे । उसी को जब तक धर्मध्यान रूप में आलम्बन लेकर साधना करे तब तक ऋजुसूत्र नय से अपवाद भाव-सेवना रूप है । यह भी आत्मसाधन रूप उत्सर्ग भाव सेवा का कारण रूप है । इससे यह अपवाद भाव-सेवा कहलाती है ।

शब्दे शुक्ल ध्यानारोहण,
 समभिरूढ गुण दशमे जी ।
 बीय शुक्ल अविकल्प एकत्वे,
 एवंभूत ते अममे जी ॥श्री०॥५॥

अर्थ—अब श्री वीतराग प्रभुस्वरूप शुद्ध आत्मा का आलम्बन लेकर जो जीव भाव-मुनित्व की रुचि वाला होकर, दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य रत्नत्रयमय परिणत होकर, पृथक्त्व वितर्क सप्रविचार रूप शुक्लध्यान में परिणत हो गया, उस समय वह जीव शब्द नय से भाव-सेवना वाला हुआ। अर्थात् ऋजुसूत्र नय से तो प्रशस्त उदयैक सहित अर्हन्त गुण की इष्टता आदि परिणामों के सहकार से था। और, जहाँ शब्दनय से हुआ वहाँ प्रशस्तावलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती। साधक भव्यात्मा के गुण उन सभी गुणों से एकरूप होकर, स्वरूप एकत्वता प्राप्त शुक्ल ध्यान की शुद्धता में परिणत हो गये तब शब्द नय भाव-सेवना कही जाती है। अथवा साधन रूप होने से अपवाद कहलाता है।

जब साधक आत्मा दशवें सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान पर आरूढ़ हुआ, शुक्ल ध्यान के प्रथम पाद के अन्त में आया और परम निर्मल भाव का वरण किया, उस समय जितनी आत्मगुण की साधना करने योगवीर्य की मन वचन काय रूप शक्ति की सहायता से साधकता हुई, वह सर्व अपवाद से हुयी। और, उत्सर्ग मार्ग से तो योग भी जो आत्मा द्वारा परित्याग करने योग्य हैं, उस समय वे भी साधन रूप हैं। अतः यहाँ कारण से ग्रहण किये गये हैं; किन्तु वे शुद्ध स्वरूप में नहीं। और, जितने कारण रूप से ग्रहण किये जाते हैं, वे सभी अपवाद रूप हैं। अतः दशम गुणस्थान में समभिरूढ नय से अपवाद भाव-सेवना है। यह भी साधक का स्थान है।

जब शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाद एकत्व वितर्क अविचार रूप में आरूढ़ भाव-मुनि निर्विकल्प समाधि का वरण कर लेता है अर्थात् समाधिलीन बनता है, स्वरूप एकत्व रूप से परिणत हो जाता है तब साधना की पूर्णता हो जाती है, अतः एवंभूत नय से सेवना हो जाती है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि साधना तो अयोगी गुणस्थानक पर्यन्त है, तब यहाँ क्षीण मोह गुणस्थान में एवंभूत नय से सेवना कैसे कहते हो? उत्तर—अयोगी गुणस्थान तक तो उत्सर्ग साधना है। यहाँ तो अपवाद साधना का अधिकार है और अपवाद साधना यहाँ पूर्ण हो जाती है। पुनः, कोई प्रश्न करे कि निर्मोह अवस्था में अर्थात् १२ वें

गुणस्थान में क्षीण मोह दशा है, वहाँ अपवाद कैसे कहते हो ? उत्तर है कि शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाद में भी अभी चेतना को एक आत्मधर्म में रखने का प्रयोग है । और, सयोग वीर्य उदयानुगत दशा का सहायक है तथा श्रुतज्ञान का आलम्बन है । क्षायोपशमिक श्रुतज्ञान यह उत्कृष्ट उत्सर्ग दशा में मूल आत्मिक वस्तुधर्म में नहीं है और अभी उसका आलम्बन है, तब तक वह अपवाद ही है । अतः १२ वें क्षीणमोह गुण-स्थान में एवंभूत नय से अपवाद भाव-सेवा जाननी चाहिए । इसी प्रकार अपवाद भाव-सेवना के सप्त नयों से सात भेद कहे हैं ।

उत्सर्ग समकित गुण प्रकट्यो,
नैगम प्रभुता अंशे जी ।
संग्रह आतम सत्तालम्बी,
मुनि पद भाव प्रशंसे जी ॥श्री०॥६॥

अर्थ—अब उत्सर्ग भाव-सेवना मार्ग की अपेक्षा से सप्तनयों के सप्तभेद कहते हैं । यहाँ जितना आत्म धर्म रूप स्वकार्य उत्पन्न होता है, उसे उत्सर्ग सेवा कहते हैं अर्थात् करने योग्य कार्य को उत्कृष्ट रूप में करना चाहिये । किन्तु, उस कार्य में जितनी कमी है, उसे स्पष्ट करने के लिए नयों से समझाने चाहिए, अतः यहाँ नयों से समझाते हैं ।

१. जब आत्मा के शंकादि पाँच अतिचार रहित क्षायिक आत्म-तत्त्व निर्धार/निश्चय रूप शुद्ध सम्यक्त्व/सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है, तब साधक में आत्मा की आंशिक प्रभुता का गुण प्रकट हो जाने से आत्मा का एकांशिक रूप कार्य हुआ । इस कारण नैगम नय से उत्सर्ग भाव-सेवा हुयी । यहाँ कोई प्रश्न करे कि आत्मा का आंशिक रूप से गुण विकसित हुआ; उसे सेवा क्यों कहते हो ? उत्तर है कि, 'तन्मय रूप होकर रहना' यही सेवना का अर्थ है । और, यहाँ तन्मयता हो जाती है । अथवा यद्यपि सम्यक्त्व गुण तो प्रकट हुआ, किन्तु अभी आत्मा के अनन्त गुणों को प्रकट करना है, अतः इसको सेवना कहा गया है । जितना उपादान कारणत्व है, उतना ही उत्सर्ग साधन है । अतः इसकी उत्सर्ग भाव-सेवा रूप से गवेषणा की है । आप्तमीमांसा

में कहा है—“उवायाणं उत्सर्गो, निमित्तं अववाय देवोत्ति” उपादान आत्मा उत्सर्ग रूप है और शुद्ध देव निमित्त कारण रूप अपवाद है । अतः उपादान की प्राप्ति ही उत्सर्ग-सेवा है । और, आत्मा के जो अनन्त गुण हैं, उनमें से एक सम्यक्त्व गुण प्रकट हुआ; वह आत्मा का एक अंशमात्र प्रकट हुआ । इस कारण नैगम नय से उत्सर्ग भाव-सेवा हुयी और यही उत्सर्ग से आत्म गुण प्रभुता सम्यग्दर्शन रूप में प्रकट हुयी ।

२. जब उन भाव-मुनि ने स्वयं की आत्म शक्ति को जो यद्यपि अभी कर्मों से आवृत है तथापि “वह मुझ में सत्ता रूप से विद्यमान है” ऐसा निश्चय करके उसको भासनगत किया अर्थात् उसका ज्ञान किया । ऐसा करके वह स्व-सत्तावलम्बी शुद्ध धर्ममय बन गया । वही आत्मसत्ता भासन, रमण और एकत्व सत्ता सम्मुख हुआ रहता है । अर्थात् यह जीव आज तक स्वसत्तावलम्बी नहीं बना था, वह अब हो गया । इतना उपादान स्मरण में आया । अतः इसे संग्रह नय से उत्सर्ग भाव-सेवा कहते हैं ।

३. जब साधक जीव ने अप्रमत्त मुनि अवस्था प्राप्त कर उपादान कारणाता को पूर्ण रूप से स्वरूपावलम्बी बनाया । वह अवस्था आत्मा की परिणाम-प्रवृत्ति, ग्राहकता, व्यापकता, भोक्तृता, कर्तृता आदि सर्व स्वरूपावलम्बी बन गयी । उस समय अन्तरंग आत्म वस्तुगत व्यवहार वस्तुस्वरूप वाला था, वह वस्तु-स्वरूप वाला बन गया, उसे ही व्यवहार नय से उत्सर्ग भाव-सेवना कहते हैं । ऐसे मुनिपद के भाव की प्रशंसा करे अर्थात् उसका प्रशंसनीय व्याख्यान करना चाहिये । इस प्रकार तीन नयों से उत्सर्ग सेवना बतायी, अब ऋजुसूत्रादि नय से उत्सर्ग सेवना बताते हैं ।

ऋजुसूत्रे जे श्रेणि पदस्थे,
आत्म शक्ति प्रकाशे जी ।
यथाख्यात पद शब्द स्वरूपे,
शुद्ध धर्म उल्लासे जी ॥श्री०॥७॥

अर्थ—जो आत्मा क्षपक श्रणी पर आरूढ़ होकर स्वशक्ति को प्रकाशित करता है, उसे ऋजुसूत्र नय से उत्सर्ग भाव-सेवना कहते हैं ।

५ जब आत्मा में यथाख्यात क्षायिक चारित्र उत्पन्न हुआ, तब उस चारित्र की सहकारी आत्म शक्ति प्रकट होकर शुद्ध अकषायी, असंगी, निःस्पृहता रूप शुद्ध धर्म उल्लसित हुआ । जो वीर्यादि कषायानुयायी बन जाते थे वे भी अब स्वरूपानुयायी बन गये और उसी में रमण करने लग गये । यह साधना-धर्म जितना उल्लसित हुआ वह सर्व शब्द नय से उत्सर्ग भाव-सेवना कही जाती है, ऐसा जानना चाहिए । यहाँ स्वरूप रमण करने वाला अन्य की सहायता की अपेक्षा न करके जितना स्वयं की शक्ति पर निर्भर बनता है, उतना ही वह उत्सर्ग सेवना वाला बनता जाता है । यही शब्द नय से उत्सर्ग-सेवना है ।

भाव सयोगी अयोगी शैलेशे,

अन्तिम दुग नय जाणो जी ।

साधनताये निज गुण व्यक्ति,

तेह सेवना वखाणो जी ॥श्री०॥८॥

अर्थ—जिस समय आत्मा घातिकर्मों—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का क्षय कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य ये अनन्त चतुष्टय प्रकट करता है । इन चार गुणों से संकर-मिश्रित और सहकार से अन्य वक्तव्य और अवक्तव्य अनन्त स्वधर्मी गुण प्रकट हुए, आत्मानन्दी बने, उस समय समभिरूढ़ नय से उत्सर्ग भाव-सेवा हुयी ।

७. जिस समय सयोगी केवली शैलेशोकरण करता है, आत्म प्रदेशों का घन करता है, अयोगी केवलित्व होता है, तब एवंभूत नय से उत्सर्ग भाव-सेवना जाननी चाहिये । यहाँ कोई प्रश्न करे कि एवंभूत नय तो मोक्षावस्था में कहना चाहिये ? उत्तर—मुक्त आत्मा तो सिद्ध है, उन्हें तो कुछ नवीन अवस्था उत्पन्न नहीं करनी है और अयोगी को तो अभी सिद्धावस्था प्राप्त करनी है । अतः जब तक कार्य पूर्ण न हो, तब तक तो साधना ही है और सेवा भी साधना रूप ही है । इस कारण

साधन का अन्त अयोगि केवली गुणस्थान में कहा गया है और सिद्ध का एवंभूत, वह मुक्त आत्मा है। इस प्रकार साधना को भली प्रकार से समझाया। उत्सर्ग सेवना के सात नय किस-किस गुणस्थान में हैं, यह भी अभिव्यक्त किया। अब इनका स्वरूप बताते हैं—

साधनता अर्थात् साधना करते हुए निज गुण—स्वात्मा के गुणों की अभिव्यक्ति को ही आत्म-सेवना वखाणो अर्थात् कहो। जितनी साधना है, उतनी ही अपवाद सेवा जाननी चाहिये और साधना करते-करते जितनी-जितनी अभिनव आत्म शक्ति प्रकट होने की कारणता सहित आत्म-शक्ति की अभिव्यक्ति हो, वह उत्सर्ग भाव-सेवा जाननी चाहिये। शुद्ध आत्म अवस्था, वह साध्य है तथा आत्म धर्म रूप में प्रकट हुई आत्म सम्पूर्णता के कारण रूप होती हुई जो संवा है, उसे उत्सर्ग भाव-साधना जाननी चाहिये। जो उत्सर्ग भाव-साधना है, वह कार्य है और निमित्तावलम्बी अपवाद भाव-सेवा, वह कारण है। शेष सर्व द्रव्य सेवा का कारण है। इस प्रकार कार्य-कारण भाव का ज्ञान करना चाहिये।

कारण भाव तेह अपवादे,

कार्य रूप उत्सर्गे जी।

आत्म भाव ते भाव द्रव्य पद,

बाह्य प्रवृत्ति निःसर्गे जी ॥श्री०॥६॥

अर्थ—यहाँ जितना कारण भाव है वह सर्व अपवाद जानना चाहिये और जितना कार्य स्वगुण निष्पत्ति रूप है उतना उत्सर्ग समझना चाहिये। ये उत्सर्ग और अपवाद के लक्षण कहाँ तथा किस प्रकार फलित होते हैं? उत्तर—जिज्ञासुओं को यह सर्व बृहत्कल्पभाष्य तथा उसकी टीका से विस्तार रूप में जानना चाहिये। जितनी बाह्य प्रवृत्ति है, वह द्रव्य निक्षेप है। श्री चन्द्रप्रभ स्वामी की ऐसी सेवा करने में जो तत्पर हो गये हैं अथवा सेवा करने का जिनका स्वभाव हो गया है, वे आत्म-धर्म का सम्पूर्ण रूप से वरण करें अर्थात् सम्प्राप्त करें।

कारण भाव परम्पर सेवन,
 प्रकटे कारज भावो जी ।
 कारज सिद्धे कारणता व्यय,
 शुचि पारिणामिक भावोजी ॥श्री०॥१०॥

अर्थ—अब कारण भाव श्री अर्हन्त देव हैं, उनकी परम्परा से अर्थात् कुल-धर्म रूप से द्रव्य-सेवना करते हुये भाव-सेवना प्रकट होती है और भाव-सेवा से उत्सर्ग-धर्म उद्भूत होता है अर्थात् प्रकट होता है । तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप का अनुभव रूप और शुद्ध सिद्धता रूप कार्य के सिद्ध हो जाने पर कारणता का व्यय/नाश हो जाता है; क्योंकि जब तक कार्य में न्यूनता रहती है तब तक कारण की आवश्यकता है और कारण रहता है । कार्य सिद्ध हो जाने पर कारण नहीं रहता । तब क्या रहता है ? उसे ही कहते हैं—शुचि/पवित्र आत्मा का पारिणामिक भाव-द्रव्यकर्म, भाव-कर्म, नोकर्म के सद्भाव रूप के हेतु कर्ममल के सर्वथा नष्ट हो जाने पर मात्र शुद्ध आत्मभाव शेष रहता है । जिस रूप में आत्मा का मूल लक्षण उपयोग स्वरूप है, वही स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूपत्व रहता है अर्थात् आत्मा परमानन्द अविनाशी अवस्था का वरण कर लेता है ।

परम गुणी सेवन तन्मयता,
 निश्चय ध्याने ध्यावे जी ।
 शुद्धातम अनुभव आस्वादी,
 देवचन्द्र पद पावे जी ॥श्री०॥११॥

अर्थ—इस प्रकार परम गुणी—उत्कृष्ट गुणवान् श्री अर्हन्त देव शुद्ध देवाधिदेव वीतराग की सेवा जो अत्यन्त दुर्लभ है, परम पुण्योदय—पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्रभाव से किन्हीं भाग्यशाली जीवों को ही प्राप्त होती है । ऐसी अत्यन्त दुर्लभ प्रभु-सेवा प्राप्त कर, उसमें तन्मय होकर जो जीव निश्चय से स्वरूप ध्यान से—एकत्वता रूप से ध्यान करते हैं, वे प्राणी शुद्ध-निष्कलंक कर्मरहित चिदानन्दधन आत्मा का अनुभव—

यथार्थ ज्ञान वेद्य संवेद्य पद सहित आस्वादन कर, देव-निर्ग्रन्थ वीतराग उन सब में चन्द्रवत् सौम्य प्रकाश वाले अथवा भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में श्रेष्ठ इन्द्र अहमिन्द्रादिवत् श्रेष्ठतम श्री देवाधिदेव, भाव उद्योत करने वाले, सौम्यता, समता और शीतलता के कारण श्री अरिहन्त पद-स्थान को प्राप्त करते हैं। हे भव्यजनों ! यदि आप अपने आत्म-सुख के अभिलाषी हैं और शुद्धानन्द में विलास करना आपको इष्ट है, तो 'श्री चन्द्रप्रभ स्वामी' वर्तमान चौबीसी में हुये अष्टम तीर्थकर भगवान् शुद्ध देवाधिदेव, अशरण-शरण, जगत के आधार, जगज्जीवों के परमोपकारी, मोह तिमिर का ध्वंस करने वाले भाव सूर्य, कर्म महारोग के श्रेष्ठतम वैद्य, महामाहण, महागोप, महानिर्यामिक, महा सार्थवाह, सम्यक् दृष्टि जीवों के जीवन-प्राण, देशविरतिजनों के लिए तो महामन्त्रवत् जपनीय, साधु निर्ग्रन्थजन जिनकी आज्ञा का पालन करते हैं, उपाध्यायजनों के मानस-हंस, आचार्यों के नाथ, गणधरादि के साक्षात् मोक्षहेतु और स्याद्वाद मार्ग-धर्म के उपदेष्टा, ऐसे श्री अरिहन्त देव की सेवा करो, यही एक मात्र आधार है।

श्री चन्द्रप्रभ तीर्थकर देव की सेवा 'जब तक आपकी सम्पूर्ण सिद्धता न हो' तब तक अखण्ड रहे। यही हार्दिक शुभाशीष है। यही सारभूत है अर्थात् भगवत् सेवा ही मानव जन्म में करने योग्य सर्वश्रेष्ठ कार्य है। और, यही श्रीमद् देवचन्द्र का आशीर्वचन है।



६. श्री सुविधि जिनेन्द्र स्तवन

(राग—थांरा महलां ऊपर मेह भबूके बीजली हो लाल)

दीठो सुविधि जिनन्द,
समाधि रस भर्यो हो लाल । समाधि० ।
भास्यो आत्म स्वरूप,
अनादि नो बीसर्यो हो लाल । अनादि० ॥
सकल विभाव उपाधि,
थकी मन ओसर्यो हो लाल । थकी० ॥
सत्ता साधन मार्ग,
भगी ए संचर्यो हो लाल । भगी० ॥१॥

अर्थ—अब श्री सुविधिनाथ भगवान् की स्तुति करते हैं । कोई भव्य जीव अनादि काल से मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योग रूप द्रव्य भाव हेतु रूप से परिणत हुआ, एकेन्द्रिय—पृथ्व्यादि सूक्ष्म बादर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय रूप से अनन्त भव पर्यन्त भव-चक्र में भ्रमण करता हुआ, अनेक कुदेवादि, कुगुरु, कुधर्मादि की वासना से वासित होकर इन्हीं में देवादि की बुद्धि रखता हुआ अथवा सुदेवादि वीतराग में कर्तृत्वादि प्रमुख दोष मानता हुआ किसी भी समय वीतराग प्रभु की प्रभुता दृष्टिगोचर नहीं कर सका । ऐसे जीव की भवस्थिति का परिपाक होने पर किसी शुभ पुण्य के उदय से उसे भगवान् श्री सुविधिनाथ जिनेन्द्र की मुद्रा के दर्शन हुये । उसी मुद्रा दर्शन से सम्यग्दर्शन (श्रद्धा), सम्यग्ज्ञान (भासन) रूप से अरूपी अनन्त गुण प्रभुता रूप में परिणत हुयी । श्री अर्हन्त तीर्थंकर भगवन्त की प्रभुता को देखकर उल्लसित चित्त से वह भव्य जीव प्रभु की उपकारिता को प्राप्त कर, हर्षित होकर प्रेम से कहता है कि, मैंने श्री सुविधिनाथ

भगवान के दर्शन किये अर्थात् भासन रूप से प्रतीति सहित भगवान को को देखा । वे प्रभु कैसे हैं ? मैंने उन्हें कैसा देखा ? 'समाधि रस भयों' अर्थात् समाधि रस से भरा हुआ देखा । समाधि अर्थात् आत्मगुणों की वस्तुगत स्थिरता वाला उनका स्वरूप है, वैसा देखा । विभिन्न प्रकार की उपाधियाँ हैं । यथा—आत्म-गुणों से विपरीत प्रवृत्ति रूप उपाधि, विषय-कषायानुयायी प्रवृत्ति रूप उपाधि, तप्त उद्धत वक्र परिणाम रूप उपाधि, सर्व विभाव प्रवृत्ति रूप उपाधि, इन सर्व उपाधियों से निवृत्त होने पर एवं सकल गुण स्वरूप परिणामी होने पर आत्म-गुणों में वास्तविक स्थिरता ही समाधि है । ऐसी समाधि के रस से भयों अर्थात् सम्पूर्ण रूप से समाधिमय रस से भरे हुए श्री सुविधिनाथ भगवान के दर्शन किये । उनके दर्शन से एक महान् लाभ मुझे हुआ । कौन सा लाभ हुआ ? वह यह कि 'भास्यो आत्म-स्वरूप' अर्थात् आत्म-स्वरूप का भास-ज्ञान हुआ । अनादि एवं अतीत काल से विस्मृत, शुद्ध चिदा-नन्दमय आत्मस्वरूप का मुझे भास-ज्ञान हो गया कि, अहो ! मेरा भी आत्म-स्वरूप इन महाप्रभु के जैसा ही है । भास हो जाने पर सकल सर्व विभाव-आत्मिक अशुद्धता से विषय-कषायादि की प्रवृत्ति रूप उपाधि से मेरा मन 'ओसर्यो' अर्थात् अपसृत हो गया, हट गया/दूर हो गया कि, अरे यह तो विभाव परिणति है, मेरी स्वभाव परिणति नहीं । इस विभाव परिणति का मैं न तो कर्त्ता हूँ और न यह मेरी है । इनका कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व और परिणमन मेरे योग्य नहीं है । ऐसा विचार कर इन विषय-कषायादि से मेरा चित्त निवृत्त हो गया । इससे जितनी भी मेरी क्षायोपशमिक आत्म-परिणति है वह सर्व राग-द्वेष और असंयम से निवृत्त होने लगी । और, सत्ता अर्थात् अनन्त गुण रूप आत्म-सत्ता एवं उसके साधन की रीति सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना रूप आत्मिक कार्य के 'मार्ग' पथ 'भणी' उस पथ की ओर 'संचर्यो' मैंने प्रस्थान किया अर्थात् इस आत्मा ने आत्म-साधना के मार्ग पर प्रयाण किया, उस पर चलना आरम्भ किया ।

तुम प्रभु जाणंग रीति,
 सर्व जग देखता तो लाल । सर्व० ।
 निज सत्ताये शुद्ध,
 सहु ने लेखता हो लाल । सहु ने० ॥
 पर-परिणति अद्वेष,
 पणो उवेखता हो लाल । पणो० ।
 भोग्यपणो निज शक्ति,
 अनन्त गवेषतां हो लाल । अनन्त० ॥२॥

अर्थ—पुनः हे प्रभो ! आप षड्रव्यात्मक जगत् को अपने केवलज्ञान, केवलदर्शन से जानते और देखते हैं; किन्तु जाणंग-ज्ञायक रीति से । क्योंकि, ज्ञान और दर्शन दोनों आपके स्वभाव हैं और राग-द्वेष नष्ट हो जाने से वे पूर्ण रूप से प्रकट हो गए हैं । अतः आप मात्र ज्ञाता एवं द्रष्टा हैं और जानना-देखना आपकी रीति-स्वभाव है । परन्तु, उसमें शुभ परिणामी वस्तु के ग्राहक नहीं हैं और अशुभ परिणामी वस्तु के द्वेषी नहीं, यथार्थ रीति से जगत् के ज्ञाता मात्र हैं । कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ग्राहकत्व, स्वामित्व आदि से मुक्त, अहं ममत्व बुद्धि रहित सर्व भावों के ज्ञाता हैं । पुनः, हे प्रभो ! आप निज सत्तायें अर्थात् सर्व द्रव्यों को स्व-स्व सत्ता रूप में शुद्ध/निर्दोष निःसंग जानते हैं । पंचास्तिकाय में तीन धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय तो स्वतः निःसंग हैं । पुद्गलास्तिकाय का संयोगत्व तो भेद-संघात धर्म वाला है, किन्तु कर्तृत्व रूप से नहीं । वह स्व-स्व सत्ता का लोप नहीं करता । जीवास्तिकाय का यद्यपि पुद्गलास्तिकाय के साथ अनादिकालीन सम्बन्ध है जिससे विभाव परिणति है, तथापि सत्ता रूप से वह स्वभाव रूप में मूल ज्ञानादि धर्ममय है । हे प्रभो ! उसको आप मूल सत्ता रूप से ही जानते एवं देखते हैं । उसमें पर-परिणति-भाव अशुद्धता, ज्ञानावरणीयादि कर्म, काम-क्रोधादि सर्व को अद्वेष रूप से, आत्म-धर्म से भिन्न होने के कारण आप उनकी उपेक्षा करते हैं, उनका आदर नहीं करते । जिसका द्वेष से त्याग किया जाय, वह त्याग

ही वास्तविक त्याग नहीं है। त्याग समता के लिये कहा गया है; क्योंकि समता सामायिक है और द्वेष भाव तो परपरिराति है, अतः आप उसकी उपेक्षा करते हैं। पुनः हे भगवन् ! आप भोग्य रूप से स्वगुणों को भोगते हैं। अनन्तगुण पर्याय रूप, परम चैतन्य रूप, परमानन्द स्वरूप, सहज सुख रूप निज शक्ति है। ऐसी अनन्त-तत्त्व-विलासता, तत्त्व रमणता को ही आप भोग्य रूप गिनते हैं। स्वधर्म को ही भोग्य रूप जानते एवं मानते हैं और उस अनन्त शक्ति की ही आप गवेषणा करते हैं। अतः, हे सुविधि जिनेश्वर ! आप परमात्म रूप परमधर्म के भोगी हैं।

दानादिक निजभाव,
हता जे परवशा हो लाल । हता० ।
ते निज सम्मुख भाव,
ग्रही लही तुभ दशा हो लाल । ग्रही० ॥
प्रभु नो अद्भुत योग,
सरूप तरागो रसा हो लाल । सरूप० ॥
भासे वासे तास,
जास गुण तुभ जिसा हो लाल । जास० ॥३॥

अर्थ—जो दानादिक आत्मधर्म क्षायोपशमिक हैं, वे सर्व परानुयायी हैं, पुद्गलानुयायी हैं। वे अनादि से परवश हो रहे थे। वे सर्व आपकी शुद्ध वीतराग दशा को सम्मुख पाकर सभी दानादि क्षायोपशमिक भाव आत्म-सत्ता के सम्मुख अभिमुख होकर आत्मावलम्बी भाव ग्रहे अर्थात् ग्रहण कर लेते हैं और अर्हन्तावलम्बी होने के पश्चात् ये सारे गुण स्वरूपावलम्बी और गुणावलम्बी हो जाते हैं। हे प्रभो ! आपके अद्भुत योग-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य इन तीन रत्नों की साधना रूप योग जो अन्य योग-साधना मुक्त होने के लिए की जाने वाली यम-नियमादि रूप अष्टांग योग की साधना से अद्भुत है, अनोखी है, उसकी रसा-भूमिका है अर्थात् आत्मा का

स्वरूप जो ज्ञानादि रत्नत्रयमय है, उसकी भूमि/स्थान है। अतः रत्नत्रय को साधना अन्य योगों से इस प्रकार अद्भुत है। रत्नत्रय का स्वरूप इस प्रकार है—

१. सम्यग्ज्ञान—निर्विकार, निःसहाय, निष्प्रयत्न, निर्मल, निरन्तर सकलावबोधक ज्ञान।

२. सम्यग् दर्शन—यथार्थ सर्व सापेक्ष अदूषित रूप से सकल पदार्थों का निर्धारण/निश्चय करने वाला है।

३. सम्यक् चारित्र—नीराग, निश्चल, निरामय, तत्त्वैक-स्वरूप स्थिरता परिणाममय होता है।

यह रत्नत्रयी है। यह अनन्त स्वभाव, अनन्त पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भेदाभेद अस्ति-नास्ति स्वरूप से युक्त है। हे जिनेश्वर ! ऐसी रत्नत्रयी आप में परिणत हो गई है अर्थात् आप रत्नत्रयमय हैं। इस रत्नत्रयी का वासन-प्रतीति, भासन-पहचान/ज्ञान उसे ही होता है, जिसके आपके जैसे गुण प्रकट हो गये हों, अर्थात् हे सर्वज्ञ ! हे त्रैलोक्यदीपक ! हे नाथ ! यह आपकी रत्नत्रयी जो आप जैसा ही गुणी हो, उसे ही प्राप्त होती है। उसे ही इसका ज्ञान है।

मोहादिक नी धूमि,

अनादि नी ऊतरे हो लाल । अनादि० ।

अमल अखण्ड अलिप्त,

स्वभावज साँभरे हो लाल । स्वभा० ॥

तत्त्वरमण शुचि ध्यान,

भणी जे आदरे हो लाल । भणीजे० ।

ते समता रस धाम,

स्वामि मुद्रा वरे हो लाल । स्वामि० ॥४॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी मुद्रा परम समतारस की धाम/स्थान है । ऐसी अन्य किसी की नहीं हो सकती ; क्योंकि ऐसी समस्त परभाव-रहित परिणति अन्य किसी की है ही नहीं । वह तो आप सदृश वीतराग के ही है । जो वीतराग है, वही ऐसा हो सकता है और वही इस स्थिति को कह भी सकता है । किन्तु, आपकी मुद्रा के दर्शन मात्र से ही भव्य जीव की अनादिकालीन मोहादि-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादि षट्क, त्रिवेद-स्त्री पुं नपुंसक वृत्ति, विषयों की आसक्ति की घूमि-गहल/ अर्ध मूर्च्छा जिससे स्वरूप की अग्राहकता, परभाव-ग्राहकता, परभाव-रमणता रूप विभावता जो अनादिकाल से आत्मा में है, वह उतरे अर्थात् दूर हो जाती है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह विभावता यदि अनादिकाल से है, तो आत्मा का स्व-परिणाम है, या पर-परिणाम है ? यदि स्व-परिणाम है तो विभाव क्यों कहते ? और, जो पर-परिणाम है तो अनादि नहीं कहना चाहिये ।

उत्तर—यदि पहले जीव और पश्चात् कर्म मानें तो, सिद्धों के भी कर्म लग सकते हैं, ऐसा मानना पड़ेगा । और, पहले कर्म और पश्चात् जीव मानें तो कर्त्ता बिना कर्म का संभव कैसे हो सकता है ? ऐसा पक्ष उपस्थित होता है । अतः अनादि सहजात संयोग है । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि उभय संयोग युगपत् — साथ ही कहते हो तो फिर कार्य-कारण का सम्बन्ध कैसे रहेगा ? उत्तर—उपादान धर्म में एक समय में कार्य - कारणता युगपत् ही है । जैसी सम्यग् ज्ञान सम्यग्-दर्शन की है, वैसी ही यहाँ भी है । विशेषावश्यक भाव्य से यह सब जानना चाहिये ; जिसमें इस प्रकार कहा है—

“न य कम्मस्स वि पुब्बं कत्तुरभावे समुद्भवो जुत्तो ।

निष्कारणो सो विय तह जुगवुप्पत्ति भावे य ॥

अर्थ—कर्त्ता के अभाव में कर्म का समुद्भव पहले युक्त नहीं है । अतः दोनों की उत्पत्ति युगपत् और निष्कारण ही मानना उचित है ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अनादि का संयोग है तो वियोग कैसे हो सकता है ? उत्तर—

“जह वेह कंचणोव्वल-संजोगोऽणाइ संतइगओ वि ।
बोच्छिज्जइ सोवायं तह जोगो जीव-कम्माणं ॥”

अर्थ—जैसे इस जगत् में कनकोत्पल अर्थात् स्वर्ण व मिट्टी का संयोग अनादि सान्त रूप होने पर भी उपाय—अग्नि आदि द्वारा पृथक् किया जाता है वैसे ही जीव और कर्मों का संयोग भी यद्यपि अनादि है तथापि तप के द्वारा पृथक् किया जा सकता है ।

ऐसा पूज्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का वचन है । अर्थात् यह विभाव परिणाम यद्यपि अनादिकालीन है, तथापि वह कर्मसंगजनित है, आत्म-स्वरूप या स्वभाव नहीं । अतः इस का वियोग उपाय से किया जा सकता है । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि विभाव यदि कर्म-जन्य है तो वह कर्तृत्व कैसे है ? उत्तर—जो स्वरूप का कर्ता आत्मा है, उस पर कर्मों का आवरण आया हुआ है । परभाव—कर्मसंयोग से वह आत्मा पर-कर्म का कर्ता बना हुआ है । उस विभाव मोह की घूमि-गहल/नशा मद उतरे अर्थात् दूर हो, तब मिथ्यात्व रूप विभाव रमणता भूल/गलती दूर हो और अमल—राग-द्वेष-मल रहित, अखण्ड—कभी खण्डित नहीं होने वाला आत्म-स्वरूप, अलिप्त—कर्म लेप रहित ऐसा स्व-आत्मा का वास्तविक स्वरूप साँभरे अर्थात् स्मरण हो, भासन/गोचर हो । उसे यह भान हो कि मेरी आत्मा यद्यपि कर्मों से लिप्त है, किन्तु वह स्वभाव से अलिप्त है, निरामय है, कर्म से सम्बन्ध होने पर भी आत्मा पृथक् है, निःसंग है । ऐसी आत्मा का जब भान हो तब वही साधक आत्मा स्वयं के आत्म-तत्त्व में जो शुद्ध निश्चय नय से सर्वथा शुद्ध है, उसमें रमण करता है । अनादि पौद्गलिक अशुद्ध वर्णादि के रमण को छोड़कर स्व के ज्ञानादि अनन्त गुणों में रमण करने लग जाता है, तब यही तात्त्विक चारित्र्य—अर्थात् सम्यक् चारित्र्य प्रकट हो जाता है । तदनन्तर शुचि पवित्र निर्मल ध्यान—अर्हन्तादि गुणवान् महापुरुषों के गुण-स्वरूप में तन्मयता रूप धर्मध्यान करके अपने अनन्त पर्यायों की परिणति प्राग्भाव अनुभवैकत्व सत्तागत तिरोभावी का

भासन, एकत्व शुक्ल ध्यान को जो आदरे-स्वीकार करे, वह पुरुष सर्व विभाव का क्षय करके परम समता रस के घाम श्री जिनेन्द्रदेव की मुद्रा अर्थात् उनकी वीतराग अवस्था को प्राप्त करता है। निर्मल पूर्णानन्द वाला बनता है।

प्रभु छो त्रिभुवन नाथ,
दास हूँ ताहरो हो लाल। दास० ।
करुणानिधि अभिलाष,
अछे ए मुझ खरो हो लाल। अछे० ॥
आतम वस्तु स्वभाव,
सदा मुझ साँभरो हो लाल। सदा० ।
भासन वासन एह,
चरण ध्याने धरो हो लाल। चरण० ॥५॥

अर्थ—अब प्रभु से विनय पूर्वक स्वयं का मनोरथ प्रकट करते हैं—
हे भगवन् ! आप त्रिभुवन नाथ हैं अर्थात् त्रैलोक्य में विद्यमान सभी जीवों के रक्षक हैं। सम्यग्दर्शनादि गुणों को प्राप्त करवाने और उनकी रक्षा करने में परम श्रेष्ठ कारणभूत हैं। हे प्रभो ! मैं आपका दास हूँ। यद्यपि वीतराग का दासत्व तो सम्यक्त्वधारी देशविरति तथा सर्वविरति के है ही; किन्तु यह भद्रक-सरल एवं विनम्रता सूचक औपचारिक वचन है। यहाँ श्रीमद् ने 'दास' का प्रयोग कर स्व की लघुता अभिव्यक्त की है। हे करुणानिधि ! करुणा के निधान मेरी यह अभिलाषा खरो अर्थात् वास्तविक है कि मुझे आत्मा के वस्तु स्वभाव-ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यमय स्वरूप है उनका सदा स्मरण होता रहे।

श्री आचारांग सूत्र में आत्मा का निम्नाङ्कित रूप से शुद्ध स्वरूप-वर्णित है :—

“सव्वे सरा नियट्ठंति, तवका तत्थ न विज्जइ, मइ तत्थ न गाहिया,
ओए अपइट्ठाणस्स खेयण्णे। से न दीहे, न हस्से, न बट्ठे न तंसे, न
चउरंसे, न परिमंडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिये, न हालिद्दे, न

सुक्किले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाये, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गुरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काऊ, न रुहे, न संगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिण्णे सण्णे, उवमा न विज्जइ, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि ।” (आचारांग सूत्र अ० ५, उद्दे० ६, सूत्र १७०)

अर्थ—उस आत्म-स्वरूप का कथन करने में सभी स्वर-अ इ उ आदि असमर्थ हैं। इस आत्म-विषय को समझने में कोई तर्क समर्थ नहीं है; अर्थात् आत्मा अक्षरों-स्वर व्यञ्जनादि एवं तर्कों से अतीत है, बुद्धि द्वारा भी ग्राह्य नहीं है। वह ओज स्वरूप है, सर्व मल एवं कलङ्कादि से रहित है। वह औदारिक आदि शरीरों से रहित है अर्थात् सर्व ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों से मुक्त खेदज्ञ-केवल ज्ञान युक्त है। आत्मा का कोई संस्थान/आकार दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, त्र्यसं-तिकोन, चतुरस्र-चौकोर, परिमण्डल-गोलाकार रूप नहीं है। वह आत्मा वर्ण रहित है, अर्थात् कृष्ण, नील, पीत, रक्त, श्वेत नहीं है। वह गन्ध रहित-सुगन्ध एवं दुर्गन्ध विहीन है। उसमें कोई रस-स्वाद नहीं है। रस पांच हैं :—तित्त, कटु, कषाय आम्ल और मधुर। आत्मा का कोई स्पर्श कर्कश-खुरदरा, मृदु-कोमल/नरम, गुरु-भारी, लघु-हल्का, शीत-ठण्डा, उष्ण-गरम, स्निग्ध-चिकना, रूक्ष-लूखा-ये आठ स्पर्श नहीं हैं। वह आत्मा कापोतादि लेश्याओं से मुक्त है, अथवा काऊ शब्द से शरीर भी लिया जा सकता है। आत्मा शरीर से रहित है। न रुहे अर्थात् वृक्ष तृणवत् उगने वाला नहीं है। संगरहित है। न स्त्री है, न पुरुष है, न अन्यथा अर्थात् नपुंसक है। परिज्ञ अर्थात् सर्वज्ञ है, संज्ञ-समदर्शी है। उसे समझने को कोई उपमा नहीं है। आत्मा की सत्ता अरूपी है। उस अपद का कोई पद नहीं अर्थात् पद, स्थान या चिन्ह नहीं है, क्योंकि आत्मा अमूर्त है।

शुद्ध सत्ता स्वरूप वाला, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र्य, अनन्त वीर्य इन चार अनन्त चतुष्क वाला, स्वरूप का कर्ता, स्वरूप का भोक्ता, स्वरूप परिणामी, असंख्य प्रदेशी, प्रत्येक प्रदेश में अनन्त पर्याय वाला, नित्यानित्यादि अनन्त स्वभाव वाला, स्वकीय कारक चक्र

परिणामी रूप ऐसा मेरा स्वभाव है, उस का सदा मुझे स्मरण रहे एवं मुझे उसका भासन (ज्ञान) रहे । वासना का अर्थ प्रतीति, भासन का ज्ञान और रमण का अर्थ चारित्र्य है । इन्हीं में सदैव मेरा ध्यान रहे अर्थात् उसी आत्म-स्वभाव में मेरी तन्मयता रहे, ऐसा मेरा मनोरथ है । साधक भाव में साधक-रीति से सिद्धावस्था में सिद्ध-रीति से जीव रहता है । मैं साधकावस्था में रहा हुआ अपनी साधना में लीन रहूँ, यही मनोरथ/अभिलाषा है ।

प्रभु मुद्रा ने योग,
 प्रभु प्रभुता लखे हो लाल । प्रभु० ।
 द्रव्य तणो साधर्म्य,
 स्वसम्पत्ति ओलखे हो लाल । स्वसंपत्ति० ॥
 ओलखता बहुमान,
 सहित रुचि पण वधे हो लाल । सहित० ।
 रुचि अनुयायी वीर्य,
 चरण धारा सधे हो लालाचरण ॥ ६० ॥

अर्थ—यहाँ कोई प्रश्न करे कि तू अपने आत्म-धर्म की रुचि वाला बना, इसमें प्रभुजी का क्या उपकार हुआ ? उनकी क्या आवश्यकता है ? इसी का उत्तर इस गाथा में है । जो जीव आत्म-स्वभाव को विस्मृत कर परभाव में रमण करने वाला होकर 'यह मेरा शरीर ही मेरी आत्मा है' ऐसा भाव रखता हुआ, पुद्गलों का व्यासंगी, अनंग-कामदेव का संगी अथवा कुलिगी और लिंगी बनने पर भी ममता भाव में रमण करते हुए, 'स्व-सत्ता-धर्म को भूल गया था', वह अब अनन्त ज्ञानी मोह-रहित वीतराग की स्थापना निक्षेप रूप प्रशान्त मुद्रा के दर्शन कर, योग मिलने पर अनन्त गुण स्वरूप सकल ज्ञायक शूद्धात्म रूप ऐसे प्रभु की प्रभुता को लखे अर्थात् विचार करता है । और, अपनी आत्मा के साथ तुलना करता है कि, अहो ! जीवों के गुणों का साधर्म्य एक समान होने पर भी प्रभु तो सिद्ध हो गए और मैं संसार में ही भ्रमण कर रहा हूँ । मैं और भगवान सत्ता से सदृश ही हूँ । गुण पर्याय स्वभाव

से भी तुल्य हैं, जैसी प्रभु की ज्ञानादि सम्पदा है। इन श्री सुविधि-नाथ तीर्थंकर भगवान की सम्पत्ति-ज्ञानादि अनन्त गुण प्रकट हो गये हैं, वैसी और उतनी ही सम्पदा मेरी आत्म-सत्ता में भी है, अतः मैं भी इतनी ही सम्पदा का स्वामी हूँ। ऐसा ओलखे अर्थात् अपने को जान लेता है, पहचान लेता है। इस प्रकार स्व-सम्पत्ति को जान लेने पर उस पर बहुमान उत्पन्न होता है और उसे प्रकट करने की रुचि भी जागृत हो जाती है कि मेरी ऐसी ज्ञानादि सम्पदा कैसे प्रकट हो। रुचि जागृत होने पर उसे प्राप्त करने का उद्यम होता है। उस रुचि का अनुयायी वीर्य (शक्ति-पुरुषार्थ) भी हो जाता है, क्योंकि शक्ति-स्फुरण भी रुचि का अनुयायी होता है। और, जिस ओर वीर्य-स्फुरण (शक्ति प्रयोग) है, उधर रमण भी होता है अर्थात् रुचि वाली वस्तु को प्राप्त करने का उद्यम/उद्योग करता है। सारांश यह है कि प्रभु के दर्शन होने पर प्रभु को प्रभुता/विशिष्टता अर्थात् अनन्त ज्ञानादि गुणों का ज्ञान करने की भावना उत्पन्न होती है। जानने पर स्वात्मा भी ऐसा ही ज्ञानादि अनन्त सम्पत्ति का स्वामी है, ऐसा बोध होता है। यह बोध होने पर स्व-सम्पत्ति को प्रकट करने की रुचि जागृत होती है। तदनन्तर रुचि का अनुयायी वीर्य सम्यक् चारित्र आत्म-रमण रूप बनकर उधर ही कार्यशील बनता है। अर्थात् ज्ञानादि अनन्त गुणों को विकसित करने की प्रक्रिया द्वारा संयम तप ध्यान आदि में संलग्न होकर, आवारक कर्मों का क्षय कर, अनन्त ज्ञानादि समुपलब्ध कर पूर्ण सिद्धावस्था भी क्रमशः प्राप्त कर लेता है। अतः प्रभु-मुद्रा का दर्शन इन सर्व का मूल निमित्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। स्थापना दर्शन का भी उतना ही लाभ है जितना साक्षात् दर्शन का। इसका विशद वर्णन श्री शान्ति जिन स्तवन में आ रहा है, अतः वहाँ द्रष्टव्य है।

क्षायोपशमिक गुण सर्व,

यथा तुम्ह गुण रसी हो लाल । यथा० ।

सत्ता साधन शक्ति,

व्यक्तता उल्लसी हो लाल । व्यक्तता०॥

हवे सम्पूरण सिद्धि,

तणी शी वार छे हो लाल । तणी०।

देवचन्द्र जिनराज,

जगत्रय आधार छे हो लाल । जग०॥७॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपकी मुद्रा के दर्शन करने पर मेरे भी सर्व क्षायोपशमिक गुण, चेतना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यादि समस्त अब आपके गुणों के रसिक बन गये हैं । इस प्रकार गुणों की रसिक चेतना बन जाने पर जो आत्म-शक्ति अनन्त गुण रूप सत्ता कर्मों से आच्छादित थी, वह किञ्चित् व्यक्त होकर उल्लसित हुई, जिससे साधन-शक्ति भी जागृत हो गयी । यों निमित्त कारण मिलने पर उपादान कारण आत्मा भी तत्त्वरुचि, तात्त्विक, तत्त्वावलम्बी बन गयी, तो अब सम्पूर्ण सिद्धता प्रकट होने में क्या देर हो सकती है ? अतः 'श्री देवचन्द्र' स्तुतिकर्ता अथवा सर्व देवों में चन्द्रवत् श्री जिनराज श्री तीर्थंकर भगवान् सुविधिनाथ प्रभु जगत्रय तीन जगत में निवास करने वाले सभी जीवों के आधार हैं अर्थात् जिन मुद्रा के आलम्बन से जगत्त्रय निवासी भव्यजीवों में से अनन्त जीव अतीत में सिद्धि का वरण कर चुके हैं, वर्तमान में भी अर्हन्त देव के आलम्बन से सिद्ध हो रहे हैं । अतः अर्हन्तदेव का दर्शन, स्मरण, वन्दन, नमन, पूजन, स्तवन और ध्यान करो, जिससे हे भव्य जनों ! सिद्धि प्राप्त हो ।



१०. श्री शीतल जिनेन्द्र स्तवन

(राग—आदर जीव क्षमा गुण आदर)

शीतल जिनपति ! प्रभुता प्रभु नी,
मुक्त थी कहिय न जाय जी ।
अनन्तता निर्मलता पूरणता,
ज्ञान बिना न जणाय जी ॥शी०॥१॥

अर्थ—अब दसवें तीर्थ कर श्री शीतलनाथ प्रभु की स्तवना करते हैं। कवि का कथन है कि श्री शीतलनाथ जिनेन्द्र की अनन्त अविनश्वर आत्मिक प्रभुता प्रत्यक्ष तो केवलीगम्य है तथा सम्यग्दृष्टि तत्त्वरुचि जीवों की श्रद्धा में है। अतः कहते हैं कि हे शीतल जिनपति ! आपकी जो प्रभुता, कषाय, नोकषाय, तृष्णा आदि के ताप से मुक्त परम वीतरागता, निःस्पृहता, परभाव अयोग्यता से प्रकट परम शीतलता के रूप में है, अतः आपका नाम सार्थक है। आप जिन-सामान्य केवली मुनिजनों के पति-स्वामी हैं, प्रभु हैं। ऐसी आपकी प्रभुता अनन्त सहज सम्पदा (महान् ऐश्वर्य) मुक्त जैसे अल्पज्ञानी द्वारा नहीं कही जा सकती, क्योंकि सिद्ध भगवन्तों के अभिलाष्य एवं अनभिलाष्य अर्थात् कहे जा सकें व न कहे जा सकें, ऐसे सर्व गुण पर्याय निरावरण हो गये हैं। उनमें अनभिलाष्य तो यद्यपि केवलज्ञानी जानते हैं, पर वे वचन अगोचर हैं, अतः कह नहीं सकते। और, जो अभिलाष्य हैं, वे भी अनन्त हैं और वचन-प्रवृत्ति क्रमिक हैं, सीमित आयु में कहे नहीं जा सकते।

जीव द्रव्य अनन्त हैं, एक-एक जीव के असंख्य प्रदेश हैं, प्रत्येक प्रदेश में अनन्त ज्ञानादि गुण हैं, प्रत्येक गुण के अनन्त पर्याय हैं, उन पर्यायों में अनन्त स्वभाव हैं। कहा भी है—

“जीवा पुग्गल समया, दव्वपएसा य पज्जवा चेव ।

थोवाऽणंताऽणंता विसेसमहिया दुवेऽणंता ॥”

अर्थ—जीव, पुद्गल और समय-काल ये तीनों द्रव्य अनन्त हैं। इनमें जीव के प्रदेश असंख्य हैं। पर्याय अनन्त हैं और पुद्गल के द्रव्य प्रदेश परमाणु अनन्त हैं। काल अप्रदेशी है, पर समय अनन्त है।

हे प्रभो ! आपके गुणों की अनन्तता है, ‘निर्मलता’ आपके सर्व गुण पर्याय कर्मावरण-रहित होने से निर्मल हैं, उस निर्मलता का तथा ‘पूर्णता’ सर्व शक्तियों का पूर्णता से प्रकट होने रूप पूर्णता है। ये सभी केवलज्ञान के बिना जानी नहीं जा सकती, अतः मैं तुच्छ बुद्धि उनका वर्णन कैसे कर सकता हूँ ?

चरम जलधि जल मिणे अंजलि,

गति जोपे अतिवाय जी ।

सर्व आकाश ओलंघे चरणों,

पण प्रभुता न गणाय जी ॥शी०॥२॥

अर्थ—ऊपर की गाथा में प्रभुता को अकथ्य कहा, अब उसे ही दृष्टान्तों द्वारा पुष्ट करते हैं। यथा—चरम जलधि अर्थात् स्वयम्भूरमण समुद्र, जिसकी बाह्य परिधि साधक तीन रज्जु है, ऐसा विशाल है। उसके जल को कोई अंजलियों से माप लेने की बात कहे, अथवा प्रलय काल के महावात की गति चाल को भी जीत लेने का अभिमान पूर्ण वचन कहे, या अनन्त आकाश को एक छलांग में उल्लंघन करने का दावा करे। यद्यपि ये सभी दृष्टान्त मात्र हैं, ऐसा कभी हो नहीं सकता। फिर भी देव संयोग से हो जाय, तथापि श्री शीतलनाथ भगवान की प्रभुता, क्षायोपशमिक शक्ति वाले द्वारा न जानी जा सकती है,

न गणाय, अर्थात् गणना नहीं की जा सकती। श्री वीतराग सर्वज्ञ की सम्पूर्ण प्रभुता सम्पूर्ण केवलज्ञानी ही जानते हैं, परन्तु वे भी वचन योग से कह नहीं सकते, अतः आपकी प्रभुता अनन्त है।

सर्व द्रव्य प्रदेश अनन्ता,
तेह थी गुण पर्याय जी।
तास वर्ग थी अनन्त गुणों प्रभु,
केवलज्ञान कहाय जी ॥श्री०॥३॥

अर्थ—अब भगवान् की अनन्तता का वर्णन करते हैं। जगत् में षड् द्रव्य हैं। उनमें से दो द्रव्य—धर्मास्ति और अधर्मास्ति असंख्यात प्रदेशी हैं, अर्थात् एक-एक द्रव्य हैं। आकाश अनन्त प्रदेशी है और काल अप्रदेशी है। जीव द्रव्य अनन्त हैं और पुद्गल द्रव्य भी अनन्त हैं। इनसे भी आकाश की अनन्तता सब से महान् है। द्रव्यों से उनके गुणों की अनन्तता अत्यन्त अधिक है। उनसे भी पर्याय अनन्त गुण हैं। यह अधिकार अल्पबहुत्व पद (प्रज्ञापना सूत्र) में है, वहाँ द्रष्टव्य है। यद्यपि जो पर्याय हैं, वे मूल रूप से द्रव्य एवं गुणों से भिन्न नहीं हैं। वस्तु में पर्याय की परिपाटी/श्रेणी है। उन पर्यायों का समूह मिलकर एक कार्य करता है, उस प्रवृत्ति को गुण कहते हैं, किन्तु, संज्ञा, संख्या, लक्षण और कार्य भेद से पर्यायों से गुण भिन्न हैं। अतः गुण की भिन्न व्याख्या उत्तराध्ययनादि सूत्रों में है। यथोक्तम्—

“द्ववाण य गुणाण य पज्जवाण य नारोणं ।”

गुणाणाम्मासओ द्ववं एग द्ववस्सिया गुणा ।

लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ निस्सिया भवे ॥”

अर्थ—द्रव्य गुणों का आश्रय है। एक द्रव्य के आश्रित गुण हैं। लक्षण और पर्याय उभयाश्रित हैं।

ऐसी भिन्न व्याख्या है। श्री प्रज्ञापनासूत्र में कथन है कि—

“से रां भंते ! जीवाणं पुगलाणं सब्ब दब्बाणं सब्ब पज्जवाणं यं कयरे कयरेहत्तो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा ? गोयमा ! सब्ब थोवा जीवा पुगला अणंतगुणा अद्धां समयं अणंतगुणां सब्ब दब्बा विसे-साहिया सब्ब पएसा अणंतगुणां सब्ब पज्जवा अणंतगुणा ॥”

अर्थ—भगवन् ! ये जीवों के, पुद्गलों के, सर्वद्रव्यों के, सर्व प्रदेशों के, सर्व पर्यायों के स्वरूप किन-किन से अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ? उत्तर—गौतम ! सर्व से थोड़े जीव द्रव्य हैं, उनसे पुद्गल द्रव्य अनन्त गुण हैं, उनसे काल के समय अनन्त गुण हैं । सर्व द्रव्य विशेषाधिक हैं । सर्व प्रदेश अनन्त गुण हैं । सर्व पर्याय अनन्त गुण हैं ।

इन सब को जानने वाला केवलज्ञान इन सब से अनन्त गुण है । इस प्रकार प्रभु के केवलज्ञान की अनन्तता है । वह यों समझिये कि षड् द्रव्य के सभी गुण पर्याय अस्तित्व रूप से विद्यमान हैं, उन सब को केवलज्ञान जानता है । उन षड् द्रव्यों में परस्पर की अपेक्षा से नास्तित्व धर्म भी अनन्त है, उन्हें भी केवलज्ञान जानता है तथा इन सब से अनन्त गुण दूसरे अनेक भाव हैं, उन्हें भी केवलज्ञान जानता है । जिस प्रकार केवलज्ञान की अनन्त शक्ति है, उसी प्रकार केवल दर्शन की भी उतनी ही अनन्त शक्ति है । अतः द्रव्यों के प्रदेश पर्यायों के वर्ग करें और उन्हें भी अनन्त गुणों से गुणाकार करें, इतना आपका केवल-ज्ञान है, अर्थात् ऐसी आपके ज्ञान की अनन्तता है । श्री भगवतो सूत्र में कहा है— “अमियं नाणं केवलस्स” केवलज्ञानियों का ज्ञान अमित है, अनन्त है ।

केवल दर्शन एम अनन्तू

अहे सामान्य स्वभाव जी ।

स्व पर अनन्त थी चरण अनन्तू,

समरण संवर भाव जी ॥शी०॥४॥

अर्थ—ये सर्व भाव हैं, वे सर्व सामान्य युक्त हैं और वे सर्व केवल-ज्ञान गम्य हैं, अथवा सामान्याश्रयी हैं। क्योंकि, जो विशेष है वह सामान्य-रहित नहीं होता और सामान्य विशेष-रहित नहीं होता। सर्व पदार्थ सामान्य विशेष रूप हैं।

“न सामन्नतओ नत्थि विसेसो ख पुप्फं वा ।”

अर्थात् सामान्य नहीं तो विशेष भी नहीं, दोनों साथ रहते हैं। एक के अभाव में दूसरे का भी आकाश पुष्पवत् अभाव ही होता है। सम्मति-तर्क में भी कहा है—

“दव्वं पज्जव विउवं दव्व विउत्ता पज्जवा नत्थि ।

उप्पाय-टिठइ भंगा हवइ दविअं लक्खणं एवम् ॥”

अर्थ—द्रव्य पर्याय से वियुक्त नहीं है और पर्याय द्रव्य से वियुक्त नहीं है। उसके उत्पाद और स्थिति होते हैं। यही द्रव्य का लक्षण है अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही सद् द्रव्य का लक्षण है।

अतः सब द्रव्यों के सामान्य धर्म अनन्त हैं। उन्हें केवल-दर्शन गुण से भगवान् देखते हैं और इनसे भी अनन्त गुण सामान्य धर्म को देखने की उनमें शक्ति है, अतः इतने पर्यायों वाला केवल-दर्शन गुण आप में है। विशेषावश्यक में कहा है—

“यावन्तो हि ज्ञेयस्य पर्यायास्तावन्तस्तदवभासकत्वेन ज्ञानस्या-
प्येष्टव्याः ।”

अर्थ—जितने ज्ञेय के पर्याय हैं उतने अवभासकत्व रूप से ज्ञान के भी जानने चाहिये, इष्ट होने चाहिये। श्री भगवती सूत्र में भी कहा है—“अरांता दंसणपज्जवा”—अर्थात् केवल दर्शन के भी अनन्त पर्याय हैं। अतः केवल दर्शन भी अनन्त है। यह दर्शन सर्व पदार्थों के अस्तित्व सत्त्व, दस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य द्रव्यास्तिक नय को देखता है। ऐसा ही आपका चारित्र गुण है, वह भी अनन्त पर्याय वाला है। अपने आत्मा के सर्व पर्याय हैं, वे सब स्वधर्म हैं। स्वयं से भिन्न अनन्त जीव द्रव्य तथा सर्व अजीव द्रव्य हैं। उनके धर्म परधर्म हैं अर्थात् सर्व स्वधर्म में रमण, परधर्म में अरमण, ये सर्व पर्याय चारित्र

के हैं अर्थात् स्वरूप-रमण, परभाव-अरमण, ये सब पर्याय चारित्र के हैं। स्वरूप-रमण व परभाव-निवृत्ति यह सम्यक् चारित्र की परिणति है। अनादि कालीन पर-रमणीयता भूल से हो रही है। उसे दूर करके स्वशक्ति-चेतना वीर्यादि की परिणति को परभाव से रोक कर स्वरूप में स्थिर रखना। यह संवर भाव ही सम्यक् चारित्र की अनन्तता है। इस संवर श्रेणी का “व्यवहार भाष्य” में इस प्रकार वर्णन है—

सर्व जीवों से अनन्त गुण चारित्र के अनावृत विभाग की एक वर्गणा करें। ऐसी असंख्य वर्गणाओं का एक स्पष्टक होता है। ऐसे असंख्य स्पष्टकों का एक संयम-स्थान होता है। वह भी सर्व जघन्य संयम स्थान है। उसे असंख्य षड् गुण रीति से असंख्य षड् गुण करने पर असंख्यातवां संयम-स्थान होता है। यह चारित्र की अविभागीय अनन्तता बतायी। हे प्रभो ! ऐसा चारित्र गुण आपका सर्वथा निरावरण है, अतः अनन्त है।

द्रव्य क्षेत्र ने काल भाव गुण,
राजनीति ए चार जो ।
त्रास विना जड़ चेतन प्रभुनी,
कोई न लोपे कार जी ॥शी०॥५॥

अर्थ—इसी प्रकार वीर्यादि गुणों की भी स्वधर्म से अनन्तता जाननी चाहिये। ऐसी अनन्त स्वगुण सम्पदा के आप स्वामी हैं। हे नाथ हे परमेश्वर ! आप जगद्वर्ती जीव एवं अजीवों के गुण स्वभाव पर्याय, जो वे सर्व 1. द्रव्य 2. क्षेत्र 3 काल और 4 भाव, इन चार रीति से परिणमन रूप उन्हें जानते हैं। आपके ज्ञानादिक गुण भी द्रव्यादिक चार परिणमन रूप परिणत होते हैं और सर्व रूप एवं परधर्म का परिज्ञान करते हैं। वे भी चार प्रकार से परिच्छेदन (विभाग से जानकारी) करते हैं। वे चार प्रकार निम्नांकित हैं—

1. समुदाय—द्रव्य का धर्म है।
2. आधारता—क्षेत्र धर्म है।

3. वर्तना—उत्पाद व्यय रूप काल का धर्म है। यद्यपि निश्चय से विचार करने पर तो काल धर्म द्रव्य से भिन्न नहीं है, क्योंकि पञ्चास्तिकाय की वर्तना ही काल धर्म है। इस विषय की श्री तत्त्वार्थ सूत्र, धर्मसंग्रहणी और विशेषावश्यक भाष्य में विस्तृत चर्चा है। अनपेक्षित द्रव्यास्तिक नय से काल को द्रव्य कहा है; किन्तु स्वाभाविक द्रव्यत्व इस में नहीं है। अतः द्रव्य की वर्तना ही काल है।

4. द्रव्य का मूल धर्म भाव है। इस रीति से सर्व परिणामन है। यही श्री वीतराग सर्वज्ञ देव की 4 प्रकार की राजनीति है। प्रभु की इस आज्ञा को सर्व द्रव्य शिरोधार्य करते हैं। इसे ही स्तवना के पद में आरोप करने के लिये राजनीति शब्द से अभिहित किया है। प्रभु की इस आज्ञा को सर्व द्रव्य स्वीकार करते हैं। अन्य सम्राट् अथवा राजा की आज्ञा को कोई मान्य करते हैं, कोई नहीं मान्य करते, विद्रोह भी करते हैं। परन्तु, श्री सर्वज्ञ की आज्ञा स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप राजनीति का न कोई द्रव्य विरोध करता है और न कोई द्रव्य इसका उल्लंघन करता है। जिस रीति से आप अपने ज्ञान में जानते हैं, आपका ज्ञान परिणत होता है उसी रीति से सर्व द्रव्य परिणत होते हैं। जिस प्रकार से आप प्ररूपित करते हैं, उसी प्रकार से सर्व द्रव्यों की परिणति होती है। न तो आप किसी को आज्ञा देते हैं और न कोई आज्ञा का भंग करता है, जिससे कि आप किसी को त्रास-दण्ड दें, भयभीत करें। वे आपके ज्ञान की परिणति का कभी लोप नहीं करते, आज्ञा का भंग नहीं करते। ऐसी सहज आज्ञा सम्यग्दृष्टि, देश-विरति, सर्वविरति द्वारा दृष्ट व इष्ट है। अतः यह निष्प्रयास अखण्ड आज्ञा है।

शुद्धाशय थिर प्रभु उपयोगे,

जे समरे तुझ नाम जी।

अव्याबाध अनन्तू पामे,

परम अमृत सुख धाम जी ॥शी०॥६॥

अर्थ—अब प्रभु-सेवा का फल कहते हैं। साधक आत्मा के शुद्ध एवं निर्दूषण आशय से जो क्षुद्रादि 8 दोष कहे गये हैं :-

“क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः॥
अज्ञो भवाभिनन्दी च, निष्फलारम्भ साधकः ॥”

—हरिभद्रसूरि

क्षुद्र-तुच्छ बुद्धि वाला, लोभरति-जिसे कुछ प्राप्त करना ही रुचिकर हो, दीन-दरिद्रतादि से अथवा स्वभाव से ही अपने आप को दीन-हीन समझने वाला, मत्सरी-मत्सर-द्वेष भाव से युक्त, भयवान्-डरपोक, शठ-दुष्ट प्रकृति, अज्ञ-मूर्ख और भवाभिनन्दी-भौतिक समृद्धि विषयक भोगोपभोगों में आनन्द सुख मानने वाला । इन दोषों से युक्त होने पर साधक के साधना के प्रयास सारे निष्फल हो जाते हैं ।

अतः उपर्युक्त दोषों से रहित साधक को ही कार्यसिद्धि की उपलब्धि होती है तथा उसे दग्धादि दोष से मुक्त होना चाहिये ।

1. विष अनुष्ठान—पारलौकिक फल की आशा से किया जाने वाला धार्मिक अनुष्ठान ।

2. गरल अनुष्ठान—पारलौकिक ऐन्द्रिय सुख अथवा देवादि सुख सम्पत्ति की इच्छा से देव गुरु धर्म की आराधना करना ।

3. अन्योन्य अनुष्ठान—साध्यशून्य, सापेक्षता रहित अनुष्ठान करना ।

इन तीनों दोषों से मुक्त होकर जिनाज्ञानुसार विधियुक्त प्रीति, भक्ति, वचन-पालन और असंग रीति से किये जाने वाले अनुष्ठान :—

4. तद् हेतु अनुष्ठान—तद्-मोक्ष, हेतु-कारण है जिसका अर्थात् आत्मा को कर्ममुक्त करना ही जिसका एकमात्र हेतु है ।

5. अमृत अनुष्ठान—त्रिकरण और त्रियोग की एकता से हर्ष सहित तन्मय रूप से और विधियुक्त किया जाने वाला अनुष्ठान अमृत अनुष्ठान है ।

इस प्रकार शुद्धाशय से स्थिर होकर चपलता एवं शंकादि दोषों से रहित प्रभु के स्वजात स्वाभाविक ज्ञानादि गुणों में उपयोग रखते हुये जो भव्य भक्तजन आत्मार्थी होकर परमसत्तामय शीतलनाथ भगवान् का ध्यान करने के लिये उनके नाम का स्मरण करता है, वह जीव अनुक्रम से वीतराग गुणवान् श्री अर्हन्तदेव के आलम्बन से आत्म उपादान की

कार्यसिद्धि को जो निष्कर्म अवस्था स्वरूप है, उसे प्राप्त करता है। तब वह अनन्त अव्याबाध सुख अर्थात् परसंग-रहित आध्यात्मिक सुख को समुपलब्ध करता है। उस सुख का स्वरूप उत्कृष्ट अमृतमय, अविनाशी, सहज ज्ञानानन्दमय, अनन्त सुखधाम और शाश्वत है। शक्रस्तव के निम्नांकित पाठ में उस सुख का वर्णन इस प्रकार है—शिव-उपद्रव रहित, अयल-अचल स्थिर, अरुय-अरुक् रोग रहित, अणन्त-अनन्त, अक्खय-कभी क्षय नहीं होने वाला, अव्याबाह-अव्याबाध, अपुणरावित्ति-जिसमें पुनरावृत्ति का अभाव है अर्थात् कम हो जाय या नष्ट हो जाय तो पुनरावृत्ति-पुनः प्राप्ति की आशा से लौटा लाने का प्रयास नहीं करना पड़ता। ऐसे सिद्धिगइ-सिद्धिगति, नामधेयं-नामक, ठाणं-स्थान को संपत्ताणं-प्राप्त हो गये हैं। और, सम्मति ग्रन्थ में भी इस प्रकार वर्णन प्राप्त है :—

“अइसुइ य सयल जगसिहर-मह्य-निरुवम-सहाव-सिद्धिसुहं ।
अनिहण-मव्वाबाहं निरियण सारं अणुहवन्ति ॥”

अर्थ—अत्यन्त शुचि, सकल जगत् का शिखर, अरूपी, निरुपम, स्वाभाविक सिद्धिसुख का जो अनिधन-अमृतमय है, अव्याबाध-विधन-रहित है, त्रिजगज्जन में सारभूत है, उसका वे जीव जो कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं अनुभव करते हैं। ऐसे सुखों को प्रभु का स्मरण करने वाले जीव पाते हैं ।

आणा ईश्वरता निर्भयता,
निर्वाञ्छकता रूप जी ।
भाव स्वाधीन ते अव्यय रीते,
एम अनन्त गुण भूप जी ॥श्री०॥६॥

अर्थ—अब पुनः प्रभु की अनुपम प्रभुता का वर्णन करते हैं। प्रभुता के क्या-क्या चिन्ह होते हैं? उन्हें बताते हैं। प्रथम चिन्ह है—आणा-आज्ञा, राजा, महाराजा, सम्राट्, शासक आदि की आज्ञा का पालन अनिवार्य है। वे दण्ड-भय, आतंक, प्रताप आदि के द्वारा सेवकों से ही नहीं अपितु प्रजाजनों से भी आज्ञा का पालन करवाते हैं। किन्तु,

हे प्रभो ! आपकी आज्ञा तो सहज रूप से सभी द्रव्य पालन करते हैं । अतः आज्ञा-भंग का प्रसंग ही नहीं आता है । आपकी ईश्वरता-ऐश्वर्य भी अलौकिक होने से अविनश्वर हैं । लौकिक ऐश्वर्य के स्वामी तो सीमित ऐश्वर्य के पौद्गलिक/भौतिक विनश्वर के स्वामी हैं जबकि श्री तीर्थंकर भगवान् तो जगत्त्रय के स्वामी हैं । उनका ऐश्वर्य तो अनन्त और असीम है । समवसरण की अद्भुत रचना, अष्ट महाप्राति-हार्य, चतुस्त्रिंशत् अतिशय, पंचत्रिंशत् वाणी के अतिशय, कोटि-कोटि देवताओं द्वारा सेवा में उपस्थित रहना, बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा महा-राजाओं द्वारा आज्ञा शिरोधार्य करना आदि तो बाह्य ऐश्वर्य हैं । आन्तरिक-आत्मिक वैभव तो अपरम्पार है । अनन्त चतुष्टय के अतिरिक्त अनन्त गुण रूप सम्पत्ति का तो कोई वर्णन ही नहीं कर सकता । आपकी निर्भयता तो अवर्णनीय है । अन्य नृपादि या श्रेष्ठिजन आदि तो स्वयं के स्वजन एवं परिजनादि से भी भयभीत रहते हैं, पर-चक्र-शत्रुओं से भी उन्हें भयग्रस्त रहना पड़ता है और मरण-भय से इन्द्र, अहमिन्द्र एवं सभी चतुर्निकाय के देव भयभीत रहते हैं । हे श्री शीतल जिन ! आप तो निर्मलानन्द के पूर्ण रूप हैं, शुद्ध देवाधिदेव हैं, स्व की अखण्ड सम्पदा के स्वामी हैं और सर्वदा सर्व भयों से रहित हैं । आप की निर्वाञ्छकता भी अनुपमेय है । जबकि इस जगत् के देव, दानव, इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती सम्राट्, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, नृपति धनपति और तिर्यञ्चगति के जीव—सिंह, गज, अश्वादि एवं जलचर, खेचर, पशु-पक्षी, कीट, पतंग आदि तथा सुख के वाञ्छक नरक गति के जीव सभी वाञ्छा से ग्रस्त हैं । सारांश यह है कि सभी जीव मात्र तृष्णा के उदय से किसी न किसी प्रकार की वाञ्छा, अभिलाषा से युक्त हैं । परन्तु, आप वीतराग देव तो सर्व प्रकार के कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं, अतः वाञ्छा का जो मोहनीय कर्मोदय जनित विकार है, उसका तो प्रश्न ही नहीं है । आपका निर्वाञ्छकता गुण अवर्णनीय है । प्रभु श्री परमात्मा का भाव-धर्म शुद्ध चिदानन्द अनन्त ज्ञानादि सर्व स्वाधीन है, पराधीन नहीं । अव्यय रीति से युक्त है, अविनाशी है । इस प्रकार आप अनन्त गुणों के भूप हैं, राजा हैं ।

अव्याबाध सुख निर्मल ते तो,
 करण ज्ञाने न जणाय जी ।
 तेहज एहनो जाणंग भोक्ता,
 जे तुम सम गुण राय जी ॥शी०॥८॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपका अव्याबाध सुख जिसे आप भोगते हैं, वह अतीन्द्रिय सुख अनन्त है। वह सुख आपके स्वाधीन है, अनन्त है। अत्यन्त निर्मल—मलरहित निर्दूषण है। वह करण-इन्द्रियजन्य और मनोजन्य मति एवं श्रुत ज्ञान से नहीं जाना जा सकता। अवधि व मनःपर्यय ज्ञान यद्यपि इन्द्रियाधीन नहीं है तथापि वे मात्र रूपी भाव को जानते हैं। जीव-स्वरूप जो अरूपी है, उसे नहीं जान सकते। सारांश यह है कि क्षायोपशमिक ज्ञान से आपके अव्याबाध सुख का ज्ञान नहीं किया जा सकता; किन्तु जो जीव आपके समान गुणों का भूप/स्वामी बन गया, वही परमात्मा इस अव्याबाध सुख के स्वरूप को जान सकता है, उसका अनुभव कर सकता है। अन्य जीवों में न ऐसी शक्ति का प्रादुर्भाव है और न वह जान सकता है। अतः उसके भोगी तो मात्र सिद्ध भगवान् हैं। अन्य के द्वारा वह सुख न ज्ञेय है और न भोग्य है।

एम अनन्त दानादिक निज गुण,
 वचनानीत पण्डूर जी ।
 वासन भासन भावें दुर्लभ,
 प्राप्ति तो अति दूर जी ॥शी०॥९॥

अर्थ—इस प्रकार अनन्त दानादि—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सिद्धत्व प्रमुख जो आपके निज गुण हैं, वे वचनातीत हैं अर्थात् वचन से नहीं कहे जा सकते हैं। वे पण्डूर—अत्यन्त उज्ज्वल हैं अथवा पण्डूर-महान् हैं। ऐसे आत्मगुणों का भाव से वासन-श्रद्धा, भासन-ज्ञान भी अत्यन्त दुर्लभ है, तो प्राप्ति अर्थात् ऐसी सिद्धता की उपलब्धि तो अत्यन्त दूर है।

सकल प्रत्यक्ष पणे त्रिभुवन गुरु,
जाणुं तुभ गुणग्राम जी ।
बीजूं कांई न माँगूं स्वामी,
एही करो मुभ काम जी ॥शी०॥१०॥

अर्थ—हे त्रिभुवन गुरु ! आपकी अनन्त गुण-सम्पदा को मैं प्रत्यक्ष रूप से जानूँ, मात्र यही मेरी याचना है, यही इच्छा है। यही कामना/अभिलाषा है। आपकी यह अनन्त सम्पदा केवलियों के प्रत्यक्ष है, अतः मैं केवलज्ञान माँगता हूँ और कुछ नहीं माँगता। आप मेरा यही कार्य कर दें, बस, मैं और कुछ नहीं चाहता।

एम अनन्त प्रभुता सदर्हतां,
अर्चे जे प्रभु रूप जी ।
देवचन्द्र प्रभुता ते पामे,
परमानन्द स्वरूप जी ॥शी०॥११॥

अर्थ—इस प्रकार की प्रभु की अनन्त प्रभुता, परमात्मता, सर्व प्रदेश निरावरणता, अनन्त पर्याय निरावरणता, सकल ज्ञानादि गुण निरावरणता, इनको सदर्हतां—श्रद्धा करने पर सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है और सम्यग्दर्शन होने पर वह प्रभु के गुणों के प्रति बहुमान सहित प्रतीति करता है तथा प्रभु की अर्च—पूजा करता है। पूजा का अधिकार श्री रायपसेणी सूत्र में इस प्रकार कहा है :—

“अत्थे गइया वंदणवत्तिघाए पूअणवत्तिघाए सब्कारवत्तिघाए सम्माणवत्तिघाए सुअं सुणिस्सामो, वागरणं पुच्छिस्सामो, अत्थेगइया जिणभत्तिघे धम्मो त्ति, अत्थेगइया जीयमेयं त्ति ।”

अर्थ—कितने ही देवता इस भावना से कि प्रभु को वन्दना करेंगे, उनकी पूजा करेंगे, उनका सत्कार करेंगे, सम्मान करेंगे, श्रुत-शास्त्र वचन सुनेंगे, प्रश्न पूछेंगे। कितने ही देव जिनभक्ति हमारा धर्म/कर्तव्य है। कितने ही देव यह हमारा जीत-कल्प-आचार है। इस दृष्टि से प्रभु के दर्शन वन्दन-पूजनादि के भाव से गये।

श्री अरिहन्त को वन्दनादि करने का फल इसी सूत्र में निम्न शब्दों में वर्णित है, यथा—

‘हियाए सुहाए निस्सेसाए अणगामियत्ताए’ हित के लिए, सुख के लिए, निःश्रेयस्-मुक्ति के लिए और अनुगामी-साथ चलने वाला या अनुगमन करने वाला है। जिन प्रतिमा के वन्दन-पूजनादि का फल भी इसी आलापक पाठ से कहा है तथा साधु के अधिकार में महाव्रत पालन का फल भी इसी आलापक पाठ द्वारा वर्णित है। इस प्रकार सूत्रों में अनेक स्थानों पर यह अधिकार आया है। अतः प्रभु श्री देवाधिदेव एवं उनके प्रतिरूप प्रतिमा को पूजने का महान लाभ है। कई अज्ञानी अर्थात् शास्त्रज्ञान-रहित जीव पूजा में द्रव्यहिंसा देखकर भयभीत हो जाते हैं कि ‘पूजा में हिंसा होती है, अशुभ कर्मों का बन्ध होता है।’ उन्हें शास्त्रों का गहन अध्ययन करना चाहिये और जानना चाहिये कि पर-जीवों की दया का फल सातावेदनीय का बन्ध कराने वाला है। स्वदया का भी यही फल है। पूजा सामग्री में हिंसा का भाव नहीं है। अपने आपको प्रभु के ज्ञानादि गुणों से तुलना करने का अवसर मिलता है। स्वरूप को जानने का अपूर्व लाभ प्राप्त होता है। प्रभु-गुणों में तल्लीनता होने से भवों-भवों में किये गये कर्मों का क्षय या क्षयोपशम होता है। अनेक जीवों ने पूजा करते-करते केवलज्ञान प्राप्त किया है। सूर्याभि देव की प्रभु भक्ति का वर्णन भी रायपसेणीय सूत्र में पठनीय है। भावदया स्व की भावदया होती है, जो मोक्ष की हेतु है। द्रव्य हिंसा भाव हिंसा का कारण बनती है। वह तभी बनती है जब भाव कषाय पूर्ण हो। विशेषावश्यक भाष्य में लिखा है कि:—

“एवमहिंसाऽभावो जीवघणंति न य तं जओऽभिहिअं ।

सत्थोवहयमजोवं न य जीव घणंति तो हिंसा ॥1762॥

अर्थ—इस प्रकार यदि लोक जीवमय है तो अहिंसा का ही अभाव हो जायगा। संयत मुनि के अहिंसाव्रत का पालन भी असंभव होगा, क्योंकि शास्त्रोपहत पृथ्व्यादि अजीव हो जाते हैं, अतः हिंसा नहीं होती।

नन्वेवं सति लोकस्यातीवपृथिव्यादिजीवघनत्वात् हिंसा संयतै-
रपि अहिंसाव्रतमिति निर्वाहयितुमशक्यमिति ।

अतः पांच स्थावर के बादर जीवों की बहुलता से साधु को भी आहार-विहार एवं विनय-वन्दन-वैयावृत्यादि करते हुये अहिंसाव्रत कैसे रहेगा ?

उत्तर— “जीवाकुले लोके अवश्यमेव जीवघातः सम्भाव्यते, जीवांश्च धनं कथं हिंसको न स्यात् इति ?”

नय घायउ ति हिंसो नाऽघाएंतो त्ति निच्छियमहिंसो ।
न विरलजीवमहिंसो, नय जीवघणं ति तो हिंसो ॥1763॥

अहणंतो वि हु हिंसो, दुट्ठत्तणओ मओ अहिमरोव्व ।

बाहितो न वि हिंसो सुद्धत्तणओ जहा वेज्जो ॥1764॥

न हि घातकः इत्येतावता हिंसः, न वा धनन्नपि निश्चय
मतेन हिंसः, नापि विरलजीवमित्येतावन्मात्रेण हिंसः पुनः ।

अर्थ—वह घात करने वाला है, इससे वह हिंसक नहीं होता । और, न हिंसा करता हुआ निश्चय मत से हिंसक है । जीव-विरल है, कोई-कोई स्थान पर है, न इतने से कोई अहिंसक हो जाता है । वह जीवों को मारता है, इससे भी हिंसक नहीं हो जाता । जैसे वैद्य, डाक्टर, शल्य चिकित्सा करते हैं, किन्तु उनका भाव रोगी को मारने का नहीं होता, फिर भी यदि रोगी मर जाये तो चिकित्सक हिंसा के भागी नहीं होते । कहा है :—

“असुभो जो परिणामो सा हिंसा सो उ बाहिरनिमित्तं ।

कोवि अवेक्खेज्ज न वा जम्हाऽणे गंतियं बज्झं ॥1766॥

असुभपरिणामहेऊ जीवाबाहो त्ति तो मयं हिंसा ।

जस्स उ न सो निमित्तं संतो वि न तस्स सा हिंसा ॥1767॥”

अर्थ—जो अशुभ परिणाम हैं वही हिंसा है । बाह्य हिंसा जो जीव के मरने से मानी जाती है वह सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों प्रकार से है । जैसे, तन्दुल मत्स्यादि, वह मारता नहीं है फिर भी हिंसक है । अतः बाह्य निमित्त अनेकान्तिक है ।

“जीववधो अशुभपरिणामहेतुस्तदा हिंसा, यदि अशुभपरिणाम-
हेतुर्न तदा हिंसा न भवति इति ।”

अर्थ—अशुभ परिणाम हेतु वाला जीव-वध ही हिंसा है । यदि उसमें अशुभ परिणाम हेतु नहीं है तो वह हिंसा नहीं होती ।

“सद्वादो रइफला न वीयमोहस्स भावसुद्धोओ ।

जह तह जीवाबाहो न सुद्धमणसो विहिंसाए ॥१७६८॥

अर्थ—वीतराग को इष्ट-शब्द-रूप-रस-गन्धादि रतिजनक नहीं होते । संसार में भी देखते हैं कि सभ्य आर्यजनों को अत्यन्त रूपवती माता भगिनी आदि के भोगने की इच्छा नहीं होती, वैसे ही शुद्ध परिणाम वाले साधु को जयणा पूर्वक कार्य करते हुये जीव हिंसा हो जाये तो वह बन्ध की हेतु नहीं होती । सारांश यह है कि शुद्ध मन वाले जीव को हिंसा का भाव न होने से कर्म-बन्ध नहीं होता है ।

आगम प्रमाण से द्रव्यहिंसा, भावहिंसा की कारण रूप विषय-कषाय के अर्थी को बनती है, परन्तु जिनेन्द्र भगवान् के गुणों का बहुमान करने वाले को जिन-पूजा के समय पुष्पादि की हिंसा, हिंसा का कारण नहीं बनती है । श्री भगवती सूत्र में भी क्रिया के अधिकार में ऐसा ही कथन है कि “वनस्पतिकाय के आरम्भ के त्यागी को पृथ्वी खनन करते वनस्पति काय की हिंसा हो जाय तो प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता ।” जबकि जिन-पूजा में जिनेश्वर के स्वरूप का अवलम्बन करने से आत्म-गुण निर्मल बनते हैं । गुणियों के स्मरण से अनेक जीव गुणी बने हैं । मुनियों द्वारा अनुमोदन योग्य जिन-भक्ति का वर्णन श्री राजप्रश्नीय सूत्र में स्पष्ट रूप से है ही । वहाँ मूल पाठ में स्पष्ट उल्लेख है कि श्री सूर्याभ देव ने नाटक किया, उस समय भगवान् श्री महावीर प्रभु के समीप स्थित श्री गौतम गणधरादि साधु-साध्वी समूह ने भी देखा और उन्हें स्वाध्याय जितना ही लाभ हुआ । वे उसी स्थान पर बैठे रहे, कहीं उठकर जाने का प्रयत्न नहीं किया । अतः सिद्ध होता है कि श्री जिन-भक्ति कर्म-बन्ध का कारण नहीं, प्रत्युत मुक्ति का कारण और साधन रूप है । इस प्रकार जो प्राणी श्री जिनेन्द्र भगवान् और उनकी

प्रतिमा का अर्चन, पूजन, वन्दन, गुणगान, स्मरण आदि करता है वह सर्व देवों में चन्द्रमा के समान श्री अर्हन्त देव की प्रभुता-पूर्णानन्दमय सम्पदा प्राप्त करता है। ऐसे परमानन्द का कारण श्री शीतलनाथ प्रभु की सेवा है, उसे सर्व प्राणी करें। और, स्तुति, सेवा, पूजा आदि करने वाले भी श्री देवचन्द्र हैं, जिन्होंने अपना नाम भी युक्ति से निवेष्टित किया है। भगवान् श्री शीतलनाथ अनन्त गुणी हैं, उनके गुणों का कौन वर्णन कर सकता है। परन्तु, भद्र-परिणामों से जो-जो गुण समझ में आवें, उन-उन गुणों की स्तवना करनी चाहिये।



११. श्री श्रेयांस जिनेन्द्र स्तवन

(राग—प्राणी वाणी जिन तणी, तुमे धारो चित्त मभार रे)

श्री श्रेयांस प्रभु तणो,
अति अद्भुत सहजानन्द रे ।
गुण एक विध त्रिक परिणम्यो,
एम गुण अनन्त नो वृन्द रे ।
मुनिचन्द जिणन्द अमन्द दिणन्द परे,
नित्य दीपतो सुखकन्द रे ॥स्थायी० ॥१॥

अर्थ—श्री श्रेयासनाथ जिनेश्वर का अर्थात् विकसित हुये निरा-
वरण स्वरूप भोगी प्रभु का अति-अत्यन्त उत्कृष्ट अद्भुत-विस्मयकारी
सहजानन्द-स्वाभाविक अकृत्रिम आनन्द है । श्री श्रेयास प्रभु भी तो एक
जीव द्रव्य हैं, रत्नत्रयी के साधन से वे सिद्ध रूप बन गये, उनके रत्नत्रय
पूर्ण रूप से विकसित हो गये । वे सिद्ध रूप में शुद्ध असंख्य प्रदेश वाले
हैं । अनन्त गुणशाली हैं । अनन्त पर्याय वाले हैं । उन प्रभु का एक-एक
गुण तीन-तीन परिणति रूप है । सर्व द्रव्यों का अर्थ-क्रियाकारित्व गुण
परिणति से है । उसमें असाधारणत्व विवेक गुण की मुख्यता से है और
साधारण गुण की परिणति भी कर्त्ता-द्रव्य के आधीन है । कर्त्ता करे
तो प्रवृत्त हो, कर्त्ता न करे तो उसकी साधारण गुण की परिणति में
प्रवृत्ति हो । पाँच द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल तो
अकर्त्ता ही हैं, उनके गुणों की प्रवृत्ति तो सदा स्वतः ही होती है । जीव
द्रव्य की गुण परिणति सिद्धावस्था में सदैव प्रवृत्त होती है, किन्तु कारक
चक्र रूप से प्रवृत्ति होती है । अतः आत्म-द्रव्य के जो ज्ञानादि गुण हैं, वे
त्रिविध परिणत होते हैं । त्रिविधता करण, कार्य और क्रिया रूप से है ।
इन तीनों का कर्त्ता आत्मा है । इनमें उपादान रूप से प्रवृत्त कारण/करण

है। करण द्वारा साध्य वह कार्य है। और, क्रिया तो उस गुण की उसी गुण में है। इन तीनों परिणामों का कर्ता आत्मा है। यहाँ उपादान रूप से जो प्रकृष्ट कारण है, यही करण है और करण द्वारा फल/साध्य कार्य है। करने रूप प्रवृत्ति क्रिया है। कर्ता का व्यापार सिद्धावस्था में अभेद रूप है। जैसे ज्ञान गुण करण है और ज्ञान गुण द्वारा जो ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान होता है वह साध्य/फल है अतः वह कार्य है तथा जिस कार्य/ज्ञान के लिये जो ज्ञान की स्फुरणा अर्थात् प्रवृत्ति है वह क्रिया है। ये तीनों अभेद हैं। श्री श्रेश्यांसनाथ भगवान् इस त्रिविध परिणामों में परिणत ऐसे अनन्त गुणों के वृन्द-समूह हैं। उनके सर्व गुण व्यक्त रूप से स्वकार्य करते हैं। विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

“जं कज्जकारणाइं पज्जाया वत्थुणो जओ ते य ।

अन्नेऽण्णे य मया तो कारणकज्जभयणेयं ॥ 2103 ॥”

अर्थ—जो कार्य एवं कारणादि हैं वे वस्तु के पर्याय रूप से हो तो कार्य होता है। वे अन्य-अन्य रूपमय हों तो उन कारणों से कार्य की भजना है अर्थात् कार्य हो ही, ऐसा नियम से नहीं कह सकते। हो भी और न भी हो।

इस प्रकार कारण एवं कार्य की अभेदता भी है तथा भेदता भी है। काल से अभेदता है, सत्त्व प्रमेयत्व से अभेदता है और संज्ञा एवं संख्या लक्षण से भेदता है, ऐसी व्याख्या है।

ऐसे भगवान् श्री श्रेश्यासनाथ प्रभु मुनिचन्द्र अर्थात् त्रिकाल अविषयी और तत्त्वरमण करने वाले उन मुनियों में चन्द्रमा के समान अथवा सामान्य केवली मुनियों में चन्द्रमा के समान जिनेन्द्र श्री तीर्थंकर भगवान् होते हैं। वे अमन्द-देदीप्यमान, दिण्द-सूर्य के समान दीप्त तेजस्वी हैं तथा सुखकन्द-सुख के कन्द हैं। ऐसे श्री श्रेश्यासनाथ प्रभु के सर्व गुण व्यक्त रूप से स्वकार्य करते हैं।

आत्मा के अनन्त गुण हैं, उनमें मुख्य गुण उपयोग है। आग-मोक्षित है—

सव्वाओ लद्धिओ सागारोवउत्तस्स उववज्जइ तो [अणगारो-
वउत्तस्स ।

अर्थ—सर्व लब्धियाँ साकार उपयोग-ज्ञान वाले को उत्पन्न होती हैं। ऐसे उपयोग - ज्ञान वाले अणगार अर्थात् मुनि होते हैं।

उपयोग में प्रथम ज्ञान गुण है, अतः अब उसकी त्रिविधता बताते हैं :—

निज ज्ञानें करी ज्ञेय नो,
ज्ञायक ज्ञाता पद ईश रे ।
देखे निज दर्शन करी,
निज दृश्य सामान्य जगीश रे ॥मु०॥२॥

अर्थ—लोकालोक में जो वर्तमान है, अतीत काल में था और भविष्य में होगा, वह सर्व स्वयं के भाव प्रमेयत्व रूप ज्ञेय है अर्थात् जानने योग्य है। उनको जानना आत्मा के असंख्य प्रदेश निष्ठित ज्ञान गुण का कार्य है। वह ज्ञान आत्मा का स्वगुण धर्म है। सर्व विशेष का ज्ञाता है। अतः भगवान निज-स्वज्ञान से जानते हैं अर्थात् ज्ञान जानने रूप कार्य का कारण हुआ, उपादान कारण और कार्यता एक समय में ही है और जानने रूप कार्य की प्रवृत्ति है, वह वीर्य के सहकार से क्रिया रूप बनती है। जो गुण की प्रवृत्ति के बिना जानना रूप कार्य मानें तो दर्शनोपयोग के समय ज्ञान गुण की निरावरणता विद्यमान है, किन्तु क्रिया बिना उपयोग के नहीं होती, अतः कारणभूत ज्ञान से आप सर्व ज्ञेय को जानते हैं। अपने ज्ञान गुण से सर्व ज्ञेय के ज्ञायक-जानने वाले हैं। अतः हे प्रभो ! आप ज्ञायकत्व के लिये ज्ञातापदधारियों के ईश हैं, ज्ञानमय हैं, सर्व ज्ञाता हैं।

अब दर्शन गुण की विविधता के तीन प्रकारों का वर्णन करते हैं। हे प्रभो ! आप अपने दर्शन गुण से निज-अपने देखने योग्य दृश्य-सर्व अस्तिकाय की सामान्यता-अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्वादि, नित्यत्व अनित्यत्वादि सामान्य रूप से जो जगीश-सम्पदा जग का

ईशत्व अर्थात् आत्मा में रहे हुए ये अनन्त सत्त्व-द्रव्यत्वादि सामान्य सम्पदा है, उसे दर्शन गुण से देखते हैं। कहा है—“दर्शनेन दृश्यभावानां दर्शनं करोति आत्मा ।” देखने वाली आत्मा दर्शन गुण से देखने योग्य भावों को देखती है अर्थात् देखना कार्य है, दर्शन गुण कारण है, दर्शन गुण की प्रवृत्ति क्रिया है, देखने वाला आत्मा कर्त्ता है। इस प्रकार दर्शन गुण का त्रिविध परिणमन जानना चाहिये।

निज रम्यें रमण करो,
प्रभु चारित्र्यें रमता राम रे ।
भोग्य अनन्त ने भोगवो,
भोगे तेणें भोक्ता स्वाम रे ॥मु०॥३॥

अर्थ—अब चारित्र्य गुण की त्रिविध परिणति कहते हैं—हे प्रभो ! परमेश्वर ! परमानन्दमय ! आपका अनन्त आत्म-धर्म ही आपके लिये रम्य है, रमण करने योग्य है। उस शुद्ध आत्म-परिणति रूप निज रम्य विषय में आप रमण करते हैं। चारित्र्य—चारित्र्य गुण करण द्वारा स्वरम्य में रमण रूप कार्य और चरण गुण-परिणति रूप क्रिया के आप कर्त्ता हैं। अतः, हे प्रभो ! आप रमते राम-स्वयं के स्वरूप में रमण करते हैं। अतः स्वरूप-रमणशील स्वरूपानुभवी स्वरूप में विश्राम कर्त्ता हैं।

अब भोग गुण की त्रिविधता का वर्णन करते हैं—भोग्य अर्थात् भोगने योग्य प्रकट हुआ आत्म-स्वरूप, जो अनन्त ज्ञानादि गुणमय है, उसे आप भोग गुण द्वारा भोगते हैं। वह इस प्रकार है,—भोगान्त-राय कम के सर्वथा क्षय हो जाने से भोग गुण प्रकट हुआ। उसके द्वारा भोग के योग्य आत्मा की अनन्त सम्पदा का भोग करते हैं, उसमें भोक्ता हैं। दूसरे संसारी जीव क्षयोपशम वाले पुद्गलादि अशुद्ध परिणति के भोक्ता हैं। वे अशुद्ध भोक्ता हैं। आप भोक्ता हैं अर्थात् भोग गुण रूप करण से भोग्य कार्य के कर्त्ता हैं। भोग गुण की प्रवृत्ति रूप क्रिया के कर्त्ता हैं। कहा है—“अत्ता सहावभोई ते असहावाओ अत्तपरिणामा ।” आत्मा स्वभाव-भोगी है। आत्मा के परिणाम अस्वभाव-भोगी मिथ्यात्व वश बन जाते हैं।

देय दान नित दीजते,
 अतिदाता प्रभु स्वयमेव रे ।
 पात्र तुमें निज शक्ति ना,
 ग्राहक व्यापकमय देव रे ॥मुनि०॥४॥

अर्थ—अब प्रभु के दान गुण का वर्णन करते हैं—दानान्तराय के क्षय से प्रभु के दान गुण प्रकट होता है । अतः दान गुण और लाभ गुण की त्रिविध परिणति बताते हैं । सिद्धावस्था में स्वगुण प्रवर्तन को स्वकीय क्षायिक वीर्य की सहायता देना, दान गुण है । सहकारिता की प्राप्ति जिस गुण को हुई, वह लाभ हुआ । इस रीति से दान और लाभ की प्रवृत्ति चलती है । देय-देने योग्य गुण को सहकार देना दान है, वह दान नित्य देने के कारण, हे प्रभो ! आप अतिदाता-महान् अतिशय दाता हैं । स्व के अनन्त गुणों को सहकार रूप अनन्त दान दे रहे हैं । स्वयमेव स्वयं को ही देते हैं, अतः आपका दान गुण करण, दान की प्रवृत्ति क्रिया तथा सहकार स्वरूप दान कार्य हैं । इन सर्व का स्वामी आत्मा ही दाता-कर्त्ता है । आत्मा का यह शुद्ध दान है और आत्मा को है । परवस्तु का देना-लेना तो विभाव है, वह शुद्ध आत्मा के हो नहीं सकता । पुनः, हे भगवन् ! आप निज-स्वयं की अनन्त गुण पर्याय रूप शक्ति के पात्र-आधार हैं तथा आत्म-शक्ति के ग्राहक भी आप ही हैं और ऐसी अनन्त गुण रूप आत्म-शक्ति के व्यापक-तन्मय रूप अवस्था वाले भी आप ही हैं ।

परिणामी कारज तणो,
 कर्त्ता गुण करे नाथ रे ।
 अक्रिय अक्षय स्थितिमयी,
 निःकलंक अनन्ती आथ रे ॥मुनि०॥५॥

अर्थ—पुनः हे देवाधिदेव ! आपके अनेक अभिलाष्य-कथन योग्य, अनभिलाष्य-न कथन योग्य, अनन्त गुण प्रागभाव हो गये । उनकी तीन परिणति हैं—कर्त्ता-करण, कार्य और क्रिया । पारिणमिक रूप

से जो अव्यावाधादि अनन्त कार्य हैं, उनके आप कर्त्ता हैं, गुण रूप करण द्वारा करते हैं, अतः गुण करण है और करण का फल ही कार्य है। गुण की प्रवृत्ति क्रिया है। हे नाथ! स्वामिन! इन करण, कार्य और क्रिया के कर्त्ता तो आप ही हैं। आपका जो सर्व पारिणामिकत्व है, उसके कर्त्ता तो आप ही हैं। अन्य किसी द्रव्य में कर्त्तृत्व है ही नहीं। हे प्रभो! आप अक्रिय हैं, क्योंकि क्रिया तो चल योग-मनो वाक् काय वाले के है और आप तो अयोगी हैं, सिद्ध हैं, अतः अक्रिय हैं। आप अक्षय हैं अर्थात् कभी क्षय नहीं होने वाली स्थितिमय हैं। आयुष्य की स्थिति तो संयोगी भाव की है अर्थात् पुद्गल-शरीर का भाव संयोगजन्य है। जीव कर्म का संयोग ही शरीर व स्थिति का कारण है। श्री सिद्ध भगवान तो सर्वथा कर्म-मुक्त हैं, अतः उनकी स्थिति अक्षय है। सदा के लिये आप तो अविनाशी स्थिति वाले एवं सहज स्वाभाविक गुणों वाले हैं। हे प्रभो! आप निःकलंक-कर्म-कलंक-रहित हैं, अतः निरावरण और अनन्त आश्रय-अर्थ वाले, धन-सम्पत्ति वैभव वाले हैं।

पारिणामिक सत्ता तणो,

आविर्भाव विलास निवास रे ।

सहज अकृत्रिम अपराश्रयी,

निर्विकल्प ने निष्प्रयास रे ॥मुनि०॥६॥

अर्थ-अब कदाचित् कोई प्रश्न करे कि भगवान के कोई गुण तो अधूरा होगा? उत्तर में उनके गुणों की पूर्णता का कथन करके बताते हैं। पारिणामिक सत्ता का आपके आविर्भाव-उत्पत्ति, अप्रकट का प्रकट होना आविर्भाव कहलाता है, इसे प्राग्भाव भी कहते हैं, यह आपके हो गया है। आपके अनन्त गुण पर्याय निरावरण हो गये हैं। समस्त पुद्गल संग-रहित होने से पूर्व जो सत्ता सम्पूर्ण रूप से तिरोभावी-छुपी हुयी थी, वह प्रकट हो गयी है। उस प्राग्भाव सत्ता के विलास-सुख का अनुभव आपको सर्वदा रहता है। उसके आप निवास हैं अर्थात् उस सत्ता के सुख का अनुभव आपको निरन्तर हो रहा है। आप स्वगुण भोगी हैं, स्वभाव का अनुभव करते हैं। हे स्वामिन्! आप सहज स्वाभाविक मूल धर्म जो अकृत्रिम है, अपराश्रयी-परवस्तु का जिसके आश्रय-आधार

नहीं है, वह भी निर्विकल्प-विकल्परहित है अर्थात् मन के चिन्तन को विकल्प कहते हैं, उस विकल्प से मुक्त हैं। और, निष्प्रयास-श्रम रहित उद्यम रहित ऐसे आत्म-धर्म का आप अनुभव करते हैं अर्थात् उस अनन्त सुख का अनुभव करते हैं।

प्रभु प्रभुता सम्भारतां,
गातां करतां गुणग्राम रे ।
सेवक साधनता वरे,
निज संवर परिणति पाम रे ॥मुनि०॥७॥

अर्थ—ऐसे प्रभु की सेवा का क्या फल है ? उसे कहते हैं। प्रभु श्री श्रेयांसनाथ भगवान् निष्पन्न तत्त्व वाले अर्थात् शुद्ध अनन्त गुणवान् आत्मत्व वाले और निरामय, निरावरण एवं कर्मावरणमुक्त हैं। उनकी प्रभुता-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र्य, सर्व संवरमय आनन्द आदि रूप परमैश्वर्य सम्पन्न, असहाय-सहायता की अपेक्षा-रहित, सर्व शक्ति निरावरणता, अनन्त पर्यायिता, स्वकार्य कर्तृत्व, निष्कर्मता, निःसंगता, प्रभुत्व, विभुत्व, ग्राहकत्व, व्यापकत्व, आधारत्व, कारकत्व, कार्यत्व आदि की प्रभुता-सामर्थ्य, एक-एक प्रदेश में अनन्त गुण पर्याय प्राग्भाव परिणमन रूप स्वरूप सम्पदा को सम्भारतां-मन में स्मरण करते हुये सेवक अर्थात् तत्त्व रुचि-सम्पन्न एवं आत्म-सिद्धता का अर्थी, ऐसे प्रभुता सम्पन्न परमात्मा का बहुमान करने से (जो जीव अनादि से आत्म-पराङ्मुख था, उसके सारे कार्य परभावोन्मुखी थे) वह साधनता-आत्म-स्वरूप को निरावरण करने रूप साधन, अवस्था-सम्यक्त्व से लेकर उत्सर्ग अपवादमय देशविरति एवं सर्वविरति और अयोगी गुण-स्थान पर्यन्त चरम समय तक की अवस्था साधनावस्था है, आरम्भ में दोष त्याग की भावना, गुण-प्राग्भाव की रति, आत्म-गुणों की रुचि पूर्णतत्त्व की ईहा रूप साधन अवस्था को प्राप्त करता है। क्रमशः वह निज-स्व की संवर परिणति-मन व इन्द्रियों को परभाव में जाने से रोकने की दृढ़ भावना को प्राप्त करता है अर्थात् प्रभु गुण में अपना उपयोग-मन का जागृत विवेक लगाता हुआ, उसी में वर्त्ता हुआ, अपने चेतना गुण को गुणी में लगता हुआ उन्हीं का अनुयायी बन जाता है।

और, उस प्रकार के स्वरूप अर्थात् ईहा रूप दर्शन-सम्यग् दर्शन गुण में परिणत होकर स्वयं की संवर परिणति को प्राप्त कर लेता है। वह जीव तत्त्व की साधना से आत्म-तत्त्व को शुद्ध बनाने का कार्य करता है। ऐसी साधकता ही परमानन्द की कारण है।

प्रकट तत्त्वता ध्यावतां,

निज तत्त्व नो ध्याता थाय रे।

तत्त्व-रमण एकाग्रता,

पूरण तत्त्वे एह समाय रे ॥मु०॥८॥

अर्थ—उपयुक्त साधकता कैसे प्राप्त हो ? उसी का वर्णन करते हैं। आत्मा की स्व-सम्पदा-अनन्त ज्ञानादि तो कर्मावृत्त है, उसका भासन होना दुर्लभ है और प्राप्त तत्त्वता वाले परमेश्वर की सम्पदा/तत्त्वता तो प्रकट है। श्रुतोपयोग से भासन में, ज्ञान में आती है। अतः प्रकट तत्त्व वाले श्री अरिहन्त सिद्धों की निरावरण आत्म-सम्पदा को ध्यावतां—ध्यान करते हुये साधक जीव स्वयं की सत्तागत द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तत्त्वता का ध्याता बन जाता है। अतएव कहा है “निज तत्त्व नो ध्याता थाय रे”। द्रव्यतः आत्मा की तुल्यता है। इस प्रकार स्वतत्त्व अर्थात् आत्मा का ध्यान करते हुये तत्त्वरमण तथा तत्त्व की अनुभूति होती है। स्व गुण पर्याय रूप आत्म-तत्त्व में एकाग्रता और तन्मयता हो जाती है। तब वह सेवक/साधक श्रेयांस प्रभु के गुणों का अवलम्बन करने वाला ‘पूरण तत्त्वं’ उसी पूर्ण आत्म-तत्त्व में समाय-समा जाता है अर्थात् पूर्ण तत्त्व रूप बनकर पूर्णानन्द निरावरण स्वभाव की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। अपने पूर्ण प्राग्भाव तत्त्वता रूप सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष का उपाय है। सारांश यह है कि, अनादि-कालीन मिथ्यात्व कषाय असंयम अविरति और योगों-मन वचन काया, इन हेतुओं में परिणत हुआ कर्मों का बन्ध करता है। कर्मविपाक के द्वारा गृहीत ‘क्वाथ्यमान’ काथ (उकाली हुयी दवा का काढा) के जैसे बना हुआ विसंस्थुल-अत्यन्त शिथिल आत्म-शक्ति वाली आत्मा को अनेकान्तमय शुद्ध आत्म-स्वरूप का श्रवण भी अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे जीव को भी जिन-सेवा से जिन-स्वरूप की पहचान एवं

जानकारी हो जाती है, जिससे उसमें स्वरूप-रुचि उत्पन्न होती है। फिर स्वधर्म को प्रकट करने की रुचि वाला जीव उद्यम करता हुआ आत्म-धर्म को जागृत कर लेता है और अनुक्रम से निर्विकल्प समाधि प्राप्त कर शुद्ध आत्म-स्वरूप को समुपलब्ध कर लेता है। यही मोक्ष का मार्ग है।

प्रभु दीठे मुझ साँभरे,
परमात्म पूर्णानन्द रे ।
देवचन्द्र जिनराज ना,
नित्य वन्दो पद अरविन्दरे ॥मु०॥१॥

अर्थ—अतएव प्रभु दीठे—अर्थात् प्रभु के स्थापना निक्षेप रूप प्रतिमा के दर्शन होने पर 'मुझ साँभरे' मेरे स्मरण में आते हैं। क्या स्मरण में आते हैं? परमात्म-परमात्मा का ऐश्वर्य ज्ञानादि सम्पदावान शुद्ध सिद्ध भगवान का स्वरूप जो अचल, असंगी, अभोगी, अयोगी हैं और उनका 'पूर्णानन्द' पूर्ण-अनन्त गुण पर्याय सम्पन्न त्रिकाल अविनाशी ऐसा आनन्द अर्थात् पूर्ण सुखादि का और जो 'प्रभु स्वरूपाश्रित स्व-चेतना को करना' यही स्वात्म-साधन का परम उपाय है, स्मरण में आ जाते हैं। अतः देव-जो निर्गन्थादि हैं, उनमें चन्द्रमा के समान एवं जिनों में राजा जिनेश्वर वीतराग श्री श्रेयांसनाथ भगवान् के पद चरण रूप अरविन्द-कमलों की नित्य-सदा वन्दो-वन्दना-स्तुति करो। सदा नमस्कार करो। यहाँ स्तुतिकर्ता का नाम भी देवचन्द्र है। वे स्वयं को भी कहते हैं कि, हे देवचन्द्र! श्री अरिहन्त के चरण-कमलों का नित्य वन्दन करो, सेवन करो। यही संसार महासमुद्र के मोहावर्त में पड़े हुये मोहान्धकार/अज्ञानान्धकार में मार्गभ्रष्ट, मिथ्यात्व कर्दम में मग्न/फँसे हुये जीव का निस्तार करने, पार होने का पुष्ट मार्ग है। श्री वीतराग अर्हन्त देव की प्रतिमा के आलम्बन से अनन्त जीव भव से पार हो गये हैं और जो यथार्थ ज्ञान से पुद्गलाशंसा से रहित श्री अर्हन्त की पूजा-सेवा करेंगे, वे परमपद प्राप्त करेंगे। वे ही प्रभु शरण, त्राण और आधारभूत हैं।

१२. श्री वासुपूज्य जिनेन्द्र स्तवन

(राग—पन्थडो निहालूँ रे बीजा जिन तणो रे)

अब प्रभु-सेवन अर्थात् पूजा जो द्रव्य एवं भाव भेद से दो प्रकार की है, उसे समझाने के लिये १२ वें श्री वासुपूज्य जिन की स्तवना करते हुए विस्तृत वर्णन करते हैं। निक्षेप चार हैं :—१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. भाव ।

१. नाम निक्षेप :—“पज्जायाऽणभिधेयं ण्ठिअयणत्थे तयत्थनिरवेक्खं ।
जाइच्छियं च नामं जाव दब्बं च पाएण ॥२५॥”

२. स्थापना निक्षेप :—“जं पुण तयत्थ सुन्नं, तयभिप्पाएण तारिसागारं ।
कीरइ व निरागारं, इत्तरमियरं व सा ठवणा ॥
॥२६॥”

३. द्रव्य निक्षेप :—“दवए दुपए दोखयवो, विगारो गुणाण संदावो ।
दब्बं भव्वं भावस्स, भअभावं च जं जोगं ॥२८॥”
—विशेषावश्यक भाष्य

अर्थ :— १. पर्यायार्थक नाम जो वस्तु है उसको कहने वाला अर्थ निरपेक्ष, इच्छानुसार रखा गया नाम है और वह प्रायः उस द्रव्य तक ही सीमित रहता है ।

२. जो अर्थ से शून्य किन्तु उस अभिप्राय से वैसा आकार बनाया गया है अथवा आकार रहित वस्तु में उसकी स्थापना की गई है, वैसा मान लिया गया है, वह स्थापना है ।

३ 'द्रवति' उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं। जो भूत काल में था, भविष्य में होगा, उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं। जैसे—राजा का शव 'यह राजा था'। 'यह राजकुमार राजा बनेगा'। इस प्रकार दोनों को राजा मानना द्रव्य निक्षेप है।

अथवा "यच्च कारणं तद्-द्रव्यम्, भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके तद् द्रव्यम् ।"

अर्थ :—अथवा जो कारण है वह द्रव्य है। भूत और भावि-भाव का कारण जो लोक में है, वह द्रव्य है।

श्री हरिभद्र पूज्यवर ने भाव का लक्षण इस प्रकार कहा है :—

"भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि विधिः समाख्यातः सर्वज्ञैरिन्द्रादिवद् वन्दनादिक्रियानुभावात् ।"

विवक्षित क्रियानुभूति युक्त भाव है। सर्वज्ञ भगवन्तों ने इन्द्रादि के समान वन्दनादि क्रिया के अनुभव से इसकी विधि बताई है।

इस प्रकार चार निक्षेप हैं। कुछ विद्वान् नामादि चार निक्षेप को उपचार से मानते हैं। उन्हें समझना चाहिये कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं के नामादि करें तो वस्तुएँ भिन्न हैं। परन्तु, अपनी-अपनी वस्तु के नामादि चारों ही उस वस्तु में ही हैं। इस विषय में श्री जिन-भद्रगणि पूज्यवर ने कहा है :—

"इह भावोच्चय वत्थुं, तयत्थ सुन्नेहि किं व सेसेहि ।

नामादओ विभावा, जं ते वि हु वत्थु पज्जाया ॥५५॥"

—विशेषावश्यक भाष्य

इस जगत में भाव ही वास्तविक है। वास्तविक अर्थ से शून्य नामादि सर्व व्यर्थ हैं। नाम, स्थापना एवं द्रव्य तो भाव वस्तु के ही पर्याय हैं।

"यद्यस्मात् तेऽपि नामादयो वस्तुनः पर्याया धर्मास्तथाह्य-प्रविष्ट इन्द्र वस्तुन्युच्चरिते नामादयोऽपि भावविशेषाः ।"

इस कारण से कि वे नामादि भी वस्तु के पर्याय धर्म हैं। जैसे कि अप्रविष्ट इन्द्र वस्तु में उच्चारण किये गये नामादि भी भाव विशेष ही हैं। इस प्रकार पुनः भाव निक्षेप के अन्त में ऐसा कहा है—“भिन्न-वस्तुषु प्रत्येकं चतुर्णामपि, अमोषां सद्भावः प्राप्यत एव इति दशयन्नाह—”

अर्थ—भिन्न वस्तुओं में विशेष प्रकार से चिन्त्यमान नामादि के प्रधान-अप्रधान भाव दिखाये। पुनः सामान्य से चिन्त्यमान सर्व वस्तुओं में चारों का अर्थात् नाम-स्थापनादि प्रत्येक का सद्भाव प्राप्त होता ही है। इसे ही दिखाते हुये कहते हैं :—

“अह्वा वत्थुभिहाणं, नामं ठवणा य जो तयागारो।

कारणया से दव्वं, कज्जावण्णं तयं भावो ॥६०॥”

—विशेषावश्यक भाष्य

अर्थ :—अथवा वस्तु का नाम नाम निक्षेप, उसका आकार स्थापना निक्षेप, कारणता द्रव्य निक्षेप, उसकी विशेषता का वर्णन भाव निक्षेप है। इस गाथा में चार ही निक्षेप एक वस्तु में कहे गये हैं। इन नामादि चार निक्षेपों विषयक नयों के पारस्परिक विवाद को पूज्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने मिथ्यात्व कहा है :—

“एवं विवयंति नया मिच्छाभिनिवेसओ परप्परओ।

इयमिह सव्वनयमयं जिणमयमणवज्जनच्चंतं ॥७२॥

नामाइ भेय-सदूत्थ-बुद्धि परिणाम-भावओ निययं।

जं वत्थुमत्थि लोए चउ-पज्जायं तयं सव्वं ॥७३॥”

—विशेषावश्यक भाष्य

अर्थ :—इन नामादि चार निक्षेपों के भेदों का शब्दार्थ बुद्धि-परिणाम भाव से नियत है। जगत में जितनी और जो वस्तुएँ हैं, वे सभी पर्याय से उत्पन्न हैं। इस प्रकार ये नामादि चार निक्षेप वस्तु के स्व पर्याय हैं, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिये।

इस प्रकार इन निक्षेपों के विषय में श्री विशेषावश्यक भाष्य में विस्तार पूर्वक कहा गया है। जिज्ञासुओं को उसमें पढ़ना चाहिये। यह प्रशस्ति है जो स्तवन से पूर्व अवश्य पठनीय है।

अब बारहवें प्रभु श्री वासुपूज्य भगवान् का स्तवन प्रारंभ हो रहा है।

पूजना तो कीजे रे,
 बारमां जिन तणी रे,
 जसु प्रगट्यो पूज्य स्वभाव ।
 परकृत पूजा रे जे इच्छे नहीं रे,
 साधक कारज दाव ॥ पूजना०॥१॥

अर्थ—अब श्री वासुपूज्य जिनेश्वर की स्तवना करते हुये कहते हैं कि, हे भव्यजनों ! यदि आप अपनी आत्मा को सुखी बनाना चाहते हैं, तो बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य भगवान की पूजा करिये । जिनके सर्वगुण निरावरण हैं और परम चारित्रवान्, परम ज्ञानी, अयोगी, अभोगी, अलेशी, अभेदी, असहायी, अकषायी, अरूपी, शुद्ध स्वरूपी, सिद्ध, सकल परभाव अयोगी, पुद्गलोपचार रहित ऐसा पूज्य स्वभाव जिनका प्रकट हो गया है, उनकी पूजा करनी चाहिये । जो भक्ति के रागी नहीं हैं और अभक्ति के द्वेषी नहीं हैं, ऐसे सर्वज्ञ ही पूजने योग्य हैं । ‘आप्तमीमांसा’ में कहा है—

“देवागम-नभोयान-चामरादि विभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते अतस्त्वमसि नो महान् ॥

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षा कस्यचिद् यथा ।

अनु मे तत्त्वतो ज्ञानमिति सर्वज्ञशंसितम् ॥

अन्यत्र भी कहा है—अइसय पाडिहेरा सव्व उदयकम्मसंभूआ ।

तेणं न विम्हओ मे विम्हओ वीयरायत्ते ॥”

अर्थ—देवताओं का आगमन, आकाशगमन और छत्र-चामरादि विभूतियाँ तो मायावीजनों/जादूगरों आदि के भी दिखाई देती हैं । इन आश्चर्यों से आप महान् नहीं हैं ।

किसी के सूक्ष्म-छुपे, अन्तरित और दूर रहे हुये अर्थ किसी के प्रत्यक्ष हो सकते हैं । किन्तु, उसे तत्त्वज्ञान नहीं होता । जो सर्वज्ञ हैं वे ही तत्त्वज्ञानी रूप से सर्वज्ञ कहे जाते हैं ।

अतिशय अष्ट महाप्रातिहार्य आदि सर्व तीर्थंकर नाम-कर्म के उदय से होते हैं। मुझे इनका कोई विस्मय नहीं है। आप वीतराग हैं, इसी का विस्मय है। पुनः प्रभु के पूज्यत्व को विवेचन करते हुए कहते हैं—वे भगवान् तीर्थंकर देव परकृत-देव, मनुष्य, तिर्यञ्चादि कृत पूजा और गुणरागी अनेक भक्त-देवेन्द्र, सामान्य देव, चक्रवर्ती, नरेन्द्र और सामान्य जन अथवा शुकादि पक्षी या गजाश्वादि पशुओं के द्वारा की जाने वाली किसी भी प्रकार की भक्ति-पूजा, गुणग्राम, नृत्यादि की इच्छा वाञ्छा नहीं करते। वे इच्छा दोष से रहित हैं। इस कारण न तो परभाव का सग करते हैं और न परकृत पूजा की वाञ्छा रखते हैं। ऐसे गुण वाले ही वास्तविक पूज्य होते हैं। ऐसे पूज्य परकृत-पूजा की अभिलाषा नहीं करते। और, मोक्षार्थी साधक-मार्गानुसारी सम्यक्त्वी देशविरति, संवेगपक्षी मुनिराज आदि के इष्ट-कार्य-सम्पूर्ण सिद्धता की प्राप्ति के लिये दांव-अवसर स्वरूप है आपकी पूजा और आप स्वयं भी। अतः आप सिद्धता के निमित्त हैं और पूजने योग्य हैं। जो पूजा के इच्छुक न हों उनकी पूजा ही परमानन्द की प्राप्ति और पूर्णता की हेतु है।

द्रव्य थी पूजा रे कारण भावनूं रे,

भाव प्रशस्त ने शुद्ध ।

परम इष्ट वल्लभ त्रिभुवन धणी रे,

वासुपूज्य स्वयम्बुद्ध ॥ पूजना० ॥२॥

अर्थ—पूजा के दो भेद हैं—द्रव्यपूजा एवं भाव पूजा। द्रव्य-पूजा के अनेक प्रकार हैं, यथा—अष्ट प्रकारी, सतरह भेदी, स्नात्र पूजा, बृहत् शान्ति स्नात्र, एकविंशति प्रकारी इत्यादि। भाव पूजा का वर्णन आगे है।

स्तान-अभिषेक करना, बरास चन्दनादि से नव अंग पूजन विलेपन करना, पुष्प पूजा-पुष्पहार, पुष्पों का मुकुट, गजरे, स्त-बक-गुच्छक चढ़ाना आदि। इसे अंगपूजा भी कहते हैं। अग्रपूजा-प्रभु के आगे धूप अगारबत्ती आदि करना, दीपक करना, अक्षत/चावल चढ़ाना

नैवेद्य-मिष्टान्न भेंट करना, फल अर्पण करना, नमक उतारना, आरती करना आदि ।

अनादि काल से भ्रमण करता हुआ जीव अष्टकर्मों का बन्ध करता हुआ, उन्हें अज्ञान व सुख-दुःख रूप में भोगता हुआ, क्षयोपशमवश मनुष्य जन्म, उत्तम आर्य देश, आर्य जाति कुल वंश, पूर्ण पञ्चेन्द्रियत्व, दीर्घायु, सद्गुरु धर्म का संयोग पाकर देवादि के स्वरूप का ज्ञान करता है । हिंसादि अठारह पाप स्थानक हैं, वे सभी आत्मा के दुःख के हेतु हैं । हिंसादि पाँच व कषाय चतुष्क से यथा-साध्य बचने का प्रयत्न करता है । भौतिक-पौद्गलिक भोगोपभोगादि व अन्य संयोगों से राग हटाने की इच्छा रखता है । सहसा सर्वथा दूर हो नहीं पाता, अतः उपर्युक्त सांसारिक भोगादि से राग दूर करने के लिये देव गुरु धर्म के प्रशस्त राग का अवलम्बन लेता है । देव के प्रति जब प्रशस्त राग है, तब समर्पण भाव, दर्शन-पूजन आदि के निमित्त से समीपता का प्रसंग आता है । समीपता से एकत्व का अनुभव अर्थात् आत्म-तुलना और गुणों के प्रति सम्मान-बहुमान आदि से कर्मों का क्षयोपशम होकर निर्जरा होती है । मुमुक्षु जीव का इष्ट कर्म-निर्जरा से, कर्मों से सर्वथा मुक्त होना ही तो है । जिन-पूजा में निरत व्यक्ति की इन्द्रियाँ भोगों से मुक्त रहती हैं, अतः संवर हो जाता है और मन भी सांसारिक भोगों के चिन्तन से एवं अन्य सांसारिक—पारिवारिक, व्यावसायिक आदि अनेक प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त रह कर प्रभु गुणों के चिन्तन में लीन बनता है । क्योंकि, द्रव्य-पूजा ही तो, जो भाव-पूजा गुण-गुणी की एकता रूप है, उसका कारण है । द्रव्य निक्षेप उसी को कहते हैं जो भाव निक्षेप का कारण हो । अतः गृहस्थ के लिये द्रव्यपूजा कर्म-बन्ध का कारण न रह कर प्रत्युत कर्ममुक्ति का कारण बन जाती है । पूजा में दिखने वाली हिंसा द्रव्यहिंसा कही गयी है । हिंसा का लक्षण तत्त्वार्थ सूत्र में इस प्रकार है—“प्रमत्तशान्तात्प्राणव्यरोपणं हिंसा ।” पूजा में मन वचन काय योगों की प्रवृत्ति में पाँच प्रमाद में से किस प्रमाद में उस जीव (पूजा करने वाले) की प्रवृत्ति है ? पाँच प्रमाद निम्न हैं— १. मद २. विषय ३. कषाय ४. निन्दा और ५. विकथा । सुज्ञजन विचारें ।

भाव पूजा के भी दो भेद हैं— १. प्रशस्त भाव निक्षेप पूजा और २. शुद्ध भाव निक्षेप पूजा । भाव, आत्मा की परिणति है और प्रशस्त है, गुणीजनों पर राग रखना भी प्रशस्त है । जैसा कि कहा है—

अरिहंतेसु य रागो सुमुणीसु पवयणेसु य । ए सुपसत्थो रागो ।

अर्थात् अरिहंत, सुमुनि और प्रवचन-प्रभु वाणी का राग सुप्रशस्त है । चतुशरण पयन्ना में भी उल्लेख है—“सुकयाण राय समुप्पन्न पुन्न पुजयं कुरु करालो ।”

अब प्रशस्त राग का स्वरूप बताते हैं—विषय एवं परिग्रह आदि भौतिक वस्तुओं का राग अप्रशस्त है और वह कर्मबन्ध का कारण है । अनुकम्पा भाव सातादेवीय बन्ध का हेतु है । यह गुणरहित तथा सभी जीवों पर होती है । गुणी पर दया या अनुकम्पा होना निन्दनीय व गर्हित मानी जाती है, क्योंकि रत्नत्रयधारक गुणी तो आदर-सत्कार, सेवा और बहुमान योग्य है । दया के पात्र तो दीन-दुःखी और दरिद्र ही होते हैं ।

आवश्यक (वन्दितु सूत्र) में कहा है—

“सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे असंजएसु अणु कंपा ।

रागेण व दोसेण व, तं निदे तं च गरिहामि ॥”

अहंतादि पंच परभेष्टी, स्वधर्मी बन्धुजन तथा आगम शास्त्र अर्थात् भगवद्वाणी पर पक्षपात रहित गुणों के प्रति राग ही प्रशस्त राग जानना चाहिये । वह यद्यपि पुण्य बन्ध का हेतु है, तथापि विद्यमान आत्म-गुण-श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के स्थिर रहने में कारण और गुणों को विकसित करने के कारण/हेतु है, तथा पुण्यानुबन्धी पुण्य के बन्ध में हेतुभूत है । १४४४ ग्रन्थों के रचयिता श्री हरिभद्रसूरि ने स्वकृत श्री पञ्चवस्तु ग्रन्थ में कहा है—

“नाणाङ्गुणरुद्ध खलु तारिसी य गुणसंपदसंपत्तो ।

धन्तो गुणसंपत्तो पसत्थरागं तिहि कुराइ ॥”

गुणरुड्मूलं एयं तेरां गुणवृद्धिं हेउअं भणियं ।

जहा इलाईपुत्तो पसत्थरागेण गुणपत्तो ।”

अर्थ—ज्ञानादि गुणों की रुचि वाला निश्चय से तादृक् गुण-सम्पत्ति को संप्राप्त हो जाता है। अतः प्रशस्त राग करने वाला उन गुणों से सम्पन्न होने के कारण धन्य है।

यह प्रशस्त राग गुण-रुचि का मूल है। अतः गुणवृद्धि का हेतु कहा गया है। जैसे इलापुत्र किसी युवा और रूपवान् मुनि को ब्रह्मचर्य में दृढ़ देखकर स्वयं आत्माभिमुख हो गये और नृत्य मंच पर ही क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञानी बन गये।

गणधर भगवान् श्री इन्द्रभूति गौतम का चरम तीर्थंकर श्री महावीर प्रभु के प्रति प्रशस्त राग था। इस विषय में तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ जनों का यह कथन कि भगवान् के प्रति प्रशस्त राग केवलज्ञान का अवरोधक बन गया था, अतः राग तो त्याज्य ही है। उन्हें चिन्तन करना चाहिये कि गौतम स्वामी का प्रशस्त राग क्षायोपशमिक दर्शन ज्ञान चारित्र्य रूप रत्नत्रयी का अवरोधक नहीं, प्रत्युत दीपक था। प्रभु वीर के साथ कई भवों से उनका सम्बन्ध चला आ रहा था। भगवान् महावीर की विद्यमानता में उस प्रशस्त राग की मन्दता नहीं हुयी। क्षायिक ज्ञानादि के अभाव में प्रशस्त राग की विद्यमानता रहती है। कारण से कार्य की उत्पत्ति अवश्यभावी है। कारण के मिटने पर अर्थात् भगवान् का निर्वाण होने पर राग का कारण रहा नहीं, अतः तत्काल क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गये और सर्वज्ञ बन गये।

इसी प्रकार सर्व जीवों के लिये प्रशस्तराग क्षायोपशमिक रत्नत्रयी का विरोधी नहीं है। क्षायिकता की ईहा युक्त को क्षायिकता के समीप पहुँचा देती है, परन्तु क्षायिक रत्नत्रय नहीं होने देती। साधक अवस्था में तो रहता ही है। सिद्ध होने पर प्रशस्त राग की आवश्यकता भी नहीं रहती। साधक के लिये आवश्यक ही नहीं, अपितु प्रशस्त राग/गुणानुराग अनिवार्य है। संविज्ञ मुख्य श्री जिनेश्वर सूर के शिष्य श्री जिनचन्द्रसूर ने संबेगरंगशाला में कहा है :—

“सिद्धे रत्तो तगुण ईहाए लब्धए गुरो सव्वे ।

तेरां अरिहंताइसु गुरोसु रागं समाहिओ ॥”

सिद्धों का रागी बना हुआ उनके गुणों की ईहा-इच्छा करता है और सर्वगुणों को प्राप्त करता है । अतएव अर्हन्तादि तथा उनके गुणों में राग तो सुसमाधि का कारण है । इसीलिये प्रशस्त भाव-पूजा का भी साधकता में ही समावेश है । अब शुद्ध भाव-पूजा का स्वरूप बताते हैं । आत्मा का सामान्य चक्र, विशेष चक्र, क्षायोपशमिक चेतना वीर्य आदि सर्व श्री वीतराग अर्हन्त परमात्मा के क्षायिक ज्ञानादि गुणानुयायिता में प्रवृत्त हों, उसे शुद्ध भाव-पूजा कहते हैं अर्थात् गुणानुरागी होकर गुणों का बहुमानी होता है, तब स्वरूप में तन्मय होने पर स्वरूप की पूर्णता होती है, यही मुक्ति का मार्ग है । प्रशस्त राग भाव-पूजा का स्वरूप इस प्रकार है—श्री वासुपूज्य तीर्थंकर भगवान् जो स्वयम्-बुद्ध हैं, त्रिभुवन के स्वामी हैं, वे ही मेरे परम-अत्यन्त इष्ट-प्रिय और वल्लभ हैं । उन्हीं के प्रति मेरा राग है । यह भाव पूजा प्रशस्त राग युक्त है । गुणों का राग प्रशस्त राग है ।

अतिशय महिमा रे अति उपकारता रे

निर्मल प्रभु गुण राग ।

सुरमणि सुरघट सुरतरु तुच्छ ते रे

जिनरागी महाभाग ॥पूजना०॥३॥

अर्थ—प्रशस्त राग क्या है ? उसे बताते हैं—श्री तीर्थंकर देवों के ३४ अतिशय, आठ महाप्रातिहार्य वाणी के ३५ अतिशय, समवसरण आदि की अद्भुतता, आश्चर्यजनकता, विस्मयकारिता आदि देखकर अथवा सुनकर अनुराग होना प्रशस्त राग कहलाता है । जगत के जीवों का मोहान्धकार दूर करने के लिये धर्म-देशना देकर उनके विस्मृत आत्म-धर्म का स्मरण कराने और उनके सन्देहों का निवारण करने के लिये उनका यह अति उपकारित्व है । आप भाव-आजीविका-आत्मा को पुष्ट जीवन अर्थात् मुक्ति मार्ग योग्य पाथेय, आत्म-गुणों को विकसित करने की विधि रूप वृत्ति के दाता हैं । तत्त्व को भूल जाने वाले जीवों

को तत्त्व का भान कराना आदि सब उपकार करने वाले श्री वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् हैं । उनके इस अत्यन्त उपकारित्व पर इष्टता-चाह, प्रियता तथा निर्मल-कर्मविरण रहित ज्ञान, दर्शन, वीतरागता, असंगता, स्वरूप-भोगित्व प्रमुख गुणों का राग भी प्रशस्त राग है । वीतराग के प्रशस्तरागी को सुरमणि-चिन्तामणि, सुरघट-काम कुम्भ, सुरतरु—कल्पवृक्ष तो तुच्छ लगते हैं; क्योंकि ये सब ऐहलौकिक/भौतिक सुख-भोग प्राप्ति के हेतु हैं, जो जन्म-मरण बढ़ाने वाले अशुद्ध परिणामों/भावों की उत्पत्ति कराने वाले हैं, अतः निरुद्ध हैं । और, श्री अर्हन्त वीतराग का राग तो परम्परा से आत्म-सुख-मोक्ष का कारण है ! आत्म गुण-वृद्धि करने का पुष्ट निमित्त है । अतः जिन, वीतराग, स्व-गुण भाक्ता, परमदयालु, परमोपकारी, महागोप, महामाहण, तत्त्व-सम्पदा के उपदेशक अर्हन् परमात्मा के प्रति जिनका अनुराग हो, वे सचमुच महाभाग्यशाली हैं । जो जीव काम राग, स्नेह राग, दृष्टि राग जो अनादि काल से अत्यन्त परिचित प्रियमित्र हैं, उन सर्व का परित्याग कर, उनसे पराङ्मुख हो, वीतराग पुरुषोत्तम परमानन्दमय श्री वासु-पूज्य भगवान् का अनुरागी बना, अतः वह स्वयं पवित्र है, धन्यातिधन्य है, कृतार्थ है, कृतपुण्य है । वह महाभाग्यवान् पुण्यपुञ्ज है । यही प्रशस्त राग अर्थात् भाव-पूजा है, जो जीव को सर्व दुःखों से मुक्त कराने वाली है और सुज्ञजनों के लिये आदरणीय, अनुकरणीय और अनुमोदनीय है ।

दर्शन ज्ञानादि गुण आत्मना रे

प्रभु प्रभुता लयलीन ।

शुद्ध स्वरूपी रूपे तन्मयी रे,

तसु आस्वादन पीन ॥पूजना०॥४॥

अर्थ अब शुद्ध भाव-पूजा बतलाते हैं—जिस साधक की आत्मा के क्षायोपशमिक भावी गुण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र्यादि सर्व प्रभु की प्रभुता में लयलीन-तल्लीन बन गये हैं, अर्हन्त के प्रति आन्तरिक बहुमान है और प्रभु के गुणों की अनन्तता का भासन-ज्ञान

है। इस प्रकार जितनी आत्म-शक्ति प्रकट हुयी है, उसे श्री अरिहन्त गुणों की अनुयायी बना कर तन्मय बना लेना, शुद्ध भाव-पूजा है। वह इस रीति से है—प्रभु की प्रभुता का निश्चय श्रद्धा है, उसके आस्वादन में मग्न रहे, शुद्ध स्वरूपी परमात्मा का स्वरूप अर्थात् वास्तविक धर्म में तन्मय होकर उसके आस्वादन का अनुभव करे, उससे पीन-पुष्ट रहे, वह शुद्ध भाव-पूजा भक्ति है। योग-मनो वाक् काय द्वारा वन्दन-नमनादि भक्ति योग-भक्ति है। प्रभु पर इष्टता-प्रियता वह राग-भक्ति है। मैं अत्यन्त पुण्यवान् और महान् हूँ, श्री अर्हन्त वीतराग परमात्मा जैसा सर्व गुण-सम्पत्ति-शाली मेरा स्वामी है, और मुझे मुक्ति मार्ग मिल गया, ऐसा गौरव अनुभव करे। और, स्वयं के गुणों की प्रभु की प्रभुता के अनुयायी रूप से प्रवृत्ति करे, प्रभु गुणों में लीन बना हुआ रहे, वह तत्त्व-भक्ति है। ऐसे सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति जिन्होंने अपनी मूल परिणति प्रभु की प्रभुता में लीन कर दी है, वे महानुभाव आत्म-परिणति रूप उत्सर्ग में प्रभु की प्रभुता को रमण करा रहे हैं। इसे ही शुद्ध भाव-पूजा कहते हैं।

शुद्ध तत्त्वरस रंगी चेतना रे,

पामे आत्म स्वभाव ।

आत्मा लम्बी निज गुण साधतो रे,

प्रगटे पूज्य स्वभाव ॥पूजना०॥५॥

अर्थ—इस प्रकार शुद्ध भाव-पूजा वाली आत्मा, शुद्ध-निर्मल आत्म-तत्त्व वाले श्री अरिहन्त देव अथवा मिद्ध भगवान् के रूप में रंजित होकर उनके गुणों का अनुभव करने वाली चेतना, अन्य विकल्पों को हटा कर अनुभव भावना सहित प्रभु स्वरूप की रसिक चेतना, अपने आत्म-स्वभाव को प्राप्त होकर, आत्मस्वभावोपयोगी आत्म-स्वभाव में रमण करने वाली आत्मानुभवी बन जाती है अर्थात् उपादानावलम्बी अवस्था को प्राप्त करती है। जब यह भव्य जीव आत्मावलम्बी होता है तब अपने गुणों को 'साधतो' उत्पन्न करता हुआ, सम्यग्दर्शनादि गुणों को प्रकट करता हुआ, गुणस्थान क्रम से दोषों की हानि/नाश करता हुआ, गुण प्राग्भाव स्वरूप एकत्व स्वरूपानुभव करता हुआ, तल्लीन हो जाने से अपने अनादिकालीन सत्तागत पूज्य स्वभाव को प्रकट करता है। अर्थात् वह आत्मा यह जानता हुआ कि, 'मैं सदा का अनन्त गुणशाली पूज्य स्वभावी हूँ' ऐसे निश्चय वाला सम्यग् दर्शन प्रकट होता है। स्याद्वाद सत्ता का भासन-ज्ञान होता है।

सत्ता का भान होने पर सत्ता में रमण स्वरूप अनुभव स्वरूप चारित्र्य गुण का आविर्भाव होता है। तत्पश्चात् निरावरण ज्ञान-केवलज्ञान हो जाता है। इस प्रकार श्री वीतराग अरिहन्त देव की पूजा करने से स्वयं का पूज्य स्वभाव प्रकट होता है।

आप अकर्त्ता सेवा थी हुवे रे,
सेवक पूरण सिद्धि।
निज धन न दिये परा आश्रित लहे रे,
अक्षय अक्षर ऋद्धि ॥पूजना०॥६॥

अर्थ—श्री वीतराग देव स्वयं तो अन्य जीवों के मोक्ष के कर्त्ता नहीं हैं, क्योंकि पर-कर्त्तृत्व आत्म-द्रव्य का धर्म नहीं है। अतः स्वयं तो पर-जीव की सिद्धि के अकर्त्ता हैं, किन्तु श्री प्रभु की सेवा से सेवक/भक्त के 'पूरण-सिद्धि' सम्पूर्ण सिद्धता उत्पन्न हो जाती है। भगवान श्री वीतराग निज धन-अपनी ज्ञानादि अनन्त गुण की धन-सम्पत्ति किसी अन्य को देते नहीं। अर्थात् कोई भी द्रव्य अपना गुण अन्य द्रव्य को न देता है, न यह गुण अपने द्रव्य को छोड़कर अन्य द्रव्य में जाता है। कोई भी द्रव्य परस्पर एक दूसरे के गुणों का विनिमय (परिवर्तन) नहीं करते। सर्व द्रव्य स्व-स्व की सत्ता के स्वामी हैं। अतः श्री अरिहन्त देव किसी को देते नहीं, परन्तु आश्रित-आश्रय में रहने वाला सेवक स्वतः ही निश्चय से अक्षय-कभी क्षय, नष्ट न होने वाली तथा अक्षर-न क्षर, न जीर्ण होने वाली, न खिरने वाली, ऐसी अविनाशी अनन्त आत्म-सम्पदा अर्थात् पूर्णानन्दादि की समृद्धि को प्राप्त करता है। अतः जिन-भक्ति सिद्धता का अव्यर्थ उपाय है।

जिनवर पूजा रे ते निज पूजना रे,
प्रगटे अन्वय शक्ति।
परमानन्द विलासी अनुभवे रे,
देवचन्द्र पद व्यक्ति ॥पूजना०॥६॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्र देव की पूजा-भक्ति वास्तव में निज-स्व की पूजा-भक्ति है। आत्म-गुणों की वृद्धि अर्थात् आत्म-सम्पदा की पुष्टि करना है। क्योंकि, जिन-सेवा से स्वयं के अन्वयी गुण-सहज ज्ञानानन्दादि जो अनन्त शक्ति को पुष्ट करते हैं, वे प्रकट होते हैं अर्थात् निरावरण बनते हैं। वह जीव परमानन्द का विलासी होकर 'अनुभवे' भोगता है, अनुभव करता है। क्या अनुभव करता है? 'देव-चन्द्र' सर्व देवों में चन्द्रमा के सदृश 'पद' अर्थात् परमात्मता पूर्णता निरावरणता निरामयता, तत्त्व-भोक्तृत्व स्वरूपानन्दता रूप पद की व्यक्ति-अभिव्यक्ति प्रकट करता हुआ अनुभव करता है। जो अनन्त काल से कर्मों से आवृत थी, वह निरावरण होने पर, उन कर्मों के क्षय होने पर अक्रिय अनवच्छिन्नता शक्ति प्रकट होती है। आत्मा शुद्ध बनती है। अतएव जिनेन्द्र देव की भक्ति परमात्मता रूप आत्म-सिद्धि का कारण है। हे भव्य जनों! मुमुक्षुओं! आप श्री वीतराग अरिहन्त की भक्ति-पूजा विधि-सहित, भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति की अभिलाषा से मुक्त होकर, तत्त्व-साध्यता अर्थात् आत्म-तत्त्व की शुद्धि के लिये करो। यही मुक्त होने का, सिद्धि-प्राप्ति का परमोत्तम उपाय है।



१३. श्री विमल जिनेन्द्र स्तवन

(राग—आदर जीव क्षमा गुण आदर
अथवा—दास अरदास सी परे करे जी)

विमल जिन ! विमलता ताहरी रे,
अवर बीजे न कहाय ।

लघु नदी जिम तिम लंघिये जी,
स्वयम्भूरमण न तराय ॥वि० १॥

अर्थ—अब श्री विमलनाथ भगवान् की स्तुति करते हैं—हे विमल जिन ! ‘विमलता ताहरी’ आपकी विमलता निर्मलता कैसी है ? समस्त द्रव्यकर्म भावकर्म परानुयायितादि सर्व दोषों से रहित है । किसी भी प्रकार के द्रव्यमल और भावमल का कहीं अणुमात्र भी नहीं है । ऐसी अद्भुत विमलता अवर-बीजे किसी अन्य में नहीं है । और, किसी छद्मस्थ द्वारा न कहाय-नहीं कही जा सकती है । भाष्य में कहा है—“सिद्ध स्वरूपस्यानन्तत्वाद् वाचः क्रमपरिणतत्वादायुषस्याल्पत्वात् तेन वक्तुं न शक्यते केनाऽपि ।”

श्री सिद्ध परमात्मा का स्वरूप अनन्त गुणमय होने से क्रम से परिणत होने वाले वाक्-शब्दों द्वारा तथा मनुष्य एवं देवादि की आयु सीमित-अल्प होने से, किसी के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता । इसे दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं कि, जैसे लघु-छोटी नदी को तो जैसे-तैसे तैर कर या नाव-जलयान आदि द्वारा लंघन-पार की जा सकती है, किन्तु असंख्य कोटि योजन का स्वयम्भूरमण नामक अन्तिम और मनुष्य लोक

से करोड़ों योजन दूर समुद्र कैसे पार किया जा सकता है ? दैव शक्ति से वह भी कदाचित् पार किया जा सकता है, किन्तु मनुष्य के द्वारा नहीं। आपके गुण तो स्वयम्भूरमण समुद्र से भी अनन्त हैं। उन्हें वचन द्वारा कथन करने में कोई समर्थ नहीं है।

सयल पुढ़वी गिरि जल तरुजी,

कोई तोले इक हत्थ ।

तेह पण तुभ गुण-गण भणी जी,

भाखवा नहीं समरत्थ ॥वि० २॥

अर्थ—सयल – सकल पुढ़वी-पृथ्वी, गिरि-पर्वत, जल-पानी, तरु-वनस्पति अर्थात् सर्व जगत् की भूमि और उस पर विद्यमान सभी मेरु आदि गिरिराज और उन पर विद्यमान जल, वनस्पति-वृक्ष, लताएं, गुल्म, वल्लियाँ आदि को इक हत्थ-एक हाथ द्वारा उठाकर तोले-अर्थात् अधर उठाले, ऐसा बलवान् कोई क्षायोपशमिक वीर्यवान् हो सकता है। किन्तु, वह भी आपके रत्नत्रयादि गुण-गण-गुणों का समूह जो अनन्त है, उसे भाखवा-कहने में समरत्थ-समर्थ नहीं है। श्री सवज्ञ के अतिरिक्त सभी प्राणी क्षायोपशमिक वीर्य वाले हैं। ऐसी शक्ति वाले तो क्या साक्षात् श्री अरिहन्तदेव भी जो क्षायिक वीर्य-शक्ति वाले हैं, वे भी आपके निर्मल स्वरूप को केवलज्ञान द्वारा जान सकते हैं, परन्तु आयु सीमित होने से अनन्त गुणों का कथन करने में असमर्थ हैं, ऐसी दशा में मुझ जैसा बाल कैसे समर्थ हो सकता है ?

सर्व पुद्गल नभ धर्म ना जी,

तेम अधर्म प्रदेश ।

तस गुण धर्म पज्जव सह जी,

तुभ गुण इक तणो लेश ॥वि० ३॥

अर्थ—जगत् में विद्यमान सर्व पुद्गल द्रव्य के तथा नभ-आकाश द्रव्य, धर्म-धर्मास्तिकाय तेम-वैसे ही अधर्म-अधर्मास्तिकाय अर्थात् चारों अस्तिकाय और पाँचवां जीवास्तिकाय इन सर्व के अनन्त प्रदेश, अनन्त गुण-धर्म—नित्यत्वादि और उनके सर्व के पर्याय भी सर्व से अनन्त गुणे हैं। हे प्रभो ! वे सर्व मिलकर भी आपके गुण मात्र केवलज्ञान के सम्मुख लेश-कण मात्र हैं, क्योंकि इन सर्व पञ्चास्तिकाय के भाव तो वर्तमान कालिक हैं और सर्वज्ञ तो केवलज्ञान द्वारा इन सर्व के अतीत, वर्तमान और अनागत तीन काल के पर्याय जो उत्पाद व्यय धौव्य रूप हैं, उन्हें एक समय में जानते हैं तथा इनसे अनन्त गुणे दूसरे धर्म को भी एक समय में जानते हैं। इस कारण केवलज्ञान की शक्ति अनन्त गुणी है। विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

“ये हि केवलस्य निःशेषज्ञेयगता विषयभूता पर्यायास्ते ज्ञानाद्वैतवादिनयमतेन ज्ञानरूपत्वादर्थपत्त्यैव स्वपर्यायाः प्रोक्ता, न तु परपर्यायापेक्षया इत्यविशेषकेवलत्वविरोधो नाशंकनीय इति ।”

अर्थ—जो केवलज्ञान के सम्पूर्ण ज्ञेयगत विषयभूत पर्याय हैं, वे सर्व ज्ञानाद्वैतवादि नय के मत से ज्ञान रूप होने से अर्थापत्ति न्याय से ही स्व पर्याय कहे गए हैं, न कि पर पर्याय अपेक्षा से ? अतः अविशेष केवलत्व के विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिये अर्थात् केवलज्ञान सम्पूर्ण विषयों का ग्राहक होने से सर्व से अनन्त गुण है।

एम निज भाव अनन्त नी जी,

अस्तित्ता केटली थाय ।

नास्तित्ता स्व पर पद अस्तित्ता जो,

तुभ समकाल समाय जी ॥वि० ४॥

अर्थ—इस रीति से जैसे केवलज्ञान गुण अनन्त पर्याय वाला है वैसे ही केवल दर्शनादि के भी निज भाव गुण पर्याय अनन्त हैं। उनकी अनन्तता कितनी है ? इसे बताते हैं—जैसे स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप अस्तित्ता अनन्त है, वैसे ही पर-पर्याय अर्थात् अन्य द्रव्य-जीव द्रव्य, अजीव द्रव्य पुद्गलादि के प्रदेश उनके स्वभाव और उनके गुण पर्याय भी

अनन्त हैं, उनकी सर्व की अनन्तता का नास्तित्व आप में है और वह भी अनन्त है। इस प्रकार पूज्यपाद ने तथा श्री हेमचन्द्रसूरि ने भी कहा है।

‘ये यस्य समवेतास्ते स्वपर्यायाः प्रोच्यन्ते, अस्तित्वेन सम्बद्धास्ते च अनन्ता, ये च घटादिगताश्चास्य पर्यायास्तेभ्यो व्यावृत्तित्वेन नास्तित्वेन सम्बद्धाः इति ।’

अर्थ—जो जिन द्रव्यों से समवेत (युक्त) हैं वे उनके स्व पर्याय कहलाते हैं। जो अस्तित्व रूप से सम्बन्ध हैं वे अनन्त हैं तथा जो घटादिगत इसके पर्याय हैं उनसे व्यावृत्ति रूप व नास्तित्व रूप से सम्बद्ध हैं। अतः ये जो नास्ति पर्याय हैं, वे भी द्रव्य निष्ठित हैं। वे स्व-पद में ज्ञान गुण के अमूर्तत्व, चेतनत्व, सर्व वेत्तृत्व, अप्रतिपातित्व, निरावरणत्व आदि केवलज्ञान के पर्याय हैं। इस प्रकार केवलज्ञान के स्व-पर्याय अस्ति रूप से अनन्त हैं। अब केवलदर्शनादि अनन्त गुणों के जो पर्याय हैं, वे सर्व केवलज्ञान में नास्तित्व रूप से रहे हुये हैं। जैसे कि, केवलज्ञान अस्ति-नास्ति रूप से है वैसे ही केवलदर्शन तथा चारित्र्य, सुख, अरूपत्व, अगुरुलघुत्व, परमदानादि अनन्त गुण हैं। वे सभी स्वयं के एक द्रव्य निश्चित अनन्त गुण की नास्तिता को लिये हुये हैं। अतः स्वपद में नास्तित्व तथा परपद रूप से भी नास्तित्व है। वह सर्व नास्तित्व उस द्रव्य में ही अस्तित्व रूप से भी विद्यमान है। नास्ति धर्म की अस्तिता भी उस द्रव्य में ही है। इसे इस प्रकार समझिये—जिस जीव में ज्ञानादि गुण की अस्तिता है, उसमें पौद्गलिक वर्णादि का नास्तित्व भी है। वह वर्णादित्व जीव में नहीं है, किन्तु उनकी नास्तिता जीव में है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—“यदि पर-नास्तिता जीवादिषु न स्यात् तदा जीवादीनां परत्व-परिणतिः स्यात् इति ।” यदि परवस्तु का नास्तित्व जीवादि में न हो तो जीवादि की परत्व परिणति हो जाय। अतः जीव में अस्तित्व तथा नास्तित्व दोनों ही हैं। श्री विशेषावश्यक भाष्य में भी कहा है :—

“द्विविधं हि वस्तुस्वरूपं अस्तित्वं च नास्तित्वं । ततो ये यत्रास्तित्वेन प्रतिबद्धास्ते तस्य परपर्यायाः ये तु नास्तित्वेन सम्बद्धास्ते तस्य परपर्यायाः प्रतिपाद्यन्ते इति । निमित्तभेदख्यापनपरौ स्व-

पर-शब्दों न त्वेकेषां, तत्र सर्वथा सम्बन्धनिराकरणपरौ, अतो अस्तित्वेन सम्बद्धा इति परपर्याया उच्यन्ते, न पुनः सर्वथा ते तत्र असम्बद्धाः नास्तित्वेन सम्बद्धाः, इति वचनात् ।”

अर्थ—वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का है—अस्तित्व और नास्तित्व ! जो जिस द्रव्य-वस्तु में अस्तित्व रूप से प्रतिबद्ध हैं, वे उस द्रव्य के पर्याय हैं और जो नास्तित्व रूप से सम्बद्ध हैं, वे उस द्रव्य के परपर्याय प्रतिपादित किये गये हैं अर्थात् बतलाये गये हैं । इस प्रकार निमित्तभेद बताने वाले ही स्व-पर शब्द हैं, न कि किन्हीं एक का सर्वथा सम्बन्ध निराकरण-निषेध करने वाले । अतः जो अस्तित्व रूप से असम्बद्ध हैं, वे परपर्याय कहलाते हैं, किन्तु वे पुनः सर्वथा उस द्रव्य से असम्बद्ध नहीं अपितु नास्तित्व रूप से सम्बद्ध हैं । इस उल्लेख से जानना चाहिये ।

अतएव नास्तित्व का भी वस्तु-द्रव्य से सम्बन्ध ही है । वह स्वपद अर्थात् स्वद्रव्य के गुणान्तर की विवक्षा में नास्तित्व तथा परपद अर्थात् परद्रव्य के गुण की नास्तित्वता । ये दोनों नास्तित्वता सर्व वस्तु धर्म में पारिणामिक भाव से विद्यमान हैं । हे विमल जिन ! ये सर्व आपकी पारिणामिकता में निरावरण रूप से कर्तृत्व में भोक्तृत्व में समकाल-सदा प्रतिसमय समायी हुयी है अर्थात् सदैव समावेश ही रहता है, पृथक् नहीं होते । इतनी अनन्तता आप में है । और, आपके ये सर्व धर्म अस्तित्व अनन्तता निर्मलता आदि हैं, वे सम्यक्त्वधारी के श्रद्धा गोचर अर्थात् श्रद्धा में है तथा पूर्वधरों के परोक्ष ज्ञानगोचर है और केवलज्ञानियों के तो प्रयत्न हैं । इस प्रकार अभिलाष्य तथा अनभिलाष्य की अनन्तता है । वह किसी के द्वारा नहीं कही जा सकती । अतः हे नाथ ! आपका ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आत्म-रमण सुख की अनन्तता जिस भव्य जीव को स्याद्वाद सहित प्रतीति भासन गोचर हुयी, उस जीव को धन्य है । पुनः ऐसी अनन्त शक्तियों के पुञ्ज आपका तो कहना ही क्या ? आप तो महापूज्य हैं, देवाधिदेव वीतराग देव सर्वमहान् हैं ।

ताहरा शुद्ध स्वभाव ने जी,
आदरे धरि बहुमान ।
तेहने तेहिज नीपजे जी,
ए कोई अद्भुत तान ॥वि० ५॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके शुद्ध निर्दोष अनन्त आनन्दादि रूप स्वभाव का, जो वास्तव में अक्रिय एवं अक्षय्य है, उनको जो आदरे—स्वीकार करे अर्थात् वन्दन, नमन, सेवन, स्मरण, ध्यानादि रूप से आचरण करे, बहुमान पूर्वक—अत्यन्त सम्मान से ग्रहण करे, उस साध्यार्थी सेवक का भी वैसा ही स्वयं का स्वभाव शुद्ध हो जाता है, कर्मरहित बन जाता है। उसकी आत्मा भी प्रभु के जैसी निर्मल बन जाती है। यह कोई अद्भुत तान-विस्तार है, अर्थात् प्रभु के प्रभाव का विस्तार है। जिससे अरिहन्त प्रभु के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करने से ध्याता के आत्मा का स्वरूप शुद्ध हो जाता है। यह आश्चर्य कम नहीं है।

तुम प्रभु तुम तारक विभुजी,

तुम सम अवर न कोय ।

तुम दरिसण थकी हूँ तयो जी,

शुद्ध आलम्बन होय ॥वि० ६॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप वास्तव में मेरे प्रभु-अधिपति स्वामी हैं। मेरे तारक अर्थात् संसार समुद्र से तारने वाले महा-निर्यामक भी आप ही हैं। विभु-अत्यन्त सामर्थ्यशाली हैं। हे कृपासिन्धो ! हे देव ! हे ज्ञानभानो ! आप सदृश मेरे अवर-अन्य कोई नहीं हैं। त्रिभुवन में आप ही दयालु हैं। हे जगद्वत्सल ! तुम दरिसण थकी अर्थात् आपके दर्शन से अथवा सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) प्राप्त करके हूँ तयो-अर्थात् संसार समुद्र का उल्लंघन कर तर गया, पार हो गया। यहाँ निमित्त कारण पाकर भक्ति के हर्ष से औपचारिक वचन 'हूँ तयो' शब्द का उच्चारण किया है। सारांश यह है कि इस प्रकार शुद्ध स्वरूप के आलम्बन से मैंने अपना शुद्ध स्वरूप जान लिया, इससे स्वरूप-रुचि उत्पन्न हुयी। पश्चात् स्वरूप-विश्रामी एवं अनुभव ध्यानी बनकर तिर गया। इस भावी कार्य 'तरने' का वर्त्तमानारोप नैगम नय की अपेक्षा से किया है।

प्रभु तणी विमलता ओलखी जी,

जे करे थिर मन सेव ।

देवचन्द्र पद ते लहे जी,

विमल आनन्द स्वयमेव ॥वि० ६॥

अर्थ—इस प्रकार प्रभुजी की विमलता-निर्मलता को जिन्होंने ओलखी-पहचान ली, चीन्ह ली, ज्ञान कर लिया, वे प्राणी थिर मन-दृढ़ मन होकर सेव-सेवा भक्ति करते हैं। वे सम्यक्त्व की देशविरति सर्वविरति बनकर स्वयं 'देवचन्द्र पद' सर्व देवों में चन्द्र-श्रेष्ठ, पद-परमात्म पद लहे-प्राप्त करते हैं अर्थात् अनादि परम्परा से सन्तति संयोगी भाव कर्म उपाधि का क्षय कर, विमल-निर्मल सिद्ध बुद्ध आत्म-तत्त्व की पूर्णता को प्राप्त करते हैं। 'देवचन्द्र' शब्द से स्तुतिकर्त्ता ने अपना नाम भी सूचित किया है। वह देवचन्द्र पद विमल, निर्मल एवं आनन्दमय है और वह स्वयमेव खुद ही है। स्वयं का आनन्द स्वयं ही भोगते हैं। ऐसे श्री विमलनाथ भगवान् की सेवना करो ! मोक्षार्थी जीव के लिये श्री वीतराग अरिहन्त की सेवना ही सर्वाधिक निमित्त कारण है। अनादि की आन्ति दूर करने में पुष्ट निमित्त है।

१४. श्री अनन्तनाथ जिनेन्द्र स्तवन

(राग—दीठी हो दीठी जगगुह तुम्ह)

मूरति हो मूरति अनन्त जिगंद,
ताहरी हो प्रभु ताहरी मुझ नयणे वसी जी ।
समता हो प्रभु समता रस नो कन्द,
सहजें हो प्रभु सहजें अनुभव रस लसी जी ॥१॥

अर्थ—अब श्री चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ भगवान् की स्तवना करते हैं—हे अनन्तनाथ जिनेन्द्र ! ताहरी—आपकी मूरति—मुद्रा आकृति, मुझ नयणों—मेरी आँखों में वसी—निवास कर रही है । आपकी मुद्रा कैसी है ? समता रस की कन्द है अर्थात् राग-द्वेष-मुक्त भाव ही समता है, ऐसी समता रस का कन्द है । सहजे—प्रयास रहित, अनुभव-स्व-भोगित्व ज्ञान उसके रस से लसी—शोभित हुयी, भरी हुयी, तन्मय रूप है ।

भव दव हो प्रभु भव दव तापित जीव,
तेहने हो प्रभु तेहने अमृत घन समी जी ।
मिथ्याविष हो प्रभु मिथ्याविष नी खीव,
हरवा हो प्रभु हरवा जांगुली मन रमी जी ॥२॥

अर्थ—भव-चतुर्गति रूप संसार के दव-दावानल से तापित-तपे हुये, गर्मों से व्याकुल घबराये हुये जीवों को शीतल करने के लिये अमृत घन-अमृत से भरे हुये घन-बादलों के समी-समान है । अर्थात्

संसार के जन्म-मरणादि दुःखों का ताप आपकी मुद्रा के दर्शन से शान्त हो जाता है। मिथ्यात्व निश्चय और व्यवहार से दो भेद वाला है। निश्चय-परभाव/शरीरादि को ही आत्मा मानना, व्यवहार-कुदेव कुगुरु कुधर्म में सुदेव सुगुरु सुधर्म को मान्यता श्रद्धा रखना, दोनों प्रकार के मिथ्यात्व रूप विष की खीव-मूच्छा, उसे हरवा-दूर करने के लिये, जांगुली-गारुड़ी के मन्त्र समान है अर्थात् आपकी प्रशान्त मुद्रा के दर्शन से मिथ्यात्व का विष और उसको मूच्छा/बेहोशी दूर हो जाती है।

भाव हो प्रभु भाव चिन्तामणि एह,
आतम हो प्रभु आतम सम्पत्ति आपवा जी ।
एहिज हो प्रभु एहिज शिव सुख गेह,
तत्त्व हो प्रभु तत्त्वाम्बन थापवा जी ॥३॥

अर्थ—पुनः, हे प्रभो ! यह आपकी मुद्रा भाव चिन्तामणि रत्न सदृश है अर्थात् द्रव्य चिन्तामणि रत्न तो ऐन्द्रिय-इन्द्रियों के द्वारा भोगे जाने वाले भोगोपभोग रूप सुख का हेतु है अर्थात् भौतिक सुख सामग्री प्रदान करता है और श्री वीतराग की प्रशमरस भरी मुख मुद्रा एव पद्मासनस्थ नासाग्र-दृष्टि आदि तो आतम अर्थात् आत्म-सम्पत्ति अनन्त ज्ञानादि सम्पत्ति प्रदाता है, अतः भाव चिन्तामणि रत्न है। इसलिये एहिज-यही शिवसुख-मोक्ष सुख का गेह-निवास स्थान है तथा तत्त्व-आत्म-तत्त्व का, अध्यात्म स्वरूप का आलम्बन स्थापित करने के लिये आपकी प्रशान्त मूर्ति ही श्रेष्ठ कारण है।

जाये हो प्रभु जाये आस्रव चाल,
दीठे हो प्रभु दीठे संवरता वधे जी ।
रत्न हो प्रभु रत्नत्रयी गुणमाल,
अध्यात्म हो प्रभु अध्यात्म साधन सधे जी ॥४॥

अर्थ—आस्रव चाल-नये कर्म ग्रहण करने की अनादि कालीन आत्मा की प्रवृत्ति जाय-नष्ट हो जाती है। आपकी मूर्ति देखने से

संवर-कर्मबन्ध को रोकने की प्रवृत्ति वधे-बढ़ जाती है। आत्म-धर्म की रमणता में वृद्धि हो जाती है। रत्नत्रयी-सम्यग्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य रूप गुणों की माला अर्थात् निमल श्रेणी जिसमें है ऐसी आपकी मुद्रा के दर्शन से वह अध्यात्म-आत्मा के स्वरूप का साधन प्राप्त करने का उपाय सधे अर्थात् सिद्ध हो जाता है, प्राप्त हो जाता है।

मीठी हो प्रभु मीठी सूरत तुझ,
दीठी हो प्रभु दीठी रुचि बहुमान थी जी।
तुझ गुण हो प्रभु तुझ गुण भासन जुत्त,
सेवे हो प्रभु सेवे तसु भव भय नथी जी ॥५॥

अर्थ—हे देवाधिदेव ! आपकी जो सूरत-पद्मासनस्थ नासाग्र दृष्टि प्रशान्त मुद्रावली आपकी प्रतिमा-स्थापना जिन, सुन्दर प्रमाणोपेत आकार युक्त मूर्ति मीठी-मधुर है, उसे मैंने देखा। जो मुमुक्षुजन होते हैं, वे अत्यन्त रुचि से बहुमान पूर्वक प्रभु-प्रतिमा के दर्शन करते हैं। मैंने भी इसी भाव से आज दर्शन किये हैं, अतः मैं धन्य हूँ, कृतपुण्य हूँ। वसुदेव हिण्डी में कहा है—

“को वि हु पुन्नबीओ, वविओ पुव्वं च भवसहस्सेहि ।
ते एणं जिणवर-दंसण-लंभो मयं च जेऽलद्धो ॥”

अर्थ—अहो ! मैंने कोई ऐसा पुण्य बीज बोया था जो पूर्व के हजारों भवों में कभी लब्ध नहीं था, ऐसा श्री जिनेश्वर देव का दर्शन मुझे मिला।

इससे मैं धन्य हूँ कि ऐसी वीतराग मुद्रा के मुझे दर्शन हुये, अहो ! कैसा अद्भुत ज्ञान है, कैसा उपकारित्व है और कैसी अद्भुत/वस्मयजनक बात है कि मुझ सदृश रंक, दीन एवं मोहमग्न अज्ञानी को इस प्रभु-मुद्रा के दर्शन हुये। यह कितना महान् सौभाग्य है कि मैंने रुचि व बहुमान से प्रभु-मुद्रा के दर्शन किये। ऐसी वीतराग-मुद्रा और श्री अर्हन्त देव के अनन्त चतुष्टय—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र्य, अनन्त बल/शक्ति के भासन-ज्ञान युक्त

प्रभु के जो भाग्यशाली दर्शन और द्रव्य-भाव से पर्युपासना करता है उसे भव-भय-संसार-भ्रमण आदि का भय नहीं रहता है, क्योंकि जो जीव अरिहन्त की भक्ति करते हैं, वे संसार-भ्रमण नहीं करते हैं। कहा भी है :—

“इक्को वि एमुक्कारो जिणवर-वसहस्स वद्धमाणस्स ।

संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारि वा ॥”

अर्थ—श्री जिनवर वृषभ-तीर्थंकरों में श्रेष्ठ श्री वर्द्धमान स्वामी को किया गया एक भी नमस्कार, भाव पूर्वक वन्दन, पुरुष हो अथवा नारी, सभी को संसार सागर से तार देता है अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त कर देता है ।

नामे हो प्रभु नामे अद्भुत रंग

ठवणा हो प्रभु ठवणा दीठे उल्लसे जी ।

गुण आस्वाद हो प्रभु गुण आस्वाद अभंग,

तन्मय हो प्रभु तन्मयताएँ जे धसे जी ॥६॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके नाम श्रवण मात्र से अद्भुत-विस्मय जनक रंग-आनन्द उत्पन्न होता है। पुनः, हे देव ! आपकी परमोपकारी ठवणा-स्थापना/मूर्ति देखने से मन उल्लसित-हर्षित होता है। अतः स्थापना-प्रतिमा जीवों के लिए परमोपकारी है। जिसके दर्शन से अपने स्वरूप का स्मरण होता है, स्थापना निक्षेप के निमित्त से समवसरण स्थित अनेक जीवों को सम्यक्त्व व्रतादि का अपूर्व लाभ होता है, ऐसा आगमों में प्रसिद्ध उल्लेख है। इन्हीं स्थापना जिन-प्रभु की प्रतिमा के बाह्य अतिशय प्रातिहार्यादि—छत्र, चामर, परिकरादि देखने से व अनन्त चतुष्टय तथा ज्ञानातिशय, अपायागमातिशय, पूजातिशय वचनातिशय का स्मरण करने से प्रभु के गुणों का अभंग आस्वादन होता है। यह आस्वादन अभंग रूप से वही करता है जो तन्मयता से प्रभु गुणों में धसे—प्रवेश करता है, रमण करता है। और, प्रभु गुणों में रमण करने वाला ही उन गुणों का मूल्यांकन कर उन्हें प्राप्त करने की रुचिवाला

बनकर साधना पथ पर—त्याग तप संयम के मार्ग का पथिक बनकर उस पर अग्रसर होता है। ऐसी अद्भुत महिमा प्रभु दर्शन की है।

गुण अनन्त हो प्रभु गुण अनन्तनो वृन्द,

नाथ हो प्रभु नाथ अनन्त ने आदरे जी।

देवचन्द्र हो प्रभु देवचन्द्र ने आनन्द,

परम हो प्रभु परम आनन्द ने ते वरे जी ॥७॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञानादि अनन्त गुणों के वृन्द—समूह के नाथ स्वामी श्री अनन्तनाथ भगवान को आदरे—उपादेय रूप से ग्रहण करे। वह देवचन्द्र—स्तुतिकर्ता अथवा देवों में चौसठ इन्द्रादि जो चन्द्रवत् हैं, उन्हें आनन्द होता है तथा स्तुतिकर्ता भक्तजन परम आनन्दमय मोक्षपद का वरण करते हैं। ऐसे प्रभु की सेवा करते हुये भक्त प्राणी कर्म-क्लेश से मुक्त हो जाते हैं।

१५. श्री धर्म जिनेन्द्र स्तवन

(राग— सकल संसार अवतारए हूँ गए)

धर्म जगनाथ नो धर्म शुचि गाइये,

आपणो आत्मा तेहवो भाविए ।

जाति जसु एकता तेह पलटे नहीं,

शुद्ध गुण पज्जवा वस्तु सत्तामयी ॥१॥

अर्थ—अब श्री धर्मनाथ भगवान की स्तुति करते हैं और आत्म-द्रव्य के लिये साधकता और बाधकता का विवेक कराते हैं । पनरहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ भगवान के पवित्र आत्म-धर्म का गाइये-गायन करना चाहिये । उनका आत्म-धर्म शुचि/पवित्र हो गया है और वे सर्वथा कलिमल से मुक्त हो गये हैं । संग्रहणी में कहा है—“जो पुण आयसहावो धम्मोवयारिस्स ।” अर्थात् जो आत्म-स्वभाव है, वह धर्म है और उपकारी है । तथा ‘उभयक्खय हेतु’ स्वभाव और धर्म दोनों कर्मक्षय के हेतु हैं । भाव-धर्माधिकार में कहा है—“जीवाणं भावधम्मो कम्मा-भावेण जो खलु सहावो ।” कर्मों के अभाव में जो स्वभाव प्रकट होता है, वही जीवों का भाव-धर्म है । तथा “कम्मविमुक्कसरूवो अणि-दियत्ता अत्थिज्ज मज्जाओ । रूवादिविरहितो वा अणाइपरिणाम भावाओ ।” कर्मों से विमुक्त स्वरूप—अनिन्द्रियत्व, अस्थि, मज्जा, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि एवं अनादि परिणाम से मुक्त स्वरूप ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है ।

ऐसे पवित्र धर्मनाथ भगवान के स्वभाव धर्म को गाइये-कीर्तन करना चाहिये। उनका धर्म परानुयायिता से रहित है, अतः उसी का बारम्बार स्मरण करना चाहिये। तत्त्व की अभिव्यक्ति पूर्णक स्तवना करनी चाहिये और स्वयं के आत्मा को भी वैसा ही भाविये-समझना चाहिये। जैसा धर्मनाथ प्रभु का धर्म-स्वभाव है वैसा ही मेरा भी है अर्थात् मेरी आत्मा भी वैसी ही है। श्री सिद्ध प्राभूत की टीका में भी कहा है—

“जारिस सिद्ध-सहावो, तारिस सभावो हु सव्व जीवाणं।

तेणं सिद्धत्त रुइ कायव्वा भवजीर्वेहि॥”

अर्थ—जसा सिद्ध आत्माओं का स्वभाव है, वैसा ही सर्व जीवों का है। अतः सर्व जीवों को सिद्धत्व की रुचि करानी चाहिये। तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में भी यही कहा है—“जीवो जीवत्वावस्थः सिद्धः”—जीव वास्तविक अवस्था में सिद्ध रूप है। अतः सिद्धत्व तो जीव की स्वाभाविक अवस्था है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि संसारी जीव जो कर्म सहित मोहयुक्त मिथ्यात्व में रमण करने वाले हैं, ऐसे असंयमी अज्ञानी जीवों को सिद्धों के तुल्य कैसे कहते हो? उत्तर—वस्तु की एकता जातिपरक होती है, वह कभी पलट नहीं सकती। अतः जीव द्रव्य एक से हैं, उनका स्वभाव एक रूप है। संसारी जीव आदि काल से कर्मावृत्त रहा है, तथापि स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं छोड़ता। मेरी तथा श्री धर्मनाथ स्वामी की आत्म जाति एक ही है। श्री स्थानांग सूत्र में कहा है—‘एगे आया’ आत्मा एक है अर्थात् यहाँ भी स्वरूप की एकता से ‘एगे आया’ कहा है। वैसे आत्मा अनन्त हैं तथापि जाति से एक है। यद्यपि संसारी आत्मा अज्ञान व मोहनीय की तीव्रता से स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण परभाव में रमण करने वाला है, तथापि जीवत्व तो संग्रहण की अपेक्षा से वैसा ही है। जो शुद्ध निर्मल गुण पर्यायमय वस्तु की सत्ता है, वह सभी जीवों में समान है, क्योंकि सर्व जीवादि द्रव्य, गुण और पर्याय संयुत हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में ‘गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।’ कहा है। सम्मति में भी कहा है—

“दव्वं पज्जवविउअं, दव्वविउत्ता य पज्जवा नत्थि ।
उप्पायठिइ भंगाई, दवियलक्खणं एयं ॥”

अर्थ—द्रव्य पर्याय से वियुक्त-रहित नहीं है, और पर्याय द्रव्य से वियुक्त-रहित नहीं है ।

उप्पज्जंति वियंति य परिणमंति य गुण न दव्वाइ ।
दव्वप्पभवा य गुणा, न गुणप्पभवाइ दव्वाइ ॥२६४८॥

—विशेषावश्यक भाष्य

गुणों का परिणमन उत्पाद व्यय रूप से होना पर्याय है । गुण द्रव्य से उत्पन्न है । द्रव्य गुण से उत्पन्न नहीं है । ‘अपज्जवाणं जाणणा नत्थि’ यह आगम वचन है । आवश्यक निर्युक्ति में भी कहा है :—

“गुणाणामासओ दव्वं एगदव्व सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ निस्सिया भवे ॥”

अर्थ—गुणों का आश्रय द्रव्य है, गुण एक द्रव्याश्रित है और लक्षण तथा पर्याय तो उभयाश्रित अर्थात् द्रव्य और गुणाश्रित है ।

अतः जीवादि वस्तु की सत्ता शुद्ध गुण-पर्यायमय है । यद्यपि संसारी जीव अशुद्ध परिणामी है और उसके ज्ञानादि गुण कर्मों से आवृत्त-ढँके हुये हैं तथापि सत्ता से शुद्ध हैं, निरामय हैं । अतः अपना आत्म-स्वरूप श्री धर्मनाथ स्वामी के सदृश समझना, यही तत्त्वालम्बी होने का मार्ग है ।

नित्य निरवयव वलि एक अक्रिय पणे,
सर्वगत तेह सामान्य भावे भणे ।
तेहथी इतर सावयव विशेषता,
व्यक्ति भेदे पड़े जेहनी भेदता ॥२॥

अर्थ—अब सामान्य बिना वस्तु की सत्ता-विद्यमानता का कोई आधार नहीं होता तथा विशेष बिना कार्य नहीं होता, पर्यायों की प्रवृत्ति

नहीं होती, अतएव पञ्चास्तिकाय सामान्य और विशेष स्वभाव वाले हैं। अब प्रथम सामान्य का लक्षण बताते हैं—जो सदा अविनाशी और नित्य हो किन्तु आकाशवत् निरवयव हो, जिसका विभाग या अंश न हो वह निरवयवी होता है। और, मात्र एक है, दो नहीं होते। स्वजाति में द्विधाभाव नहीं होता, वह एक होता है। जानने की परस्पर कोई क्रिया न करे, वह अक्रिय होता है। किसी पर्याय में व्याप्त हो, किसी में न हो, ऐसा नहीं, किन्तु सर्व पर्यायों में व्याप्त हो। यह सामान्य भाव श्री सर्वज्ञ देव द्वारा कहा गया है। श्री विशेषावश्यक भाष्य में भी यही कहा है—

“एगं निच्चं निरवयवमक्कियं सब्बगं च सामन्नं ॥२२०६॥”

अर्थ—एक, नित्य, निरवयव, अक्रिय और सर्व द्रव्य व्यापी सामान्य है।

इसका ज्ञान निम्न प्रकार से समझें—जो नित्यत्व है, वह सामान्य धर्म है, क्योंकि वह पदार्थ में नित्य रहता है। उस नित्यत्व के प्रदेश, पर्याय रूप अवयव नहीं होते, अतः निरवयव है। वह नित्यत्व एक ही है। वह जानना-ज्ञान करना आदि कोई क्रिया नहीं करता, अतः अक्रिय है। वह नित्यत्व प्रदेश में, गुण में, पर्याय में सर्व में व्यापक है, इससे सर्वगत है। इतने लक्षणों में पहुँचता है, अतः नित्यत्व सामान्य है। इस प्रकार अनित्यत्व आदि भी सर्व सामान्य में ही अन्तर्भूत जानने चाहिये। यह सामान्य स्वभाव है।

अब विशेष स्वभाव का लक्षण बताते हैं—वह सामान्य से इतर—दूसरे सावयव, सप्रदेशी, अविभाग पर्याय संयुक्त, अनेक अनित्य सावयव युक्त है अर्थात् सप्रदेशी एवं सक्रिय है, वह विशेष स्वभाव है, किन्तु व्यक्ति, पदार्थ तथा गुणान्तर के भेद से उन में भेद पड़ता है अर्थात् सर्व प्रकार की अभिव्यक्ति में विशेषता पृथक्-पृथक् है, अतः विशेष की सर्वत्र पृथक्ता है। उस विशेष स्वभाव में ज्ञानादि गुणों के भेद जानने चाहिये। यह सामान्य-विशेष भेद बताया। ये सामान्य और विशेष द्रव्य के सत्तागत धर्म हैं।

एकता पिण्ड ने नित्य अविनाशता,
अस्ति निज ऋद्धि थी कार्यगत भेदता ।
भाव श्रुत गम्य अभिलाप्य अनन्तता,
भव्य पर्याय नी जे परावर्त्तिता ॥३॥

अर्थ—यह सर्व धर्मनाथ प्रभु का धर्म है । अब सामान्य स्वभाव के लक्षण बताते हैं—

१. एकता—अर्थात् एक स्वभाव, पिण्ड-द्रव्य के सर्व प्रदेश, गुण पर्याय और इनका समुदाय एक पिण्ड रूप है, किन्तु भिन्न रूप में रहने वाले नहीं हैं, अतः उसे एक स्वभाव कहते हैं ।

२. नित्य अविनाशता—अभंगुरता, नष्ट नहीं होने का स्वभाव है अर्थात् ध्रुवत्व है । यह द्रव्य का द्वितीय स्वभाव है ।

३. निज ऋद्धि का अस्तित्व—सर्व द्रव्य स्वभाव से विद्यमान हैं । कदापि स्व-ऋद्धि का परित्याग नहीं करते । यह अस्ति स्वभाव है ।

४. भेद स्वभाव—यह कार्यगत है, अर्थात् ज्ञानादि गुण सर्व अपना-अपना कार्य करते हैं, किन्तु कोई गुण अन्य गुण का कार्य नहीं करता । ज्ञान-जानने का दर्शन-देखने का चारित्र-रमणता का और भोग गुण भोगने का कार्य करता है । इस प्रकार गुणों के कार्य भेद से भेद स्वभाव है ।

५. अभिलाप्य स्वभाव—वचन से कहे जा सकें, ऐसे भी आत्म-द्रव्य में अनन्त धर्म हैं । जो भाव, श्रुतज्ञान से जाने जा सकें, वे अभिलाप्य हैं । श्रुतज्ञान की शक्ति भी अभिलाप्य भावों तक सीमित है ।

६. सर्व द्रव्य में पर्यायों का परिवर्त्तित्व—अर्थात् परिवर्तन का स्वभाव, वह भव्य स्वभाव है । ये छह स्वभाव द्रव्य में, गुणों में और पर्यायों में हैं, सामान्य हैं ।

क्षेत्र गुण भाव अविभाग अनेकता,
 नाश उत्पाद अनित्य पर नास्तिता ।
 क्षेत्र व्याप्तत्व अभेद अवक्तव्यता,
 वस्तु ते रूप थी नियत अभव्यता ॥४॥

अर्थ—पुनः सामान्य स्वभाव को कहते हैं :—

१. अनेक स्वभाव—क्षेत्र के अविभाग प्रदेश हैं, जिससे पदार्थ अनेक स्वभावी हैं। गुण अविभाग—एक-एक गुण के अनन्त अविभाग हैं। जैसे चारित्र गुण के अविभाग संयम श्रेणी में कहे हैं। वीर्य के अविभाग कम्मपयडी ग्रन्थ के योगस्थान अधिकार में वर्णित हैं। अतः गुण अविभाग रूप से भी अनेक स्वभाव हैं। एक-एक गुण के अनन्त अविभाग हैं, यह भी अनेक स्वभावता है। और, भाव विभाग से पर्याय धर्म-ज्ञानादि गुणों की अनन्तता पर्यायों की सूक्ष्मता गहन है। यह भी अनेक स्वभावता है। अर्थात् क्षेत्र, गुण और पर्यायों से सर्व प्रकार से द्रव्य में अनेकता है।

२. अनित्य स्वभाव—नाश-व्यय स्वभाव और उत्पाद स्वभाव, यह परिणति सर्व द्रव्यों में है, अतः अनित्य स्वभाव है।

३. नास्ति स्वभाव—द्रव्य में नास्ति स्वभाव है। पर अर्थात् अन्य द्रव्य का धर्म अन्य में नहीं है। एक द्रव्य के धर्म दूसरे धर्म में नहीं मिलते।

४. क्षेत्र व्याप्यत्व—यद्यपि आत्मा के सर्व गुण एवं पर्याय भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, तथापि सर्व का भाजन-पात्र, स्थान-क्षेत्र का आधार आत्मा है, अतः गुण-पर्याय की अनन्तता है, किन्तु, कोई गुण मूल द्रव्य को नहीं छोड़ सकता। एकाधार रूप से व्याप्यत्व है, अवगाह कर रहे हुये हैं। अभेदता द्रव्य का स्वभाव है।

५. अवक्तव्य स्वभाव—वस्तु के स्वरूप में केवलज्ञान-गम्य रूप से ज्ञात किन्तु वचन अगोचर-वचन द्वारा जिनका कथन नहीं हो सकता; यह द्रव्य का अनभिलाप्यत्व अवक्तव्य स्वभाव है। विशेषावश्यक भाष्य

में कहा है—“अभिलाप्यभावेभ्योऽनभिलाप्या अनन्तगुणाः इति । कथन योग्य भावों से अकथनीय भाव अनन्त गुण हैं ।

६. अभव्य स्वभाव—अनेक पर्यायों का परिवर्तन है, किन्तु वस्तु के मूल रूप का परिवर्तन नहीं होता, वह उसी रूप में रहती है । ऐसा नियत होने से वस्तु में अभव्य स्वभाव है । अभव्य का अर्थ है—“न भवितुं योग्यं अभव्यम्” अर्थात् जो वैसा होने योग्य न हो, वह अभव्य है ।

ये सर्व स्वभाव, श्री सम्मतितर्क तथा धर्मसंग्रहणी नामक ग्रन्थों की व्याख्या में देखने चाहिये । ये सामान्य स्वभाव हैं और पदार्थ की द्रव्यास्तिकता के मूल धर्म हैं । ऐसे परिणमन से सर्व पदार्थ स्याद्वादमय हैं । एक-अनेक, नित्य-अनित्य, अस्ति-नास्ति, भिन्न-अभिन्न, वक्तव्य-अवक्तव्य, भव्य-अभव्य आदि धर्म युगपत्-एक समय वर्तते हैं । एक-एक स्वभाव की सप्तभंगी बनती है । ऐसे अनन्त स्वभावों की अनन्त सप्तभंगी द्रव्य में होती है । स्याद्वादरत्नाकर की रत्नाकरावतारिका में कहा है— “नित्या-नित्याद्यनन्तस्वभावभेदतो प्रतिधर्मैर्भिन्ना-भिन्ना सप्तभंगी, एवमनन्ता सप्तभंग्यो भवन्ति ।” इसका अर्थ उपर्युक्त कथन में आ चुका है । श्री जिनवल्लभसूरि ने भी स्वकृत लघु अजित-शान्ति स्तोत्र में कहा है—

“बहुविह नय भंगं वत्थु णिच्चं अणिच्चं,

सदसदणभिलप्पा लप्पभेगं अणेगं ॥

अर्थात् बहुत प्रकार के नय भंग हैं । वस्तु नित्य-अनित्य, सद-असद, अभिलाप्य-अनभिलाप्य, एक-अनेक स्वभाव वाली है । इन स्वभावों का समर्थन श्री यशोविजय जी महोपाध्याय ने भी स्वकृत द्रव्य गुण पर्याय रास में किया है, वहाँ से देख ले ।

धर्म प्राग्भावता सकल गुण शुद्धता,

भोग्यता कर्तृता रमण परिणामता ।

शुद्ध स्वप्रदेशता तत्त्व चैतन्यता,

व्याप्य व्यापक तथा ग्राह्य ग्राहकता ॥५॥

अर्थ—अब प्रभु के विशेष स्वभाव धर्म का वर्णन करते हैं—

१. प्राग्भाव—आत्म द्रव्य के ज्ञानादि धर्मों की प्राग्भावता-प्रकटता यह आविर्भाव धर्म है, यह प्राग्भाव धर्म है।

२. सकल गुण शुद्धता—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्यादि सकल गुण सर्वथा शुद्ध कर्ममल-रहित हो गये हैं।

३. भोग्यता—ज्ञानादि सर्व गुण शुद्ध हो गये हैं, अतः भोग्य बन गये हैं। यह स्वगुण भोग्यता है।

४. कर्तृता—प्रदेश कार्यानुगत समुदाय प्रवृत्ति कार्योत्पादकता रूप है। धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के प्रत्येक प्रदेश में गति सहाय गुण रूप कार्य होना, यह भिन्न-भिन्न प्रदेशाश्रित है और जीव द्रव्य का ज्ञान-दर्शनादि-जानने-देखने रूप कार्यादि, सर्व जीव के असंख्य प्रदेशों के मिलने से होते हैं। अतः जीव द्रव्य में कर्तृत्व विशेष स्वभाव है।

५. रमण स्वभाव—आत्म स्वरूप में ही रमण करना, रमण स्वभाव है।

६. पारिणामिकता—स्वगुणों में ही परिणमन स्वरूप परिणामिता है।

७. शुद्ध स्वप्रदेशकता—असंख्य आत्म-प्रदेशों का कर्ममल नष्ट हो जाने से वे शुद्ध हो गये हैं।

८. तत्त्व चैतन्यता—तत्त्व अर्थात् वस्तु द्रव्य के मूल धर्म को तत्त्व कहते हैं। वह तत्त्व पूर्ण रूप से चैतन्यमय है। कहीं भी किसी भी प्रकार की अचैतन्यता नहीं है।

९. व्याप्य व्यापकत्व—आत्म-स्वरूप जो व्याप्य है, उसी में व्याप्त रहने रूप व्यापक स्वभाव विशेष धर्म है।

१०. ग्राह्य ग्राहकता—वह भी स्वरूपाश्रित होने से उसी की है, अर्थात् स्वरूप को ग्रहण किये हुये है ।

इसी प्रकार आधार-आधेय भाव, संरक्षणत्व, स्व-स्वामिभावादि सभी विशेष स्वभाव जानने चाहिये । ये सर्व श्री धर्मनाथ प्रभु के विशुद्ध निर्दोष बन गये हैं ।

इसी प्रकार सर्व सामान्य स्वभाव और विशेष स्वभाव निर्मल बन जाने से, हे प्रभो ! आप पूर्ण परमात्म-स्वरूप को प्राप्त हो गये हैं । सामान्य स्वभाव तो सदा निर्दोष-मलविहीन रहते हैं, परन्तु पर-पुद्गल संयोग से विशेष स्वभावों में द्विधा भाव अर्थात् विभावता एवं स्वभावता दोनों हो जाते हैं । सारे विशेष स्वभाव परभाव-संयोग से परभाव रूप से बन जाते हैं । श्री धर्मनाथ भगवान् ने स्वरूपालम्बी होकर, करण गुणों से-ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और वीर्य शक्ति के स्वरूप में एकत्व कर स्वयं को स्वरूप प्राग्भाव-स्वरूप में तन्मय कर दिया, अतः वे निरामय एवं दोषमुक्त बन गये हैं ।

संग परिहार थी स्वामि ! निजपद लह्युं,
शुद्ध आत्मिक आनन्द पद संग्रह्युं, ।
जहवि परभाव थी हूँ भवोदधि वस्यो,
परतणे संग संसारतायेँ ग्रस्यो ॥ ६ ॥

अर्थ—अब ऐसी अनन्त गुण निर्मलता प्रभुजी के जिस रीति से प्रकट हो गयी है, उस रीति का वर्णन करते हैं । हे स्वामिन् ! आपने पुद्गलादि के संग-परिहार थी अर्थात् सर्वथा परसंग के परिहार-त्याग से निज पद-अपना परम अव्याबाध आनन्द स्वरूप पद चिद्रूप अव-स्थान लह्युं—प्राप्त किया । आपने शुद्ध निर्मल पवित्र आत्मिक आत्मा का आनन्द-पूर्ण आत्म-समृद्धि स्वरूप ज्ञान दर्शन आदि ऋद्धि वाला पद-स्थान संग्रह्युं—उपलब्ध किया । हे प्रभो ! जहवि-यद्यपि हूँ—मैं परभाव थी—पर निमित्त से, मद विषय कषाय मिथ्यात्वादि के कारण से परभाव में परिणत होकर, परानुयायिता से भवोदधि-संसार रूपी समुद्र में वस्यो—निवास कर रहा हूँ और परतणे संग-पुद्गलादि के

संग से कर्मवश पराधीन बन जाने से मिथ्यात्व भाव के कारण नये-नये अध्यवसायों-परिणामों से संसारतायें-चार गति रूप संसार के संसरण रूप में मेरी आत्मा ग्रस्यो-कर्मों द्वारा ग्रास बनायी गयी है अर्थात् इस जगत् के भावों ने मुझे ग्रास रूप बना रखा है। अतः हे देव ! आप असंगी हैं, मैं परसंगी हूँ। आप मुक्त हैं, मैं बद्ध हूँ। आप अकर्मा हैं, मैं कर्माश्रित हूँ, आप स्वरूप-भोगी हैं, मैं पुद्गल भोगी हूँ। आप स्वगुण परिणत हैं, मैं पर-पुद्गलाश्रित राग-द्वेष परिणाम वाला हूँ। हे प्रभो ! मुझ में तो अपनी भूल से कोई नवीन ही जो मेरो सत्ता में, कर्तृत्व में, पारिणामिकता में नहीं था, वह उत्पन्न हो गया। यह अशुद्ध कर्तृत्व मैंने किया, इससे मेरे स्वयं के ज्ञानादि गुण आवृत्त हो गये और मैं पुद्गलों का ग्राहक बन गया। पुद्गलों को ग्रहण करने से मेरी आत्मा पुद्गल-भोक्ता बन गयी। इससे आप में और मुझ में भारी अन्तर पड़ गया। मैं संसार से पड़ा हूँ और आप सिद्ध एवं ध्येय बन गये हैं।

तहवि सत्ता गुणे जीव ए निर्मलो,

अन्य संश्लेष जिम फटिक नवि सामलो।

जे परोपाधि थी दुष्ट परिणति ग्रहो,

भाव तादात्म्य मां माहरुं ते नहीं ॥७॥

अर्थ—तथापि सत्ता गुणे-द्रव्यास्तिक संग्रह नय की अपेक्षा से यह जीव अर्थात् मेरी आत्मा निर्मल है, निःसंग और अरूपी है। निम्न उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट समझाते हैं—जैसे स्फटिक अन्य संश्लेष-संयोग से जिस वर्ण की पन्नी पीछे लगी हुई हो, वैसा दिखता है, वास्तव में है नहीं। सामलो—जैसे स्फटिक के पीछे काली पन्नी लगाने से वह काला दृष्टि गोचर होता है। पन्नी हटा देने पर स्वच्छ श्वेत दिखने लगता है, क्योंकि उसका मूल वर्ण तो श्वेत है, उज्ज्वल है। अपरीक्षक जन उसे श्याम समझते हैं। वैसे ही कर्म-संग से आत्मा अशुद्ध, राग-द्वेषमय परभावभोगी दिखायी पड़ती है, परन्तु तत्त्वज्ञानी-जन तो उसे वास्तव में निर्मल ही जानते हैं। उसी प्रकार श्रद्धावान् भी आत्मा को निर्मल जानता है और पर-उपाधि से दुष्ट परिणति पर-

कर्तृत्व रूप को ग्रहण कर, तादात्म्य भाव में तादात्म्य सम्बन्ध रूप से उसे ग्रहण कर रखा है। वह सर्व उपाधि भाव मेरा नहीं है। सर्व बाह्य सम्बन्ध कर्मसंयोगज है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। जो विभाव है, वह तदुत्पत्ति सम्बन्ध से है अर्थात् विभाव से विभाव होता है, वह तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है अर्थात् आत्मा से उत्पन्न नहीं है। वह मेरा नहीं अर्थात् कर्मों का संयोग है, कर्मज ही है, आत्मोत्पन्न नहीं है।

तिरौ परमात्म प्रभु भक्ति रंगी थई,

शुद्ध कारण रसे तत्त्व परिणति नई ।

आत्म ग्राहक थये तजे परग्रहणात,

तत्त्वभोगी थये टले पर-भोग्यता ॥८॥

अर्थ—उपर्युक्त गाथा में वर्णित विभाव परिणति को 'आत्मोत्पन्न नहीं' ऐसा कह चुके हैं। वह मेरा मूल धर्म नहीं है। अतः इसका निवारण किया जाय तो यह जा सकती है और मेरी आत्मा स्वरूप में अवस्थित हो सकती है। ऐसा विचार कर, आत्मा विभाव-परिणति को दूर करने के उपाय का चिन्तन करती है। जो संसारी आत्मा परानुगत-विषय कषायादि का अनुगामी बना हुआ है, उस समय उसे यदि स्वरूप की ओर उन्मुख करके स्वरूप में जोड़ने का प्रयास किया जाय, तो इसमें सफलता मिलना कठिन है। विभाव में ही रहने दिया जाय, तो कर्मबन्ध में वृद्धि करता रहेगा। अतः अन्य स्वजाति आत्मा जो शुद्ध हो, मोहरहित हो, उसका संयोग कराया जाय तो उसे स्वरूप का भान हो और स्वरूप प्राप्त करने का इच्छुक बने, रसिक बने। श्री अरिहन्त का स्वरूप व स्वयं की आत्मा का स्वरूप समान है, ऐसा भान होने पर स्वरूप का रसिक बना है अर्थात् कर्मों से आच्छादित आत्मा को भी आत्म-स्वरूप पर श्रद्धा होती है, ज्ञान होता है, रमण करता है और आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने का उद्यम/पुरुषार्थ करता है। परभाव और पर-परिणति को छोड़कर क्रमशः सम्पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करता है। अतएव परमात्म प्रभु श्री धर्मनाथ भगवान् की भक्ति का, दर्शन-

पूजादि का रंगी थई—रसिक बनकर शुद्ध कारण शुद्ध-निर्मल कारण—निमित्तभूत भगवान् का रसिक बनने से आत्मा तत्त्व परिणतिमयी—आत्म तत्त्व की परिणति अर्थात् आत्म-स्वरूप बन जाने की स्थिति में मग्न हो जाता है। अपने आत्म-स्वरूप को देखता है, उसका ध्यान करता है, स्मरण करता है और उसी को प्रकट करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार जब आत्मग्राहक—आत्म-स्वरूप का ग्राहक थये—हो जाने पर पर-ग्रहणता—पर अर्थात् मिथ्यात्व, विषय कषायादि की ग्राहकता को तजे—परित्याग कर देता है, क्योंकि जो आत्म-स्वरूप का ग्राहक बन जाता है, वह परभाव का ग्रहण नहीं करता। जितनी आत्म-परिणति आत्म-धर्म की ग्राहक बनती है, वह कर्मादि पर-भाव को ग्रहण नहीं करती है, उसे ही संवर परिणति कहते हैं। यों की तत्त्व भोगी थये—स्वतत्त्व अर्थात् आत्म-स्वरूप का भोक्ता होने से पर भोग्यता टले अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त पुद्गलमय सर्व वस्तुओं भोग्यता—भोगना दूर हो जाता है और विषय-कषायादि की परपरिणति नष्ट हो जाती है। सारांश यह है कि आत्म-स्वरूप की प्राप्ति का यही सफल उपाय है। श्री वीतराग देव के साक्षात् दर्शनादि के अभाव में स्थापना निक्षेप—प्रभु-प्रतिमा की भक्ति, बहुमान, पूजा-सत्कार, दर्शन, वन्दन, स्मरण, ध्यान भी आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने में निमित्त कारण हैं। साक्षात् प्रभु तो निमित्त हैं ही।

शुद्ध निःप्रयास निज-भाव भोगी तदा,

आत्म क्षेत्रं नहीं अन्य रक्षण तदा ।

एक असहाय निस्संग निर्द्वन्द्वता,

शक्ति उत्सर्ग नी होय सहु व्यक्तता॥९॥

अर्थ—यदा—जब शुद्ध-पुद्गल संगरहित, निःप्रयास-प्रयत्न/पुरुषार्थ रहित निज भाव—आत्म-भाव, आत्म-स्वरूप का भोगी—भोगने वाला यह आत्मा हो जाता है तदा—तब आत्म क्षेत्र—आत्म-प्रदेशों में अन्य रागादि पुद्गल कर्मों का रक्षण—रहना नहीं होता है। रागादि के कारण ही दूसरे कर्म आत्मा में आकर निवास करते हैं। रागादि के नष्ट हो जाने पर न कर्म आते हैं और न ठहरते हैं, क्योंकि उनके रक्षण—रखने में ये ही तत्पर रहते हैं। जब चेतना वीर्य आत्म-स्वरूप का ग्राहक बन

जाता है, तब पुद्गल कर्मों का आत्म-प्रदेशों से कोई सम्बन्ध नहीं होता । जब सर्व पुद्गल आत्म-प्रदेशों से पृथक् हो जाते हैं, भड़ जाते हैं तब आत्मा कर्मरहित बन जाती है । ऐसी स्थिति में आत्मा एकमात्र आत्मा, असहाय-किसी की सहायता या अपेक्षाओं से रहित, निस्संग-संगरहित, निर्द्वन्द्वता-किसी भी प्रकार के द्वन्द्व से रहित हो जाने से उत्सर्ग भाव की सारी शक्तियाँ व्यक्त-प्रकट हो जाती हैं और आत्मा कर्माविरण रहित हो जाती है । फलतः ज्ञानादि गुणों की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है ।

तेण मुझ आतमा तुम थकी नोपजे,

माहरी सम्पदा सकल मुझ सम्पजे ।

तेणे मनमन्दिरे धर्म प्रभु ध्याइये,

परम देवचन्द्र निज सिद्धि सुख पाइये ॥१०॥

अर्थ-इस कारण हे देवाधिदेव ! वीतराग ! तुम थकी-आपके निमित्त से मुझ आतमा-मेरा आत्म-तत्त्व नोपजे-शुद्ध बन सकता है । दूसरा कोई उपाय दृष्टि-गोचर नहीं हो रहा है । माहरी सम्पदा-मेरी ज्ञानादि रूप आत्म-सम्पदा अर्थात् सिद्धत्व अवस्था आपके स्वरूपालम्बन से ही प्राप्त हो सकती है । मेरा अनन्त गुण पर्याय रूप स्वकर्तृत्व एवं स्वभोक्तृत्व स्वरूप ऐश्वर्य जो अनादि काल से मोहाधीन-कर्मावृत है वह सकल-सर्व मुझ को सम्पजे-सम्प्राप्त हो अर्थात् मैं अपनी अरूपी सत्तागत तत्त्व-सम्पदा का स्वामी व भोक्ता अविनाशी रूप से बनूँ । इसे मैं प्रभु का परम उपकार मानूँ । तेणे-इस कारण मन-मन्दिर में श्री धर्मनाथ भगवान् को ध्याइये-ध्यान करना चाहिये । थोड़ी देर के लिये अन्य उपाधियों को चिन्ता का परित्याग कर, इन प्रभु के गुणों का तथा उपकारित्व का बहुमान पूर्वक ध्यान करना ही नये साधक के लिये आधार है । इसी से नवीन अभ्यास करने वाले साधक को आत्म-स्वरूप को जानने, श्रद्धा करने और उसमें रमण करने की अभिलाषा होगी । परम-श्रेष्ठ/उत्कृष्ट देव स्वरूप में रमण करने वाले मुनि उनमें चन्द्रमा के समान परमात्मपद को एवं निज-स्व की सिद्धि अविनाशी अव्याबाध ऐसे सुख, उसको पाइये-प्राप्त करना चाहिये । यही मोक्ष का उपाय है । अतः श्री अरिहन्त का दर्शन, पूजन, सेवा, गुणगान, ध्यान, स्मरण आदि करने चाहिये । □

१६. श्री शान्ति जिनेन्द्र स्तवन

(राग—आँखडिये मैं आज शत्रुंजय दीठो रे)

जगत दिवाकर जगत कृपानिधि, व्हाला म्हारा ।

समवसरण मां बैठा रे ।

चउमुख चउविह धर्म प्रकाशे, व्हाला म्हारा ।

ते मैं नयणें दीठा रे ॥

भविकजन हरखो रे । निरखी शान्ति जिनन्द ॥भवि०॥

उपशम रस नो कन्द नहीं इण सरिखो रे ॥स्थायी॥१॥

अर्थ—अब भी सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान की स्तवना करते हैं । वे प्रभु कैसे हैं ? जगत्-संसार में दिवाकर-सूर्य के समान अपने ज्ञान से उद्योत करने वाले तथा जगत् कृपानिधि-जगत् में कृपा-दया के निधि-निधान, ऐसे प्रभु व्हाला म्हारा-मुझे अत्यन्त प्रिय हैं । समवसरण में बैठा-विराजमान हैं । चउमुख-चार मुखों से, चउविह-चार प्रकार के धर्म प्रकाशे-धर्म को प्रकाशित कर रहे हैं । ऐसे तीर्थंकर शान्तिनाथ प्रभु को, मैं नयणे दीठा-मैंने आगम रूप चक्षु से अर्थात् श्रुत ज्ञान श्रवण करने से मेरे अन्तश्चक्षु उद्घाटित हुये और मैंने उनके दर्शन किये । अतः हे भविक जनों ! आप भी शास्त्र-वचनों के श्रवण से प्रभु को ज्ञान रूपी आँखों से देखकर हरखो-हर्षित होओ । श्री शान्ति जिनेन्द्र को निरखी-निरीक्षण कर, दर्शन कर प्रसन्न होओ । सामान्य केवलियों में इन्द्रवत् श्री तीर्थंकर देव श्री शान्तिनाथ भगवान के दर्शन कर हर्षित बनो । वे भगवान् उपशम रस-परम क्षमा रूप रस के कन्द हैं । इनके सदृश अन्य कोई नहीं है । ये प्रभु शान्तरसमय हैं ।

प्रातिहारिज अतिशय शोभा व्हाला०,

ते तो कहिय न जाये रे ।

घूक बालक थी रविकर भरनूँ व्हाला०,

वर्णन केणी परे थाये रे ॥भविक०॥२॥

अर्थ—पुनः उन प्रभुजी के प्रातिहारिज-अष्ट महाप्रातिहार्य—
१ अशोक वृक्ष, २. सुर पुष्प वृष्टि, ३. दिव्य ध्वनि, ४. चामर युग्म,
५. स्वर्ण सिंहासन, ६. भामण्डल, ७. देव दुन्दुभि, ८. छत्र त्रय और
३४ अतिशय की शोभा, ते तो-वह तो मुझ सदृश व्यामोही जीव से
कहिय न जाये-नहीं कही जा सकती । इसे दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं ।
घूक बालक थी-उल्लू के बच्चे द्वारा कभी रविकर भरनूँ-सूर्य की
किरणों के समूह का वर्णन केणी परे थाये-वर्णन किस प्रकार हो सकता
है ? क्योंकि, घूक या उसके शावक (बच्चे) को आँखों से दिन में
दिखायी ही नहीं देता, तो सूर्य की ओर देखना तो उसके लिये असम्भव
ही है । इसी प्रकार मुझ से भी प्रातिहार्यादि शोभा का वर्णन नहीं हो
सकता ।

वाणी गुण पांत्रीश अनुपम व्हाला०,

अविसंवाद स्वरूपे रे ।

भव दुःख वारण शिव सुख कारण व्हाला०,

सूधो धर्म प्ररूपे रे ॥भविक०॥३॥

अर्थ—वाणी-भगवान श्री शान्तिनाथ की वाणी भी पांत्रीस-
पैंतीस अनुपम-उपमा रहित गुण वाली है । अविसंवाद स्वरूपे-परस्पर
विरोधी वाक्यों से रहित है । भगवान श्री शान्तिनाथ प्रभु ने भवदुः-
खवारण-जीवों के संसार के जन्म-मरणादि सर्व दुःखों को दूर करने के
लिये तथा शिवसुख कारण-शिव/मुक्ति सुख के प्रबल कारण के लिये
सूधो-सीधा, सरल, यथार्थ मार्ग-ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना
स्वरूप मार्ग को प्ररूपे-बताया है । इस प्रकार के धर्म का उपदेश समव-

सरण में विराजमान होकर प्रभु करते हैं। स्थापना निक्षेप को वन्दनीय व पूजनीय न मानने वालों को श्री समवायांग सूत्र का अवलोकन करना चाहिये। वहाँ सभी का समवसरण रचना, तीर्थंकर देवों के ३४ अतिशय और पैंतीस वाणी के अतिशयों का वर्णन है।

दक्षिण पश्चिम उत्तर दिशिमुख व्हाला०,

ठवणा जिन उपकारी रे।

जसु आलम्बन लहिय अनेके व्हाला०,

तिहाँ थया समकित धारी रे ॥भविक०॥४॥

अर्थ—समवसरण में पूर्वाभिमुख तो भगवान तीर्थंकर देव स्वयं विराजते हैं और तीन दिशाओं—दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशाओं में देवता भगवान के साक्षात् स्वरूपमय ठवणा-स्थापना-जिन अर्थात् प्रभु के जैसी प्रतिमा विराजमान करते हैं। एकदम साक्षात् भगवान जैसे ही ये प्रतिबिम्ब होते हैं और ये प्रतिबिम्ब उपकारी भी हैं। तसु आलम्बन-उनके आलम्बन को लहिय-पाकर, उस आश्रय स अनेक-अनेक समवसरण स्थित देव, मनुष्य, तिर्यंच-गज अश्वादि एवं श्वापद जन्तु सिंहादि भी समकित-तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व के धारी-धारण करने वाले तिहाँ थया-वहाँ समवसरण में हो गये हैं। वर्तमान में होते हैं और भविष्य में होंगे। आगे की गाथा में स्थापना निक्षेप के विषय में सप्त नय के द्वारा विशद वर्णन किया गया है।

षट् नय कारज रूपे ठवणा व्हाला०

सग नय कारण ठाणी रे।

निमित्त समान थापना जिन जी व्हाला०

ए आगम नी वाणी रे ॥भविक०॥५॥

अर्थ—अब पुनः स्थापना-जिन प्रतिबिम्ब का उपकारित्व तथा सत्यता का विशेष रूप से वर्णन करते हैं। श्री अर्हन्तदेव तथा सिद्ध भगवान्

भी आत्म-स्वरूप का बोध कराने में निमित्त कारण हैं और श्री जिन-प्रतिमा भा तत्त्व-आत्मबोध कराने में निमित्तभूत है। स्थापना जिन-प्रभु प्रतिमा में अरिहन्तत्व और सिद्धत्व की स्थापना की जाती है। उसमें षड् नय से अरिहन्तत्व और सिद्धत्व है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अरिहन्त और सिद्ध दोनों ही विद्यमान नहीं हैं, अभी तो उनकी यहाँ स्थापना है, उसमें सातों ही नय से कहना चाहिये, छह ही नयों से क्यों कहते हो ? उत्तर—मूल स्थापना निक्षेप में स्थापना तीन निक्षेप से है “नाम-स्थापना-द्रव्य-निक्षेपत्रयं नैगमादि नयवर्ति इति अत उच्चते” इसलिये कहते हैं कि नामादि चार निक्षेपों के एक-एक के चार-चार भेद होते हैं। जैसा कि विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—“नामादि प्रत्येकं चतु रूपम्” अतः प्रथम स्थान, यह स्थापना में है। यह स्थापना का नाम निक्षेप है। द्वितीय स्थापना का ग्रहण हेतु नाम है, इसे स्थापना निक्षेप जानना चाहिये। तृतीय समुदायता अनुपयोगता, यह स्थापना का द्रव्य निक्षेप है। चतुर्थ ‘आगारोऽभिप्पाग्रो’ आकार का अभिप्राय जिसकी स्थापना है, उसे बताने का है। वे धर्म का कारण बनते हैं। अतः भाव निक्षेप हैं अथवा—

“नत्थि नयेहिं विहरणं सुत्तं अत्थो य जिणमये किंचि ।

आसज्जउ सोयारं नए नयविसारओ बूया ॥

—विशेषावश्यक भाष्य

अर्थ—जिणमये—जिनमत जैन शासन में इन सात नयों से विहीन कुछ भी सूत्र या अर्थ नहीं है। अतः नयविशारद को श्रोता के समक्ष नय की सारी स्थिति स्वरूप समझाने को प्रस्तुत रहना चाहिये।

समवसरण में या अन्यत्र जहाँ भी अरिहन्त या सिद्ध की स्थापना है, उन्हें नयों से समझाते हैं।

१ नैगमनय :—स्थापना देखने से अरिहन्त सिद्ध के संकल्प की स्थापना प्रभु प्रतिमा में होती है अथवा पद्मासनस्थ नासाग्रदृष्टि ध्यानस्थ असंग स्वरूप प्रतिमा में अंशतः अरिहन्तत्व या सिद्धत्व है, अतः अंशग्राही नैगमनय की अपेक्षा प्रतिमा में अंश है ही।

२. संग्रह नय :—अरिहन्त या सिद्ध भगवान के गुणों की संग्रह बुद्धि धारण कर प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती है, अतः संग्रहनय से उक्त स्थापना है।

३. व्यवहार नय :—अरिहन्त के आकार रूप प्रतिमा का दर्शन पूजन, वन्दन, नमनादि सर्व व्यवहार अरिहन्त को किया जाने वाला होता है। इस व्यवहार का कारणत्व आकार मद्रादि प्रभु प्रतिमा में है, अतः यह व्यवहार नय से स्थापना है।

४. ऋजुसूत्र नय :—जिन प्रतिमा रूप स्थापना के दर्शन कर भव्य जीवों की बुद्धि में विकल्प होता है कि ये भगवान् हैं, अरिहन्त वीतराग हैं, इस विकल्प से ही स्थापना की गयी है, अतः यह ऋजुसूत्र नय से स्थापना है।

५. शब्द नय :—अरिहन्त, सिद्ध ये शब्द प्रकृति प्रत्यय से सिद्ध शब्द होने से यहाँ प्रवृत्त होते हैं, अतः यह शब्द नय से स्थापना है।

६. समभिरूढ नय :—अरिहन्त के पर्यायवाची शब्दों—वीतराग, सर्वज्ञ, तीर्थंकर, जिनेश्वर, जिनेन्द्र, पारंगतादि की प्रवृत्ति भी स्थापना में है। यह समभिरूढ नय स्थापना है। परन्तु, केवलज्ञान केवलदर्शनादि गुण उपदेशकता स्थापना में न होने से एवंभूत नय नहीं है। इस कारण से इसमें एवंभूत नय का धर्म नहीं मिलता। दूसरे ठवणा/स्थापना रूप कार्य अरिहन्त सिद्धता रूप षड् नय से है, एवंभूत नय से नहीं, क्योंकि एवंभूत नय वास्तविक आत्मा में अर्थात् अरिहन्त सिद्ध की आत्मा में है। इस कारण कार्य रूप से साक्षात् अरिहन्त में भी षड् नय हैं।

विशेषावश्यक में स्थापना निक्षेप के प्रसंग में आरम्भ के तीन नय ही कहे हैं। यहाँ षड् नयों का ग्रहण उपचार भावना से किया गया है। समभिरूढ का लक्षण भी यहाँ मिलता है, अतः षड् नय कहे गये हैं।

जिन प्रतिमा रूप स्थापना निक्षेप सम्यक्त्वी, देशविरति, सर्व विरति के लिये मोक्ष-साधन का निमित्त कारण है। वह निमित्त कारण सप्त नयों से है। और, निमित्त कारण कर्त्ता के वश है। वह निमित्तत्व कारणता भी सप्त नयों से है, वह बताते हैं—

१. नैगम नय :—अनादि काल से संसार में भ्रमण करते हुए पुद्गलानुयायी जीव को जिन प्रतिमा के दर्शन होने पर अरिहन्त या जिसकी प्रतिमा है, उसे जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जिन भगवान को वन्दन की भावना उत्पन्न होती है। इस सन्मुखता जिज्ञासा का निमित्त है वह प्रतिष्ठा। अतः नैगम नय से निमित्त कारण हुआ।

२. संग्रह नय :—जिन प्रतिमा के दर्शन से समस्त गुणों का अर्थात् सम्यग् दर्शन जानादि गुणों का संग्रह होता है। आत्मा के साधकतादि गुणों के सन्मुख चेतना की अभिमुखता होती है। आत्म-तत्त्व के अभिमुख बनने से उसकी अद्भुत स्वरूपता-प्राप्ति की इच्छा आदि कार्य होते हैं। यह संग्रहनय की निमित्तता है।

३. व्यवहार नय :—वन्दन नमनादि व्यवहार जो साधक के आवश्यक कार्य हैं, उनका निमित्त प्रभु प्रतिमा है। यह व्यवहार नय से निमित्त है।

४. ऋजुसूत्र नय :—तत्त्व ईहा रूप उपयोग का स्मरण होना ऋजुसूत्र नय से निमित्त है।

५. शब्द नय :—सम्पूर्ण अरिहन्तत्व के उपयोग ज्ञान में जो उपादान है अर्थात् आत्मा निमित्त से तत्त्व-साधना में परिणत होती है। शब्द नय स्थापना निमित्त है। ऐसा सम्यक्त्वधारी आदि साधक के होता है।

६. समभिरुद्ध नय :—वीतराग अरिहन्त सर्वज्ञ आदि अनेक शब्द जो अरिहन्त के पर्याय हैं। उनमें से किसी शब्द या समग्र शब्दों से चेतना के वीर्य की परिणति साधकता के सन्मुख हुयी। यह समभिरुद्ध नय से स्थापना की निमित्त कारणता जाननी चाहिये।

७. एवंभूत नय :—स्थापना/जिन-प्रतिमा का निमित्त पाकर साधक तत्त्व-रुचि व तत्त्वरमण करने वाला हो जाता है और उसकी साधना शुद्ध शुक्लध्यान रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण निमित्त कारणता प्राप्त करके उपादान की पूर्ण कारणता उत्पन्न हुयी।

इससे एवंभूत नय से निमित्त कारणता सिद्ध हुयी अर्थात् निमित्त कारण का यह धर्म कर्तव्य है कि वह उपादान को उपादान कारण रूप की प्राप्ति करावे और उपादान कारण कार्य रूप सिद्ध हो ।

इससे जिन-प्रतिमा मोक्ष का निमित्त कारण है । वह निमित्त सप्त नय से है । इनमें शय्यम्भवादि को शब्द नय पर्यन्त कारण हुआ था और पुण्यरुचि को व्यवहार नय तक निमित्त कारणत्व प्राप्त हुआ था । मार्गानुसारी एवं सम्यक्त्वी को 'योग-दृष्टि-समुच्चय' में वर्णित आठ दृष्टियों में से आरम्भिक चार दृष्टि वालों को ऋजुसूत्र नय पर्यन्त निमित्त कारणत्व प्राप्त होता है और पुण्याद्यादि को तो जिन-प्रति-बिम्ब पूर्णतः एवंभूत नय तक निमित्त कारण बना दृष्टिगोचर होता है । इस प्रकार सारांश यह है कि जिन प्रतिमा में सम्पूर्ण सप्त नय स्वरूप निमित्त कारणता है । कार्यकर्त्ता जहाँ तक इसका प्रयोग करे वहाँ तक कार्य होता है । अतः स्थापना प्रभु प्रतिमा 'सग नय' सप्त नयों से कारण-निमित्त कारणता के स्थान पर है । इस स्थापना में अरिहन्त पद के मूल तो द्रव्य और भाव निक्षेप है, परन्तु निमित्त कारण के चार निक्षेप सप्त नय संयुक्त हैं ।

कहा भी है :—

“निमित्तस्यापि सप्तप्रकारत्वं नयप्रकारेण । निमित्तस्य द्वैविध्यं
द्रव्य-भावात् तथा उपादानस्यापि सप्त प्रकारत्वं नयोपदेशात् ।”

अर्थात् नय प्रकार से निमित्त भी सात प्रकार का है । द्रव्य भाव भेद से भी निमित्त दो प्रकार का है और उपादान कारण के भी सप्त नय से सात भेद हैं, क्योंकि शास्त्र में कहा है—“एणो अभिहाणं अणयं” अर्थात् अभिधान-नाम निक्षेप नयविहीन नहीं होता है ।

नत्थि नयेहि विहुणं सुतं अत्थो य जिनमये किञ्चि ।

आसज्जउ सोयारं नये नयविसारओ बूया ॥२२७७॥

१. यशवैकालिक सूत्र के प्रणेता शय्यम्भवसूरि

२. ३ पुण्यरुचि एवं पुण्याद्य के कथानक प्राप्त हैं ।

जिनमत में सूत्र और अर्थ आदि कुछ भी नयरहित नहीं हैं। नय विशारद नयों को कहें और श्रोताओं की योग्यता देखकर समझावें। अतः स्थापना-जिन-प्रतिमा और साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् दोनों ही निमित्त रूप से समान हैं। इस प्रकार विचरते अरिहन्त परमात्मा और जिन-प्रतिमा का तुल्यत्व होने से साधकजनों के लिये दोनों ही निमित्त कारण हैं किन्तु उपादान नहीं। इन दोनों में निमित्तता है। 'ए आगम नी वाणी' अर्थात् यह आगम/सिद्धान्त/शास्त्र सूत्र की वाणी-वचन है, जिसमें श्री अरिहन्त व अरिहन्त प्रतिमा के वन्दन का फल समान ही कहा गया है।

साधक तीन निक्षेपा मुख्य, व्हाला०

ते विण भाव न लहिये रे।

उपगारी दुग भाष्ये भाख्या, व्हाला०

भाव वन्दक नो ग्रहिये रे ॥भविक०॥६॥

अर्थ—तीन निक्षेप-नाम, स्थापना और द्रव्य, ये तीन निक्षेप मुख्य हैं और भाव के कारण है।

विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

“अहवा णामं ठवणा-दव्वाइं भावमंगलंगाइं।

पाएण भावमंगल-परिणामनिमित्तभावाओ ॥५६॥”

अर्थ—अथवा नाम, स्थापना और द्रव्य भाव मंगल हैं। भाव मंगल पाकर ही जीव के भाव-परिणाम शुद्धि का कार्य होता है। अतः तीनों निक्षेप साधक निमित्त हैं। इन तीन निक्षेपों के बिना भाव निक्षेप नहीं होता है। और, नाम, स्थापना ये दो निक्षेप भाष्य में उपकारी कहे हैं, क्योंकि द्रव्य निक्षेप तो पिण्ड रूप है जिसे ग्रहण करके रखा नहीं जा सकता और भाव निक्षेप भी अरूपी है। ये दोनों निक्षेप प्रारम्भ के नाम, स्थापना निक्षेप के बिना ग्रहण नहीं किये जा सकते, न सेवा आदि की जा सकती है। अतः पहले के दो निक्षेप ही वास्तव में उपकारी हैं। विशेषावश्यक भाष्य में कहा है :—

“वत्थुसरूवं नामं तप्पच्चयहेउओ सधम्मव्व ।

वत्थु नाराऽभिहाणा, होज्जाऽभावो वि वाऽवच्चो ॥६१॥

वत्थुस्स लक्ख-लक्खण-संववहाराऽविरोहसिद्धीओ ।

अभिहाणाऽहीणाओ, बुद्धी सद्दो य किरिया य ॥६३॥

नाम वस्तु का स्वरूप है, क्योंकि नाम प्रत्यय (प्रतीति) का हेतु है और वह स्वभाव धर्म के समान ही है। यदि वस्तु का नाम न हो तो वस्तु को जानेंगे कैसे ? तब वस्तु का अभाव ही हो जायेगा, क्योंकि नाम बिना तो अवाच्य रहेगा और अवाच्य वस्तु के समान अभाव वाला होता है। अभिधान — नाम युक्त वस्तु का ही लक्ष्य, लक्षण, संव्यवहार और अवरोध सिद्धि कार्य किया जा सकता है। बुद्धि शब्द क्रिया आदि सभी कार्य नाम युक्त पदार्थ का ही किया जा सकता है।

‘इति वाक्यात् नाम्नः प्रधानत्वम्।’ इन वाक्यों से नाम की प्रधानता सिद्ध है। स्थापना के विषय में भी विशेषावश्यक भाष्य का कथन द्रष्टव्य है :—

“आगारोऽभिप्पाओ बुद्धी किरिया फलं च पाएण ।

जह दीसइ ठव्विण्णदे न तहा नामे न दव्विन्दे ॥५३॥

आगारोच्चिय मइ-सद्द-वत्थु-किरिया-फलाऽभिहाणाइ ।

आगारमयं सव्वं जमणागारं तयं नत्थि ॥६४॥

अर्थ—जैसे स्थापना इन्द्र का आकार-चित्र में सभी किरीट, कुण्डल, वज्र, अत्यन्त सुन्दर तेजस्वी आकृति आदि दिखा देते हैं। स्थापना कर्त्ता का सद्भूत इन्द्र का स्वरूप सम्पन्न अभिप्राय दिखता है। देखने वाले को ‘इन्द्र है’ ऐसी बुद्धि हो जाती है। वैसी ही क्रिया नमन-पूजनादि फल भी इष्ट-प्राप्ति रूप मिलता है। वैसा नामेन्द्र और द्रव्येन्द्र में नहीं मिलता। आकार में ही मति शब्द, वस्तु, क्रिया, फल अभिधानादि होते हैं। सर्व वस्तुएं आकारमय हैं, दृश्यमात्र आकारवान् है। अनाकार कुछ भी नहीं है। अतएव नाम तथा स्थापना ये दो निक्षेप उपकारी हैं। और, मोक्ष-साधना में, संवर निर्जरा करने में तो ‘भाव वन्दक नो ग्रहिये’ अर्थात् वन्दना करने वाले के भाव को ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि

भावों के अनुसार ही बन्धन, क्षय, क्षयोपशम होते हैं और अरिहन्त का भाव निक्षेप तो अरिहन्त देव में ही है। यदि वे पर-जीव को संसार से तारते हों तो किसी जीव को संसार में रहना ही न पड़े। यह तो न कभी हुआ, न होता है और न भविष्य में होगा। अतएव साधक का भाव ही अरिहन्त का अवलम्बन लेना है और मोक्ष मार्ग पर चलना है। साधक स्वभावानुसार सिद्धि प्राप्त करता है। अतः प्रभु के नाम और स्थापना/मूर्ति के निमित्त से साधक को स्वभाव का स्मरण होता है। साधक के भाव-ग्रहण का यही आशय है। समवसरण स्थित/विराजमान अर्हन्त तीर्थंकर भगवान का भी नाम और आकार स्थापना सर्व जीवों के लिए उपकारी होते हैं। छद्मस्थ-संसार जीव द्वारा ये दो ही ग्राह्य हैं, अतः इनका ही अवलम्बन लेना चाहिये। नाम स्थापना ही प्रमाण हैं। निमित्त का आलम्बन ग्रहण करने वाले साधक के लिए स्थापना-पुष्ट निमित्त/आलम्बन है।

ठवणा समवसरणो जिन सेती, व्हाला०

जो अभेदता वाधी रे।

ए आतम ना स्व-स्वभाव गुण, व्हाला०

व्यक्त योग्यता साधी रे ॥भविक०॥७॥

अर्थ—अतएव 'ठवणादि' जब साक्षात् श्री तीर्थंकर विद्यमान थे, समवसरण में पूर्वाभिमुख स्वयं विराजमान होते थे, उस समय मेरी आत्मा किसी गत्यन्तर-अन्य गति में थी, अतः मैं साक्षात् दर्शन से वंचित रहा। अब मैं इस भव में दुर्लभ नरदेह आदि सामग्री पाकर, समवसरण में विराजमान प्रभु की स्थापना मूर्ति के दर्शन पाकर, चेतना को भी अर्हन्त गुणों का अवलम्बन करने वाली बनाकर सेवना करते हुए प्रभु के सिद्धावस्था रूप अनन्त गुणों के स्वरूप से 'अभेदता वाधी' मेरी चेतना की अभेदता/अभिन्नता/एकत्व परिणामता की वृद्धि हुयी है। इससे 'ए आतम ना स्व-स्वभाव गुण' इस आत्मा को यह अनुमान हो गया है कि इन शुद्धात्म-स्वरूप देव से अभेदत्व बहुमान रूप से प्राप्त हो जाने से मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरी आत्मा को स्व-स्वभावगत अनन्त गुणों-अनन्त ज्ञान दर्शनादि गुणों के 'व्यक्त योग्यता साधी' अभिव्यक्ति

की योग्यता प्राप्त हो गयी है, सिद्ध हो गयी है। ऐसा अनुमान से निर्धारण किया है। यह जीव को जो अनादि काल से विषयरसिक अर्थात् पांच इन्द्रियों और मन के भोग्य पदार्थों को भोगने का ही मात्र रसिक था, वह शुद्ध आत्मा वाले श्री अरिहन्त वीतराग का रसिक बना है, तो कभी अवसर पाकर स्व स्वरूप में रमणकर्त्ता भी बनेगा, ऐसा अनुमान हुआ है। यदि कारण से अभेद रहा तो कार्य भी सिद्ध करेगा। यह परिवर्तन-भाव अनन्त काल से नहीं हुआ था, वह परिवर्तन हो जाने से यह तो जाना कि इस आत्म द्रव्य में परिवर्तन की योग्यता है। अनादिकालीन गतिविधि का परिवर्तन भव्यत्व के लिंग (चिन्ह) का अनुमान तो हुआ, अर्थात् 'मैं भव्य हूँ' ऐसा भान हुआ। यह भक्ति की अतिरेक के हर्षमय उद्गार हैं।

भलुं थयुं मैं प्रभु गुण गाया, व्हाला०

रसना नुँ फल लीधो रे।

देवचन्द्र कहे म्हारा मन नो, व्हाला०

सकल मनोरथ सीधो रे ॥भक्ति०॥८॥

अर्थ—अतः हे प्रभो ! भलुं थयुं—अर्थात् बहुत अच्छा हुआ। मेरे लिये अत्यन्त आनन्द का विषय है कि मैंने 'प्रभु गुण गाया' परम शान्त रसमय भगवान् श्री शान्तिनाथ परमात्मा के गुणों की स्तवना की। इससे मैंने 'रसना नुँ फल लीधो रे' पुण्य से प्राप्त रसनेन्द्रिय-जिव्हा प्राप्त करने का फल ले लिया, प्राप्त कर लिया अर्थात् रसना की प्राप्ति को सार्थक बना लिया। श्री देवचन्द्र मुनि हर्षित होकर कहते हैं कि ऐसा होने से 'म्हारा मन नो' मेरे मन का 'सकल मनोरथ सीधो रे' मन को सम्पूर्ण अभिलाषाएँ पूर्णतया सिद्ध हो गयीं अर्थात् पूर्ण हो गयीं।

१७. श्री कुन्थु जिनेन्द्र स्तवन

(चरम जिनेसरु—ए देशी)

समवसरण बेसी करी रे, बारह पर्षदा मांह ।

वस्तु स्वरूप प्रकाशता रे, करुणाकर जगनाह रे,

कुन्थु जिनेसरु ॥१॥

निर्मल तुभ मुख वाणी रे, जे श्रवणें सुणें ।

तेहिज गुण मणि खाणी रे ॥कुन्थु० ॥२॥

अर्थ—अब सतरहवें श्री कुन्थुनाथ भगवान की स्तपना करते हैं। कुन्थु जिनेश्वर देवकृत समवसरण में अशोक वृक्ष और चैत्य वृक्ष के अधोभाग में, छत्रत्रय सहित स्वर्ण सिंहासन पर पूर्वाभिमुख विराजमान होते हैं। तीन दिशाओं में देवरचित प्रतिबिम्ब होते हैं। चारों ओर बैठी परिषद् के सामने साक्षात् भगवान विराजमान हैं ऐसा भास/भान होता है। प्रभु समवसरण में 'बेसी करी' बैठकर 'बारह पर्षदा मांह' द्वादश प्रकार—साधु-साध्वी, वैमानिक देव-देवी और ज्योतिष देव-देवी, व्यन्तर देव-देवी, भुवनपति देव-देवी, श्रावक-श्राविकादि नर-नारी की पर्षदा-परिषद् (सभ्यः श्रोताओं) के मध्य वस्तु स्वरूप—छहों द्रव्यों के मूल स्वरूप को प्रकाशित करते हैं अर्थात् जीव-स्वरूप को जीव स्वरूप से, अजीव-धर्मास्ति, अधर्मास्ति, काल, पुद्गल, आकाशास्ति, इन पांचों अजीव द्रव्यों को अजीव रूप से तथा उपादान कारण, निमित्त कारण, शुद्ध कार्य, अशुद्ध कार्य का तद्रूप से प्रकाशन करते हैं। द्रव्य से शुभ परिणति को कारण रूप व भाव से शुभ परिणति को कार्य के रूप व भाव साधन परिणति को कारण रूप और भाव से सिद्ध परिणति कार्य रूप है, वही उपादेय है, उसे ही लक्ष्य करके सारी साधना करनी चाहिये। उसी रुचि में रहना यही साधन है, ऐसा उपदेश करते हैं। हे करुणाकर! कृपा के आकर-खानि! हे जगनाह!

आप तीन जगत के नाथ हैं, ऐसे श्री कुन्थुनाथ जिनेसर-जिनेश्वर ! तुम-प्रापकी मुख वाणी से निःपृत ध्वनि-वचन जो निर्मल-मल दोष-रहित स्वच्छ है उसको जो प्राणी 'श्रवणें' श्रोत्रों से 'सुणें' सुनता है, वह भाग्यशाली प्राणी 'गुणमणिखाणी' गुण रूप मणि-चन्द्र कान्तादि मणियों की खाणी-खान है । ऐसे श्री कुन्थुनाथ भगवान को नमस्कार करो ।

गुण पर्याय अनन्तता रे,

वलिय स्वभाव अगाह ।

नयगम भंग निक्षेपना रे,

हयादेय प्रवाह रे ॥ कुन्थु० ॥ ३ ॥

अर्थ—गुण वस्तु-द्रव्य के सहभावी धर्म हैं । तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—“द्रव्यार्थतया निर्गुणा गुणा.”—उन्हें गुण कहते हैं । तथा पर्याय क्रमभावी उभयाश्रित है । द्रव्य के गुण, पर्याय और स्वभाव जो सर्व द्रव्यों में वर्तमान रहते हैं । इन तीनों की अनन्तता, अर्थात् गुणों, पर्यायों और स्वभाव की अनन्तता, ये सभी अगाह-अगाध हैं । इनका अवगाहन नहीं किया जा सकता । नय अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का अवलम्बन लेकर कहा जाय वह नय है । तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—“अनेकधर्मकोपेतस्य वस्तुनः एकेन धर्मेण उन्नयनं अवधारणात्मकं नित्य एवं अनित्य एव एवंविध नयव्यपदेशमास्कन्दति” । अनेक धर्म-समूह से युक्त का एक धर्म से उन्नयन करना, मुख्य रूप से उसी धर्म को कहना अर्थात् निश्चयात्मक रूप से “यह नित्य ही है” “यह अनित्य ही है,” इस प्रकार से नय व्यपदेश कहलाता है । ऐसे मूल सात नय हैं । उनके उत्तर भेद सात सौ हैं । गम—“गम्यते इति गमाः अंशभेदेन अन्य धर्म अभेदेन वस्तु निरूपणात्मकं वाक्यं गमात्मकं उच्यते” गम् धातु गत्यर्थक, ज्ञानार्थक और प्राप्त्यर्थक तीनों अर्थों में प्रयुक्त होती है । यहाँ गम शब्द ज्ञानार्थक है । अंशभेद से, अन्य धर्म के अभेद से वस्तु का निरूपण-ज्ञान कराने वाला वाक्य ‘गम’ कहलाता है तथा ‘भंग’ सप्तभंगी-स्याद्वाद-मय वाक्य जो स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति इत्यादि सात प्रकार के होते हैं तथा निक्षेप—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव रूप वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराने वाला प्रकार है, इन सब के अनेक

प्रवाहिमय-अनेक भांति के वस्तु धर्म से, उपचार धर्म से, कारण धर्म से प्रभु स्वरूप का उपदेश करते हैं। पुनः वे हेय धर्म के नय, निक्षेप, भंग हेय रूप से, उपादेय धर्म के नय, निक्षेप, भंग उपादेय रूप से प्ररूपित करते हैं। ऐसी श्री कुन्थुनाथ भगवान की देशना है। पुनः एक द्रव्य में अनन्त गुण, अनन्त पर्याय और अनन्त स्वभाव हैं, इनका उपदेश करते हैं। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि गुण पर्याय पर आवरण आता है, स्वभाव पर नहीं, अस्तित्व एवं नित्यत्वादि के विशेष स्वभाव विकृत होते हैं, किन्तु सामान्य स्वभाव नहीं। प्रभु सर्व धर्म का, नय का, भंग और निक्षेप सहित उपदेश करते हैं, बताते हैं।

कुन्थुनाथ प्रभु देशना रे,
साधन साधक सिद्ध।
गौण मुख्यता वचन मां रे,
ज्ञान ते सकल समृद्ध रे ॥कु०४॥

अर्थ—पुनः प्रभु की देशना/वाणी की विशेषता का वर्णन करते हैं। श्री कुन्थुनाथ प्रभु की देशना ऐसी है कि उसमें साधन रत्नत्रयी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य की पूर्णता-आत्मा से अभेदता स्वरूप बताने के लिए जिनमुद्रा, दर्शन, पूजन, वन्दन, सेवन, मुनिजनों की वन्दना, उपासना, अनुकम्पा, संयम, तपादि से लेकर शुक्ल-ध्यान पर्यन्त साधना का प्रतिपादन करते हैं। मार्गानुसारी से लेकर क्षोण मोह नामक बारहवें गुणस्थान तक अपवाद और उत्सर्ग से अयोगी गुणस्थानवर्ती साधक जीव कहे जाते हैं। इनका तारतम्य (कमी-अधिकता) कहते हैं। प्रथम मार्गानुसारी साधक है। वह सम्यक्त्व की साधना करता है। सम्यक्त्वधारी जीव विरति की ओर, विरति से शुक्ल ध्यान की ओर, शुक्लध्यान से क्षायिक गुणों की ओर तथा क्षायिक गुणी सिद्धि की साधना करता है। यह साधक का क्रम है। इन सर्व का वर्णन प्रभु की देशना में होता है तथा सिद्धत्व-सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होकर आत्मा की शुद्ध निरावरण अवस्था का वर्णन भी आपकी देशना में है। प्रभु के वचन गौणता, मुख्यता अर्थात् वस्तु के अनन्त गौण धर्म हैं उन्हें न कहकर वचन ग्राह्य धर्म को मुख्यता से कहते हैं। सारांश यह है कि वस्तु में अनन्त धर्म हैं और वे एक समय में परिणत होते हैं,

उन्हें जिनेन्द्र भगवान एक समय में जानते हैं, किन्तु वचन द्वारा जो धर्म मुख्यता से कहे जायें उन्हें मुख्यता से कहते हैं और अन्य सब को गौण रूप से जानते हैं। इस प्रकार वचन में गौणता और मुख्यता है। कुन्थुनाथ भगवान ज्ञान-केवलज्ञान से समस्त पदार्थों के ज्ञान रूप समृद्धि से सम्पन्न हैं। अर्थात् प्रभु का ज्ञान ऐसा नहीं कि अभी इतना जाना है, आगे इतना और जानेंगे। सकल भावों को वे एक समय में ही जानते हैं, अतः ज्ञान में गौणता नहीं होती है। हां, वचन प्रवृत्ति तो क्रम से होती है; क्योंकि एक शब्द कहने के पश्चात् दूसरा शब्द कहा जाता है। इस कारण वचन में गौणता मुख्यता है।

वस्तु अनन्त स्वभाव छे रे,
अनन्त कथक तसु नाम ।
ग्राहक अवसर बोध थी रे,
कहवे अपित काम रे ॥कु०५॥

अर्थ—वस्तु अर्थात् जीवादि पदार्थ द्रव्य अनन्त स्वभावमय हैं, सर्व वस्तु अनन्तता युक्त है तथा वस्तु जीव कथन से उसके अनन्तधर्मों का और अजीव कहने से पुद्गलादि के अनन्तधर्मों का भी ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार सर्व वस्तु में समझना चाहिये। अतः वस्तु का नाम वस्तु के सर्व धर्मों का ग्राहक है। इसी कारण नाम निक्षेप में संग्रह और व्यवहार नय ये दोनों नय मुख्य हैं। और नैगम (कारण) गौण है, यह रीति है। परन्तु तीर्थंकर भगवान 'ग्राहक अवसर बोध थी' ग्राहक-श्रोतागण के अवसर-प्रसंगानुसार और बोध-श्रोता की जितनी बुद्धि जानने की है उसके योग्य वैसा ही वचन में अपित कर-वाणी में संजोकर कहते हैं। अर्थात् ज्ञानी महाप्रभु तो एक समय में सर्व जानते हैं, किन्तु उपदेश के समय में केवली भगवान जैसे श्रोता हों, उनकी ग्रहण शक्ति के अनुसार उतना ही कहते हैं। अतः देशना देने में अपित नय आगे करके अर्थात् उस अपेक्षा से कहते हैं। अपित-अनपित का स्वरूप तत्त्वार्थ सूत्र में इस प्रकार बताया है "अनेकधर्मा च धर्मो तत्र प्रयोजन वशात् कदाचिद् कश्चिद् धर्मो वचनेन अपितेविवक्षिते तदपिते सन्नपि वचनविवक्षिते प्रयोजनाभावात् तदनपितमिति ।"

अर्थ—धर्मी पदार्थ के अनेक धर्म हैं जिसको जिस धर्म के कहने का प्रसंग/प्रयोजन उत्पन्न हो, उस समय उस धर्म को वचन में अर्पित करें, अर्थात् विवक्षा करके ग्रहण करें उसे अर्पित कहते हैं। जो धर्म सत् है, विद्यमान है, परन्तु प्रयोजन बिना उसकी गवेषणा न करे, यद्यपि वह श्रद्धा में अपेक्षित है, उसे अनर्पित कहते हैं। छद्मस्थ का ज्ञान बोलना अर्पित अनर्पित दोनों के मिलने पर ही शुद्ध होता है। और, केवली भगवान का समग्र ज्ञान तो एक समयवर्ती है, परन्तु वचन अर्पित-अनर्पित मिलने से शुद्ध है।

शेष अनर्पित धर्म ने रे,
सापेक्ष श्रद्धा बोध ।
भय रहित भासन होवे रे,
प्रगटे केवल बोध ॥कु०॥६॥

अर्थ—जो वचन बोलने में शेष रहे वे अनर्पित धर्म थे। उन पर सापेक्ष श्रद्धा रखना, बोध-ज्ञान भी रखना, यह छद्मस्थ अर्थात् सम्यक्त्वी देशविरति, सर्वविरति, क्षीण मोही पर्यन्त के लिये है, ऐसा जानना चाहिये। और, उभय अर्पित-अनर्पित दोनों से रहित जो भासन-ज्ञान होता है वह बोध-केवली भगवान का ज्ञान है, जो समग्र का सम-काल में ज्ञाता है। इस कारण केवलज्ञान में अर्पितत्व-अनर्पितत्व नहीं है। वचनों में अर्पितत्व-अनर्पितत्व है, किन्तु ज्ञान में नहीं है।

छति परिणहि गुण वर्तना रे,
भासन भोग आनन्द ।
समकाले प्रभु ताहरे रे
रम्य रमण गुणवृन्दों रे, ॥कु० ७॥

अर्थ—हे प्रभु! आप में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुख, अरूपता आदि अनन्त गुण रूप धर्म की सत्ता है तथा अनन्त पर्यायों की भी सत्ता

है। और, वैसे ही स्वभाव गुण पर्याय की परिणति-पारिणामिकता द्रव्य में परिणमन होना अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप तथा षड् गुण हानि-वृद्धि रूप परिणत होती है। वही ज्ञानादि गुण पर्याय की वर्तना अर्थात् स्व-स्वकार्य का कर्तृत्व ज्ञान से जानना, दर्शन से देखना, चारित्र से रमण करना, भोक्ता रूप से भोगना, इस प्रकार सर्व गुण स्व-स्ववर्तना से वर्तते हुए स्व-स्व कार्य करते हैं, उसे वर्तना कहते हैं। हे प्रभो ! ये सब आप में है, उन अनन्त गुणों के भोग का आनन्द आपके है अर्थात् अनन्त गुण पर्याय की सत्ता, परिणति, वर्तना, भासन, भोग और आनन्द ये सब समकाल में ही अर्थात् एक समय में परिणमन होते हैं, अतः आप ऐसे अनन्त परमानन्द के भोगी हैं, महासुखी हैं। पुनः हे प्रभो ! हे सर्वज्ञ ! हे सर्वानन्दमय ! हे नाथ ! हे शुद्ध उपकारिन् ! आपके रम्य-रमण करने योग्य अनन्त आत्म स्वरूप में रमण करने रूप गुणवृन्द है अर्थात् गुणों का समूह/राशि है।

निज भावें सिय अस्तिता रे,

पर नास्तित्व स्वभाव ।

अस्ति पणो ते नास्तिता रे,

सिय ते उभय स्वभाव ॥कु०॥८॥

अर्थ—अब सप्त भंगी रूप से प्रभुता का वर्णन करते हैं। यहाँ कोई विद्वान् सप्तभंगी मात्र पर्यायास्तिक नय से ही कहते हैं, किन्तु वह वस्तुतः घटती नहीं हैं। वस्तु मात्र द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक दोनों नययुक्त हैं, इनमें स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य ये तीन भंग सकला देशी हैं, अतः द्रव्यास्तिक वाले हैं। जैसाकि तत्त्वार्थ टीका में उल्लेख है—“एवं एते नया सकलादेशा भाष्यानुसारिणः, एवं संग्रह-व्यवहारानुसारेण आत्मद्रव्ये विकलादेशश्चत्वारः पर्यायाः नयाश्रयाः इति।” इस प्रकार ये तीन सकलादेश भाष्यानुसार हैं और ऐसे ही संग्रह व्यवहारानुसारी आत्मद्रव्य में चार विकलादेश पर्याय नय आश्रय वाले हैं अर्थात् शेष चार विकला देशी हैं। इसका परमार्थ ऐसे है कि स्यादस्ति इस भंग में सर्व अस्तित्व अर्पित है। दूसरा नास्तित्व धर्म और अवक्तव्य धर्म वह

स्याद् रूपत्व में आ जाता है। अर्थात् स्यादस्ति कहने से सम्पूर्ण द्रव्य का ग्रहण होता है। और, १. स्यादस्ति नास्ति, २. स्यादस्ति अवक्तव्य ३. स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य ४. स्यादस्ति नास्ति युगपत् अवक्तव्य ये चार भंग वस्तु के अंश अर्थात् पर्याय को ग्रहण करते हैं। सारांश यह है कि प्रथम स्यादस्ति नास्ति यह चतुर्थ. भंग है इसमें अवक्तव्य धर्म नहीं आया। कोई ऐसा कहे कि स्यात् पद से अवक्तव्य धर्म ग्रहण कर लेगा? उत्तर यह है कि, स्यात् पद अस्ति तथा नास्ति धर्म की अनेकान्तता का ग्राहक है, अवक्तव्य का ग्राहक नहीं। स्यादस्ति अवक्तव्य यह पांचवा भंग है। इसमें वस्तु का अस्तिधर्म एकसमयी है, उसे वचन से कहने में या उपयोग में लाते हुए असंख्यात समय लगता है, अतः यह अस्तित्व अनेकान्त रूप से है, किन्तु वचन गोचर नहीं। ऐसे ही 'नास्ति अवक्तव्य' यह छठा भंग भी समझना चाहिये। स्यादस्ति नास्ति युगपत् अवक्तव्य इस भंग में स्याद् अर्थात् अनेकान्त से अस्ति कहते हुए असंख्य समय लगते हैं और नास्ति कहते हुए भी असंख्य समय लग जाते हैं, अतः अवक्तव्य हैं, सयुक्त हैं, किन्तु जिस रीति से वस्तु में इनका परिणमन होता है उस रीति से कहे नहीं जा सकते। इस कारण इन चार भंगों में समग्र धर्मों का ग्राहक नहीं होने से ये चार भंग विकलादेशी हैं, सकलादेशी नहीं। अब इन सात भंगों का आत्मा पर अवतरण करते हैं।

१. स्यादस्ति—यह आत्मा वर्तमान समय में ज्ञान, दर्शनादि स्वपर्याय की परिणति रूप से अस्ति है, अर्थात् अतीत पर्याय विनष्ट है और अनागत है, अतः वर्तमान पर्याय का ग्रहण किया गया है। यहाँ स्यात् पद नास्ति अवक्तव्य धर्म की अनर्पितता का द्योतक है इस प्रकार स्यादस्ति यह प्रथम भंग हुआ।

२. स्यादनास्ति—स्यात्—कथञ्चित् रूप से गति, स्थिति, अवगाहोपकारी, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा वर्णादि पुद्गल ये सर्व अचेतन, अजीव, पर-द्रव्य धर्म और स्वयं के अतीत अनागत पर्याय साम्प्रत में वर्तन रूप में नहीं हैं। यह नास्ति भंग द्रव्य रूप से अर्थात् आत्मा को आत्मा रूप से स्थित रखता है, अन्यथा किसी भी समय जीव अजीव बन सकता है।

३. अवक्तव्य —अस्ति धर्म भी वचन-अगोचर है और नास्ति धर्म भी वचन-अगोचर है, क्योंकि वचन गोचर धर्म से वचन अगोचर धर्म अनन्त गुणा है, अतः स्यात् कथञ्चित् रूप से द्रव्य में अवक्तव्यता है अर्थात् उपर्युक्त दोनों नय युगपत् अर्पण करते हुए सब पदार्थ अवक्तव्य रूप हैं। ये तीन भंग सकलादेशी हैं। इन्हे द्रव्यास्तिक नय रूप से जानना चाहिये। इन तीन भंगों में संग्रह और व्यवहार नय की प्रवृत्ति है।

४ स्यादस्ति नास्ति :—यह समुच्चयाश्रयी स्वद्रव्यार्थ पर्यायार्थ के अस्तित्व रूप से तथा इन्हें ही स्व-द्रव्यार्थ पर्यायार्थ को भिन्न उपयोग रूप होने से अतीत अनागत पारिणामिक रूप से नास्तित्व कहा है। इन दोनों धर्मों ने स्वयं की गवेषणा की हैं।

५. स्यादस्ति अवक्तव्य :—जो विवक्षित वचन गोचर द्रव्यार्थ मुख्य आत्मधर्म की अपेक्षा से अस्ति है उसी आत्म द्रव्य का सामान्य-विशेष द्रव्य की भिन्न प्रवृत्ति रूप धर्म समकाल में अंगीकार करना स्यादस्ति अवक्तव्य भंग है, किन्तु कहा नहीं जा सकता।

६. स्याद् नास्ति अवक्तव्य :—यह भी पंचम भंग के समान ही है, इसमें अस्ति के स्थान पर नास्ति लगा देना चाहिये। यह पर्याय की सूक्ष्मता और अनन्तता की अपेक्षा कहा गया है।

७. स्यादस्ति नास्ति युगपत् अवक्तव्य :—यह किसी द्रव्यार्थ विषय की अपेक्षा से अस्ति पर्याय विशेष सम्बन्धी जो नास्तित्व है, वही स्वदेश में भिन्न रूप से अवक्तव्य है। ये सर्व पर्याय हैं जो युगपत् एक साथ नहीं कहे जा सकते।

यह सप्तभंगी नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, आदि धर्मों की तथा ज्ञान दर्शनादि गुणों की भी होती है। यह इस प्रकार बनती है।

ज्ञान जो है उसकी अस्ति, ज्ञायक, परिच्छेदक आदि की स्व-पर्याय में अस्ति है, दर्शन चारित्र्यादि स्वद्रव्य पर्यायों में और जडत्वादि पर पर्यायों में वही ज्ञान नास्ति रूप से है। इस प्रकार अनन्त गुणों की

अनन्त सप्तभंगी हो सकती हैं, उनको बुद्धिशाली जन बना सकते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र वृत्ति और सन्मति-वृत्ति में भी इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। स्याद्वादरत्नाकर में तो इनका स्वरूप, प्रवृत्ति, परिणति, नय आदि सबकी व्याख्या की गई है। जिज्ञासु जन इनका विस्तार उन शास्त्रों में देखें। अब गाथा का अर्थ कहते हैं।

निज स्वभावें-भाव में, स्व आत्म, द्रव्य, क्षेत्र, काल, स्वभाव की सिय-स्यात्/कथंचित् रूप से अस्तित्व और उसी आत्म द्रव्य में पर क्षेत्र काल भाव की नास्तित्व-नास्तित्व है। वह नास्तित्व धर्म भी आपकी आत्मा में सत्ता रूप से विद्यमान है। सिय-स्यात्/कथंचित् रूप से दोनों का अस्तित्व और नास्तित्व का अवक्तव्य स्वभाव अर्थात् आदिम और अन्तिम भंग को कह देने से मध्य के पांच भंगों का भी ग्रहण हो जाता है। हे प्रभो ! ऐसी स्याद्वाद परिणति को आपने प्रत्यक्ष केवलज्ञान द्वारा जानकर उपदेश किया है। ऐसी आपकी वाणी है। वस्तुतः अरिहन्त भगवान् का उपदेश शुद्ध, अनन्तता, अनेकता सत्त्वता, साधकता, युक्त ही होता है।

अस्तित्व स्वभाव जे आपणो रे,

रुचि वैराग्य समेत ।

प्रभु सन्मुख वन्दन करी रे,

मांगीश आत्म हेत रे ॥कु०६॥

अर्थ —अब स्वयं का मनोरथ कहते हैं कि ऐसा अस्तित्व स्वभाव अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, अव्याबाध, पूर्णानन्दता, रूप आपणो-मेरा अपना है जो मेरा सत्तागत, स्याद्वादमय है उसे उपयोग से ज्ञान-दर्शन से ग्रहण किया जाता है। उसकी रुचि-पाने की इच्छा करके वैराग्य-संसार से उदासीनता के भाव अर्थात् यह संसारी भाव विभावों की उपाधि मेरे योग्य नहीं है, उसका सर्वथा त्याग कब करूंगा, ? उसे विष-भक्षण और तप्तलोहपदघृति अर्थात् तपे हुए लोहे के पात्र पर पांव रखने के समान जानकर कब उससे विरक्त होऊंगा ? अतः मैं मोक्षा-भिलाषी और केवलज्ञान के आनन्द की इच्छा वाला होकर, आपके सम्मुख खड़ा होकर, वन्दना कर अपने आत्महित के लिए आपसे मांगता हूँ कि

हे तारक ! हे प्रभो ! मुझे तारिये ! मुझे तारिये ! भव भ्रमण से मुझे उबार लीजिये । जगत् के ये जन्म-मरणादि दुःख अब मुझसे सहन नहीं होते । मेरा अनन्त स्वाधीन आनन्द पराधीन हो गया है और मैं पुद्गल-ग्राही बना हुआ हूँ, अतः तत्त्व-प्रात्मतत्त्व को भोगता हुआ भी उस आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता । औदयिक भाव रूप अशुद्ध पर्याय की श्रेणी में पड़ा हुआ हूँ, और अब हे वीतराग प्रभु ! आपकी शरण में आया हूँ, अतः मुझे अपने अस्ति-स्वभाव की अभिव्यक्ति हो, ऐसा आत्मा का हितकारी सम्यक्त्व युक्त चारित्र्य का प्रसाद प्रदान करें । यही मांगता हूँ अथवा ऐसा मांगीश-मांगूगा, याचना करूंगा । ऐसी भावना करनी चाहिये । वही धन्य है जब सेवक की ऐसी भावना होगी और वह प्रभु से आत्महित की याचना करेगा ।

अस्ति स्वभाव रुचि थई रे,

ध्यातो अस्ति स्वभाव ।

देवचन्द पद ते लहे रे

परमानन्द जमाव रे ॥कु० १०॥

अर्थ :—अतएव अहो भव्य-जीवों ! यदि आप सब सुख के अभिलाषी हैं तो सत्तागत आत्मा में रहे हुए अस्तिस्वभाव की अनन्तता का ध्यान करते हुए 'देवचन्द्र' सर्व देवों में चन्द्र-श्रेष्ठ श्री वीतराग सिद्ध परमात्मा का पदस्थान/सिद्धशिला पर अशरीरता, निर्मलानन्दता, निःसंगता रूप परमानन्द, स्वाधीन और आत्यन्तिक सुख का जहाँ जमाव-सधनता है, मात्र आनन्द ही है, ऐसा पद लहें-प्राप्त करें, इसलिए आप तत्त्व स्वरूपी शुद्धात्मस्वरूप-अरूपी रूपरहित (क्योंकि रूपादि पुद्गल के होते हैं ।) ज्ञानस्वरूपी श्री कुन्थुनाथ भगवान के चरणों की सेवा करो, आज्ञा-पालन करो । हे बन्धुओं ! यही परम सुख का हेतु है ।

१८. श्री अरनाथ जिनेन्द्र स्तवन

(राग— रामचन्द्र के बाग चम्पो मोरी रह्यो री)

अब अठाहरवें भगवान श्री अरनाथ जिनेन्द्र की स्तवना में कार्य
कारणता का वर्णन करते हैं ।

प्रणमो श्री अरनाथ,

शिवपुर साथ खरो री ।

त्रिभुवन जन आधार,

भव निस्तार करो री ॥१॥

अर्थ :—श्री अरनाथ स्वामी-को प्रणमो बारम्बार उत्कृष्टभाव से नमस्कार करो । यही त्रीतराग अमोही परमेश्वर नमस्कार करने योग्य हैं । शिवपुर शिव-निरूपद्रव सिद्ध जीवों का पुर-नगर में पहुंचाने का-खरो-सच्चा साथ है । इससे श्री अर्हन्त भगवान को सार्थवाह की उपमा दी गई है । जो निःस्वार्थ भाव से भव्यजनों को भवारण्य में से पार कर मोक्षनगर में परमानन्द रूप से पहुंचा देते हैं । इस प्रकार के कारण रूप श्री अरनाथ अर्हन्त हैं । वे 'त्रिभुवन' तीन भुवन-स्वर्ग मृत्यु पाताल में रहने वाले सभी प्राणियों के आधार स्वरूप हैं । मिथ्यात्व, असंयम कषायादि से पीड़ितजनों के लिए आधार-अवष्टम्भ रूप हैं तथा चार गति रूप भव-संसार से द्रव्य और भाव से अर्थात् आधि व्याधि रूप बाह्य और भाव-कर्म रूप-जन्म मरण रूप से निस्तार करने वाले हैं ।

कर्त्ता कारण योग, कारज सिद्धि लहे री ।

कारण चार अनूप, कार्यार्थी तेह ग्रहे री ॥२॥

अर्थ :—अब मुक्ति रूपी कार्य सिद्ध करने के लिए कारण एवं कार्य की नीति कहते हैं । सभी कार्य कर्त्ता द्वारा किये जाने पर होते हैं । कार्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और उनके कर्त्ता भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं । कार्य से कर्त्ता भिन्न होता है । जैसे, घट कार्य का कर्त्ता कुम्भकार घट से भिन्न होता है । और, अभिन्न कार्य का कर्त्ता भी अभिन्न होता है । जैसे, ज्ञान का कर्त्ता आत्मा ज्ञान से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार पूर्ण सिद्धत्व का कर्त्ता आत्मा भी सिद्धत्व कार्य से भिन्न नहीं होता है, किन्तु जब कर्त्ता आत्मा को सिद्धत्व कार्य करने की सामग्री मिले तब सिद्धत्व कार्य करता है । अर्थात् एकाकी कर्त्ता कार्य सामग्री बिना कार्य नहीं कर सकता । कारण सामग्री मिलने पर ही कार्य कर सकता है । कारण के चार भेद हैं — १. उपादान, २. असाधारण, ३. निमित्त, ४. अपेक्षा । जो कार्यार्थी हो, वह चार कारण ग्रहण करे । बहुत से शास्त्रों में तो कारण के दो ही भेद कहे हैं— उपादान और निमित्त । विशेषावश्यक में १ समवायी, २. असमवायी ये दो कारण कहे हैं तथा आप्तमीमांसा में ३. कारण कहे हैं — १. समवायी, २. असमवायी, ३. निमित्त । इनमें समवायी, को उपादान कारण और असमवायी को असाधारण कारण कहते हैं । निमित्त कारण के दो भेद हैं — १. निमित्त कारण, २. अपेक्षा कारण । तत्त्वार्थसूत्र में अपेक्षा कारण पहले कहा है । यथा—घटस्योत्पत्तावपेक्षाकारणव्योमादि अपेक्षते” घट की उत्पत्ति में अपेक्षित व्योम—आकाशादि की अपेक्षा होती है, अतः अपेक्षा निमित्त से पूर्व है । यद्यपि दो कारण में ही चारों का अन्तर्भाव हो जाता है । तथापि विस्तार रुचि वालों के लिए चार कारण कहे हैं । इससे बुद्धि में भिन्नता के रूप समझ में आ जाते हैं अर्थात् ज्ञान की वृद्धि होती है । इन चारों कारणों को जब कार्य रुचि वाला कर्त्ता ग्रहण करता है और चारों की प्रवृत्ति करता है, तब ये कारण हैं । अन्यथा कर्त्ता के प्रयोजन बिना ये कारण नहीं बनते, यह सारांश है ।

जे कारण ते कार्य, थाये पूर्ण पदे री ।

उपादान ते हेतु, माटी घट ते वदे री ॥३॥

अर्थ —अब प्रथम उपादान कारण का स्वरूप बताते हैं। जो कर्त्ता के कार्य के सन्मुख हो अर्थात् कर्त्ता जिसे कार्य रूप देने की इच्छा करे वही पूर्ण वदे-पूर्णता के समय कार्य रूप बनता है। उसे ही उपादान हेतु/कारण कहते हैं। महाभाष्य (विशेषावश्यक) में कहा है :—

“तद्द्वयं कारणं तंतवो पटस्सेह जेण तम्मयया ।

विवरीयमन्नकारणमिट्ठं वेमादओ तस्स ॥२१००॥”

अर्थ :—जिस वस्तुमय कार्य दिखता है वही उपादान कारण है। जैसे, पट के कारण तन्तु हैं, क्योंकि पट तन्तुओं से बनता है। अन्य कारण जो पट रूप नहीं बन सकते, वे विपरीत हैं। वे अन्य वस्तु के हो सकते हैं या निमित्त हो सकते हैं। जैसे वेमादि पट बनाने के साधन हैं।

इस गाथा की व्याख्या में “यदात्मकं कार्यं दृश्यते तदिह तद् द्रव्य-कारणं, उपादानकारणं यथा तन्तवः पटस्य इति ।” जिस वस्तुमय कार्य दिखता है, यहाँ वही द्रव्य-कारण उपादान कारण है, जैसे तन्तु पट के कारण हैं। कर्त्ता के प्रयोग से तन्तु पट बनते हैं। यहाँ तन्तु उपादान कारण है। ऐसे पट घट रूप कार्य के लिए मिट्टी उपादान कारण है। यहाँ कारण ही कार्यरूप को प्राप्त हो गया। यहाँ कारण-कार्य की एक-समय रूप व्याख्या है, वह भी उपादान कारण की है। ऐसा महाभाष्य के मति ज्ञानाधिकारगत जमालि निन्हव के अधिकार में कहा है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि आप कारण को ही कार्य रूप कहते हैं तो कारण-कार्य की एकता हो जायेगी। उत्तर-अभिधान फल, लक्षण, संख्या, संस्थानादि का भेद है। इससे दोनों भिन्न हैं। जैसे पहले मिट्टी नाम था, फिर वही घट बन गया। घट नाम हो गया। मिट्टी मृदुता रूप थी, द्रव्यता धर्मवान थी, घट बनके जलधारण धर्मवान बन गयी, अतः दोनों में भिन्नता है। ऐसे ही फल, लक्षण, संख्या, संस्थान, आदि की भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित होती है। अतः उपादान कारण कार्य रूप परिणत होता है। ऐसा उपादान कारण का स्वरूप है।

उपादान थी भिन्न, ते विण कार्य न थाये ।
न हुवे कारण रूप, कर्त्ता ने व्यवसाये ॥४॥

कारण तेह निमित्त, चक्रादिक घट भावें ।
कार्य तथा समवाय, कारण नियत ने दावे ॥५॥

अर्थ —अब निमित्त कारण का लक्षण कहते हैं—जो कारण उपादान से भिन्न है और उस कारण के बिना कार्य नहीं होता । उसमें जो कारणत्व है, वह कर्त्ता के व्यवसाय-उद्यम पर निर्भर है । उसे निमित्त कारण कहते हैं । जैसे घट रूप कार्य के लिए चक्र, चीवर, डोरा, धागा, दण्डादि निमित्त कारण है और मृत्तिका का उपादान कारण है । उस उपादान कारण से चक्र चीवरादि सर्व भिन्न हैं और इन निमित्तों के बिना मिट्टी से घटरूप कार्य नहीं हो सकता । वैसे ही चक्रादि कदापि घट कार्य रूप नहीं बनते और चक्रादि को जब कर्त्ता-कुम्भकार घट निर्माण रूप कार्य में प्रयुक्त करें तब चक्रादि कारण रूप बनते हैं, नहीं तो वे कारण रूप नहीं होते । वह भी समवायी कारण उपादान कारण को कार्य रूप में करता हो, उस समय जो उपकरण काम में लेता है, वे सब निमित्त कारण कहलाते हैं । जब कर्त्ता कार्य न करता हो, तब वे कारण नहीं कहलाते । निमित्त कारण का यही स्वरूप है । जो अप्रयुक्त काल में दण्डादि को कारण कहते हैं वह तो आरोप मात्र है । उसे नैगम नय की अपेक्षा से जानना चाहिये । परन्तु, वास्तव में है नहीं । अतः कार्य का कर्त्ता उपादान कारण को कार्य रूप देता हुआ उसमें जिन उपकरणों से कार्य करता है वे-वे उपकरण निमित्त कारण हैं । जो जिस कार्य के लिए बनाने में नियत नियामकता वाले हैं वे सर्व निमित्त जानने चाहिये । घट कार्य में चक्रादि और पट कार्य में तुरी व्योमादि निमित्त कारण हैं । सर्वत्र ऐसा समझना चाहिये ।

वस्तु अभेद स्वरूप, कार्य पणुं न ग्रहे री ।
ते असाधारण हेतु, कुम्भे थास लहे री ॥६॥

अर्थ—अब असाधारण कारण का स्वरूप बताते हैं। यह वस्तु अर्थात् उपादान कारण से अभेद स्वरूप है। और कार्य का रूप नहीं लेता, अर्थात् कार्य हो जाने पर नहीं रहता, जैसे घट बन जाने पर उसमें मृत्तिका तो रहती है पर वह उसी रूप में नहीं, घट रूप ले लेती है, किन्तु मृत्तिका तो है ही। जो मृत्तिका रूप तो रहे पर आकार नाम आदि वे न रहकर उनमें परिवर्तन हो जाता है वह असाधारण कारण है। जैसे घट रूप कार्य में मृद के स्थास-कोश कुसूलाकार बन जाते हैं वे मृत्पिण्ड, उपादान कारण से अभेद हैं, किन्तु घट रूप कार्य सिद्ध हो जाने पर वे नहीं रहते। अतः ये सब असाधारण कार्य हैं। कहा है—“प्रमाणनिश्चयेन उपादानस्य कार्यत्वाऽप्राप्तस्य अवान्तरावस्था असाधारणम्।” प्रमाण निश्चय से उपादान कार्य को अप्राप्त अवान्तर अवस्था असाधारण कारण है।

जेहनो नवि व्यापार, भिन्न नियत बहुभावी ।

भूमि काल आकाश, घट कारण सद्भावी ॥७॥

अर्थ—अब अपेक्षा कारण का वर्णन करते हैं। जिस कारण का व्यापार-प्रवर्तन नहीं, तथा कर्त्ता को भी उसे प्राप्त करने का प्रयास नहीं करना पड़ता और जो कार्य से भिन्न है, नियत-नियमा निश्चय से उसकी आवश्यकता है, 'बहुभावी' अन्य बहुत से अनेक कार्यों में भावी-अनिवार्य है, आवश्यक है, अतएव कारण है और उसे ही अपेक्षा कारण कहते हैं। भूमि-पृथ्वी काल-समय और आकाश, इनके बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता। इनमें भूमि जैसे घटादि का कारण है वैसे ही अन्य कार्यों में भी कारण है। घट का कारणत्व तो भूमि में स्पष्ट दिखता है, परन्तु अन्य में वैसा न होने पर भी पृथ्वी बिना कोई आधार रूप अन्य वस्तु नहीं है, इसी पर सारे कार्य होते हैं। ऐसे ही काल और आकाश भी जानने चाहिये, यह अपेक्षित अबश्य है, पर जो कार्य उपादान और निमित्त व्यापार से होता है वैसा इस अपेक्षा कारण का व्यापार कर्त्ता नहीं करता, ये स्वतः ही हैं।

एह अपेक्षा हेतु, आगम माँहि कह्यो री ।

कारण पद उत्पन्न, कार्य थये न लह्यो री ॥८॥

अर्थ :—आगम में इसे अपेक्षा हेतु कहा गया है । तत्त्वार्थसूत्रादि में भी इसका उल्लेख है —“यथा घटस्योत्पत्तौ अपेक्षा कारणं व्योमः न अपेक्षते तेन बिना तद्भावाभावात् निर्व्यापारमपेक्षाकारणम् ।” इति तत्त्वार्थवृत्तौ । अर्थात् जैसे घट की उत्पत्ति में अपेक्षा कारण, व्योम-आकाशादि अपेक्षित हैं । इनके बिना संसार का ही अभाव हो जाता है । निर्व्यापार भी अपेक्षा कारण है । तथा विशेषावश्यकैर्विज्ञानाधिकारे—“द्वारभूतशिलातलादि, द्रव्यानुत्पद्यमानस्यावधिः सहकारकारणानि भवन्ति, अत्र सहकारकारणं गवेष्यम् ।” अर्थात् द्वारभूत शिलातलादि द्वार न बनने तक सहकार कारण होते हैं । यहाँ सहकार कारण की गवेषणा करनी चाहिये । यह सहकार कारण नामक जो चतुर्थ कारण है उसे उपर्युक्त रीति से समझना चाहिये । ये चार कारण बतलाये । अब कारण पद अर्थात् जिनमें कारणत्व तो है पर मूल धर्म नहीं है और उत्पन्न किया जाता है तथा जब कर्त्ता काय का अर्थ—इच्छुक हूँ कर उपकरणों तथा मूल पिण्ड को उस कार्य के करने में लगावे प्रवृत्ति करे तब वे उस कार्य के कारण हैं । जैसे, काष्ठ है, उसमें दण्डादि अनेक रूप बनने की सत्ता (योग्यता) है, किन्तु कोई कर्त्ता उससे दण्ड रूप कार्य करता है, कोई पुतली बताता है, इत्यादि । उन दण्डादि का प्रयोग भिन्न-भिन्न कार्यों में होता है । कोई दण्ड से घट निर्माण करता है और उसी दण्ड से घट का ध्वस भी कर सकता है । अतः उपकरणों का कारणत्व कर्त्ता के आधीन है । विशेषावश्यक में कहा है—“ये कारकास्ते कर्त्तुराधीना इति कारणं कार्योत्पादकं तेन कार्योत्पत्तौ कारणत्वं न च कार्याकरणे ।” अर्थात् जो कारक उपकरणादि हैं वे कर्त्ता के आधीन हैं । अतः कारण का कार्योत्पत्ति करते हुए ही कारणत्व प्राप्त है । कार्य नहीं करते समय उनमें कारणत्व नहीं होता । अतः कारणत्व कर्त्ता द्वारा उत्पन्न किया जाता है । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि, किसी वस्तु में कार्य का कारणत्व तो विद्यमान है, उसे कर्त्ता के आधीन क्यों कहते हैं । उत्तर—उस कारण में जिस विवक्षित कार्य की कारणता उत्पन्न है अथवा जिस समय कर्त्ता द्वारा उत्पन्न की गई है, वह कारणता कर्त्ता के प्रयोग पर निर्भर है । उस कारण में कार्य-शक्ति कर्त्ता द्वारा ही उत्पन्न की जाती है, कार्य समाप्त होने पर उसमें कारणता नहीं मिलती है । जैसे, कोई अनादि मिथ्यात्वी जीव यद्यपि भव्यत्व की सत्ता वाला है और वैसे ही कोई अभव्यत्व की सत्ता वाला है, किन्तु दोनों के उपादान में सिद्धता के कार्य का उत्पादन

करने वाला नहीं है। अतः सिद्धता कार्य उनमें उत्पन्न नहीं होता है। जब भव्य सत्ता वाले जीव उपादान-अग्रिहन्तादि निमित्त पाकर कारणता रूप परिणामन होने पर वह सिद्धता रूप कार्य करता है, फलतः वह सिद्धता रूप कार्य उत्पन्न हुआ। और, कार्य सिद्ध होने पर वे निमित्त रूप नहीं रहते। जो सिद्धता में साधकता की सत्ता मानें तो सिद्धावस्था में साधकता है ही नहीं। अतः कार्योत्पत्ति के बाद कारणता नहीं रहती और घट कार्य में निमित्त रूप दण्डादि हैं, वे भी भिन्न कार्य के व्यवसाय में कारणता कर तो भिन्न कार्य करते हैं, किन्तु घट की कारणता उस समय उसमें नहीं रहती, ऐसी धारणा रखनी चाहिये।

कर्त्ता आत्मद्रव्य, कार्य सिद्धि पणो री।

निज सत्तागत धर्म, उपादान गणो री ॥६॥

अर्थ :—अब सिद्धता रूप कार्य के चार कारण बताते हैं। जो सिद्धता रूप कार्य है, वह आत्मा से अभेद स्वरूप है। इसका कर्त्ता आत्मद्रव्य स्वयं है और सिद्धत्व आत्मा का कार्य है, जो आत्मा सिद्धता को परमानन्द रूप से जान ले। यही रूप जानना मेरा भी कर्त्तव्य है। इस कार्य की रुचि जिना मैंने अनन्त काल संसार में भ्रमण किया है, स्वरूप को भ्रष्ट कर दिया है। मैं महामोह से ग्रसित हो रहा हूँ। अब मैंने अपने मूल धर्म ज्ञानादि स्वभाव को श्रद्धा भासन गोचर किया है, अतः यह सिद्धता कार्य करना है। ऐसा निर्धार-निश्चय करके तदनुगत चेतना वीर्य शक्ति करके पुरुषार्थ द्वारा स्वरूप-कार्य सिद्धता के कार्य की सिद्धि करता है। वह इस रीति से होता है कि, प्रथम तो अंश रूप कार्य होता है, फिर उत्तरोत्तर गुण वृद्धि होने पर सम्पूर्ण कर्त्तृत्व पाकर सिद्धता रूप कार्य उत्पन्न करता है। इस सिद्धता रूप कार्य का उपादान कारण आत्मा के स्वयं के सत्तागत ज्ञान दर्शन चारित्र्य वीर्यादि अनन्त गुण हैं, वे ही सत्तागत धर्म सिद्धि रूप अर्थात् पूर्णतया शुद्ध-कर्म-मल से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। यही सिद्धता रूप कार्य है। यह आत्मा ही उपादान कारण है अर्थात् आत्मद्रव्य की मूल सत्ता अरूपित्व को प्रकट करना कार्य है और मूल स्वरूप का शुद्ध रूप होना सिद्धता रूप कार्य है। वस्तुतः यह आत्मा ही उपादान कारण है।

योग समाधि विधान, असाधारण तेह वदे री ।

विधि आचरणा भक्ति,जिणे निज काय सधे री ॥१०॥

अर्थ —अब सिद्धता रूप कार्य का असाधारण कारण बताते हैं । योग-मन वचन काय का राग-द्वेषरहित स्व-गुणों में रमण कराने को समाधि कहते हैं । इस समाधि का विधान अर्थात् करना । चतुर्थ गुण-स्थान से आरम्भकर सिद्धावस्था की प्राप्ति पर्यन्त गुण वृद्धि करना अर्थात् अभिनव गुणों-ज्ञान,दर्शन,चारित्र्य की वृद्धि,उपशम क्षपक श्रेणीगत ध्यान के परिणाम, क्षयोपशम भाव, शास्त्रोक्त विधि-पूर्वक सर्व आचरण तथा भक्ति और गुणोजनों का बहुमान-आदर सत्कार आदि करे । जिससे स्वयं के सिद्धता रूप कार्य की सिद्धि हो । इस प्रकार ज्ञान क्रिया रूप साधक अवस्था की तरतमता आदि को असाधारण कारण कहते हैं । यह असाधारण कारण-उपादान, आत्म-गुण रूप की भिन्न-भिन्न न्यूनता आधिक्यता की अवस्था में रहता है । पूर्व पर्याय सदा उत्तर पर्याय का कारण है, उसी समय क्रिया काल और निष्ठा काल का अभेद रहता है, इसे ही असाधारण कहते हैं ।

नर गति पदम संघयण, तेह अपेक्षा जाणो ।

निमित्ताश्रित उपादान,तेहने लेखे आणो ॥११॥

अर्थ :—अब सिद्धता रूप कार्य के अपेक्षा तथा निमित्त कारणों का स्वरूप कहते हैं । नरगति-मनुष्य गति, पदम संघयण-वज्रर्षभनाराच संघयण (अस्थि रचनाविशेष), पंचेन्द्रियत्व इत्यादि को सिद्धता रूप कार्य के अपेक्षा कारण जानने चाहिये । यहाँ कर्त्ता का व्यापार नहीं, किन्तु निश्चय ही इनकी अनिवार्यता है, क्योंकि इनके बिना मोक्ष रूप कार्य की साधना नहीं होती । अतः ये अपेक्षा कारण हैं । मनुष्य गति आदि सर्व में उपादान कारण-आत्मा का परिणमन होने से देव,गुरु, धर्म, के निमित्त का यदि धर्मार्थी होकर आश्रय लेता है तो उस आत्मा की मनुष्य गति आदि सामग्री की सफलता जाननी चाहिये और वे भी तभी कारण बनते हैं, अन्यथा नहीं । अर्थात् जिसके निमित्त देहादि अपेक्षा कारण नहीं बने वह अभी तक अनादि की मिथ्या-प्रवृत्ति विषय-कषायादि

में ही रमण करता है, उसमें परिवर्तन नहीं करता है। इस प्रकार अपेक्षा कारण निमित्त आश्रय से मोक्ष का कारण बनता है।

निमित्त हेतु जिनराज, समता अमृत खाणी।

प्रभु अवलम्बन सिद्धि, नियमा एह वखाणी ॥१२॥

अर्थ—अब आत्मा के सिद्धता रूप कार्य में निमित्त हेतु-कारण जिन-राज भगवान श्री तीर्थंकर देव हैं, वे वीतराग सर्वज्ञ हैं और समता रूप अमृत की खाणी-आकार खान हैं। इष्टता और अनिष्टता में समभाव रहना ही समता है और शुद्ध चारित्र्य ही अमृत है। इन दोनों के ही वे भण्डार हैं। ऐसे प्रभु परमेश्वर, परम दयालु, परमात्मा, शुद्धात्म रूप भोगी, पूर्णानन्दी, चिदानन्द श्री अरनाथ भगवान का आलम्बन लेने पर स्वयं के आत्म स्वरूप का भासन ज्ञान होता है। उस भासन का योग प्रभु गुणों के साथ कर देना चाहिये, प्रभु के अनन्त गुणों को जानकर उनके प्रति बहुमान रखना, उस पर परम भक्तिभाव रखना चाहिये। ऐसे आलम्बन के निमित्त से ही सिद्धि की निश्चय से प्राप्ति होती है, ऐसा आगम-शास्त्रों में वर्णन है। यही मोक्ष का अभ्यर्थ उपाय है। इसे ही निमित्त कारण कहते हैं।

पुष्ट हेतु अरनाथ, तेहने गुण थी हलिये।

रीभ भक्ति बहुमान, भोग ध्यान थी मलिये ॥१३॥

अर्थ :—आत्मा की सिद्धता कार्य के पुष्ट-नियामक हेतु-कारण श्री अरनाथ प्रभु हैं। अर्थात् आत्मा को नियन्त्रित कर नियम में रहने वाला अपने वशीभूत रखकर उचित कार्य में नियोजित करने वाला पुष्ट निमित्त अर्हन्त देव है। तेहने गुण थीं—उनके गुणों से 'हलिये' सम्पर्क स्थापित कर उनसे सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। केवलज्ञान, केवलदर्शनादि अनन्त गुणों से आकर्षित होने पर आत्मा प्रभु-प्रेमी बनती है और प्रेमी-जन अपने प्रिय पर रीभता है अर्थात् उससे राग करता है, उन पर मोहित हो जाता है और उसका उसी में मन लगा रहता है। वह सर्व प्रकार से उसकी भक्ति करता है, बहुमान आदर-सत्कार करता है, उसी का भोग अर्थात् उसी में तन्मय-एकरूप बनता है और दूरस्थ होने

पर ध्यान द्वारा मिलता है, अतः साधक को शुद्ध देव श्री अर्हन्त भगवान का अवलम्बन लेना मोक्ष-प्राप्ति में पुष्ट हेतु है, बलवान निमित्त है ।

मोटा ने उत्संग, बैठाने शी चिन्ता ।

तिम प्रभु चरण पसाय, सेवक थया निचिता ॥१४॥

अर्थ :—अब लौकिक दृष्टान्त द्वारा प्रभु के सेवक की निश्चिन्तता को पुष्ट करते हैं । जैसे जगत् में कोई बालक समर्थ-बड़े/सम्पन्न शक्तिशाली व्यक्ति के उत्संग-गोद में जा बैठता है तो उसे किसी प्रकार की चिन्ता या भय नहीं होता, उसी प्रकार आपके सेवक भी आपके सहस्र समर्थ देवाधिदेव के चरणों का आश्रय लेकर आपके प्रसाद से निश्चिन्त 'थया' हो गये हैं ।

जो परमात्मा सर्वश्रेष्ठ, सर्वगुण सम्पन्न, निरालम्ब किन्तु अनेकों को आलम्बन स्वरूप, चिन्मय, अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यमय श्री जिनेश्वर देव, कर्म-कलंक मुक्त देवतत्त्व, परभाव के अकर्त्ता, अभोगी और परानुयायिता-रहित हैं ऐसे श्री देवाधिदेव का मैंने शरण लिया है, तो अब मोह का मुझ पर कोई अधिकार नहीं चलेगा । अब संसार भ्रमण किसका होगा ? मेरा तो नहीं होगा । कर्म का भय किसे है ? मुझे तो नहीं है । जिस परमोत्तम स्वामी को मैंने अपना नाथ बनाया है, उनसे मेरी कर्मों की कारागार से मुक्ति होगी । ऐसे देव का मुझे संयोग मिला है अतः अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है । पूज्यवर श्री जिनवल्लभसूरिजी ने कहा है —

पसरइ तिय लोए ताव मोहंधयारं,

भमइ जयमसण्णं ताव मिच्छत्त छण्णं ।

फुरइ फुडफलंताणंतणाणं सुपूरो,

पयडमजियसंतीज्झाण सूरौ न जाव ॥१५॥

अर्थ —तब तक ही तीन लोक में मोह रूप अन्धकार की प्रबलता रहती है और तब तक ही मिथ्यात्व से व्याप्त संज्ञा रहित जगत् विपरीत प्रवृत्ति वाला रहता है जब तक इन दो तीर्थंकरों (अजितनाथ शान्तिनाथ) के स्पष्ट और उल्लास प्राप्त ध्यान रूप किरणों के समूह युत

सूर्य का उदय न हो अर्थात् ध्यान रूप सूर्य के उदय होने पर मोह नष्ट हो जाता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर अंधेरा और प्राणिगण की निद्रा पलायन कर जाती है वैसे ही दोनों भगवान के ध्यान से मोह और मिथ्यात्व नष्ट हो जाते हैं।

अर प्रभु प्रभुता रंग, अन्तर शक्ति विकासी ।
देवचन्द्र नो आनंद, अक्षय भोग विलासी ॥१५॥

अर्थ :—अतः अठाहरवें तीर्थंकर श्री अरनाथ भगवान जिन्होंने तत्त्वरुचि बनकर और तत्त्वाभिलाषी, तत्त्वसाधक, तत्त्व ध्यानी होकर आत्मा को शुद्ध तत्त्व बनाया, उन प्रभु की प्रभुता, शुद्ध ज्ञायकता, शुद्ध रमणता, शुद्धानुभवता, अपौद्गलिकता, असंगता, अयोगिता, सकल प्रदेश निरावरणता, प्राग्भावी शुद्ध-सत्ता-भोक्तृत्व के रंग में जो रंग गये साधक और उनकी सम्यक्त्वी-सम्यग्दृष्टि, देश विरति सर्वविरति जन की अन्तरंग शक्ति, तत्त्व प्राग्भाव करने की साधक-कारकता साधक-कर्तृत्व, परम संवर पूर्वक श्रेष्ठ सकाम निर्जरा रूप शक्ति विकासी-विकसित हो गई। ऐसा होने पर, उस शक्ति से सर्व कर्मों का नाश होने पर तथा सर्व आत्मिक धर्म समान श्रीपूर्ण परमेश्वर तीर्थंकर देवों का आनन्द अव्याबाध, शिव, अचल, अरुज, अविनाशी रूप और उसके अक्षय स्वरूप के भोग अनुभव की विलासी आत्मा बन जाती है अर्थात् स्व-सम्पद्, स्वतत्त्वता, आत्मा की शुद्ध परिणति को सादि अनन्त काल भोगता है अथवा 'देवचन्द्र' स्तवन रचयिता अक्षय आनन्द का भोगी बने। अतः भव्यों ! स्वरूप-सिद्ध अरूपी चिद्रूप श्री परमेश्वर की सेवा करो, ध्यान करो, उन्हें नमस्कार करो, उनके गुणगान करो, उनके गुणों का स्मरण करो, यही मोक्ष साधन का पुष्ट निमित्त है। इस निमित्त से उपादान कारण रूप होकर, असाधारण कारणता से आगे आरोहण कर्ता मनुष्य गति आदि की अपेक्षा कारण रूप बनाकर तत्त्वानन्द-प्राप्ति रूप कार्य करेगा। इसलिए उपादानादि तीन कारण की कारणता निमित्त के अवलम्बन से प्रकट होती है। अतः आशंसादि दोषों का वर्जन करके शुद्ध निमित्त श्री अर्हद् देव का आलम्बन लेना चाहिये, जिससे स्वकर्तृत्व स्वरूप का स्मरण हो। इसकी स्मृति होने पर ही स्वकार्य होगा। श्री अरनाथ भगवान की भक्ति ही अभी तो मात्र आधार है।

१६. श्री मल्लिनाथ जिनेन्द्र स्तवन

(राग—देखी कामिनी दोय कामे अथवा श्री शंखेश्वर पास जिनेश्वर)

मल्लिनाथ जगनाथ चरण युग ध्याइये रे,
शुद्धातम प्राग्भाव परम पद पाइये रे ।
साधक कारण बट्क करे गुण साधना रे,
तेहिज शुद्ध स्वरूप थाय निराबाधना रे ॥१॥

अर्थ :—अब श्री मल्लिनाथ भगवान की स्तवना-स्तुति करते हैं ।
कारक-शक्ति पलटने पर सिद्धता उत्पन्न होती है । आत्मा की कारक-
शक्ति में परिवर्तन होने का उपाय श्री अरिहंत देवाधिदेव की उपासना
सेवा है । अरिहंत देव श्री मल्लिनाथ भगवान की स्तवना उसी कारक-
परिवर्तन रूप में करते हैं । श्री मल्लिनाथ 'जगनाथ' जग-लोक के नाथ
हैं, जगत् में भ्रमण करते प्राणियों के रक्षक हैं । 'जग' शब्द से यहाँ मोह
ग्रहण कर 'नाथ' शब्द से रक्षा करना अर्थ लें, तो यहाँ विभक्ति कारक
का परिवर्तन करने पर, सम्बन्ध के स्थान पर अपादान करने पर, 'जगतः
मोहात्' मोह से छुड़ाने वाले, रक्षा करने वाले बनता है । अर्थात् प्राणियों
को जगत् में भ्रमण कराने वाले मोह कर्म से भगवान् छुड़ाते हैं । मोह
ही आत्मा का अंतरंग महाबलवान रिपु/शत्रु है, अतः मोह की कारा से
मुक्त होने के लिए उन्हीं के चरण युग/पाद-युगल, दोनों चरणों की ध्यान,
सेवा, और आराधना करनी चाहिये । बारंबार प्रभु के चरणों का स्मरण
करना चाहिये । ऐसे प्रभु का ध्यान/स्मरण करने से ध्याता को शुद्ध/
निर्मल आत्मा का प्राग्भाव-वास्तविक स्वरूप अनन्त गुण निर्मलता
स्वरूप परमात्म भाव प्रकट होता है, उसे पाइये/प्राप्त करिये ।

स्वयं की आत्मा निर्मलता को प्राप्त कर सके और सर्वथा मुक्त हो सके, ऐसी आत्म सिद्धि करने के छह कारक हैं। साधक अर्थात् सिद्धि की प्राप्ति का इच्छुक कारक षट्क-छह कारणों का प्रयोग करें। ये मुक्ति रूपी कार्य-सिद्धि के लिए-आवश्यक हैं, क्योंकि समस्त कार्यों में कारक प्रवृत्ति की कारणता है, कारक-चक्र के बिना कार्य-सिद्धि नहीं होती है। यथ—१. कुम्भकार कर्ता है। २. कुम्भ निर्माण कार्य है। ३. मृत्-पिण्ड चक्र-दण्डादि कारण हैं। ४. मिट्टी के पिण्ड को नये पर्याय की प्राप्ति सम्प्रदान है। ५. पिण्ड को स्थास आदि पर्यायों का समूह अपादान है। ६. घटादि पर्यायों का आधारत्व ही आधार है। जिस प्रकार घट रूप कार्य में षट्-कारक हैं, उसी प्रकार आत्मा के ये षट् कारक बाधक रूप से परिणत हो रहे हैं जो निम्न हैं :—

१. कर्ता :—आत्मा अनादि काल से रागादि भाव-कर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म का कर्ता हो गया है।

२. कर्म :—द्रव्य-कर्म भाव-कर्म रूप कार्य ही कर रहा है, यह कर्म है।

३. करण :—अशुद्ध विभाव परिणति रूप भावास्रव और प्राणा-तिपादि रूप द्रव्यास्रव इन दो करणों से कर्म बन्ध का कार्य करता है, अतः यह करण है।

४. सम्प्रदान :—अशुद्ध परिणाम और द्रव्य-कर्म का आदान हो रहा है, यह सम्प्रदान है।

५. अपादान :—स्वरूप, रोध, क्षयोपशम की हानि, परानुयायिता आदि आत्म-गृहीत कर्मों से हो रहे हैं, यह अपादान है।

६. आधार :—आत्मा अनन्ती अशुद्ध विभावता तथा ज्ञानावरणादि कर्मों का आधार बना हुआ है, यह आधार है।

इस रीति से ये षट् कारक-चक्र अनादि काल से अशुद्ध रूप से, बाधक रूप से आत्मा में परिणत हो रहे हैं। जब साधक आत्मा स्वयं का स्वधर्म प्रकट करने के रूप में इन्हें परिणत करें, तब ये षट् कारक साधक रूप से प्रवृत्त हो जाते हैं और आत्मिक गुणों की साधना में

साधक बनते हैं। इस प्रकार ये षट् कारक साधक रूप में परिणत होने पर सिद्धता रूप कार्य सिद्ध होता है और आत्मा का शुद्ध रूप प्रकट होता है। यह कार्य किसको सिद्ध होता है? उत्तर यह है कि, ये कारक निरा-बाध सिद्ध भगवान के तो शुद्ध साधक रूप से प्रवृत्ति करते हैं और ससारी मिथ्यात्व गुण-स्थानवर्ती जीवों के लिए बाधक रूप से परिणत हो रहे हैं। किन्तु, चतुर्थ गुणस्थान सम्यग्दृष्टि से आरम्भ होकर चतुर्दशम गुणस्थान पर्यन्त साधक रूप से प्रवृत्ति करते हुए सिद्धावस्था प्राप्ति पर्यन्त साधक रूप में परिणत होते हैं, पश्चात् शुद्ध स्वरूप में परिणत होते हैं।

विशेषावश्यक भाष्य में कारणों की व्याख्या के प्रसंग में कहा है :—

“छव्विह—कारणं कत्ताइ कारणकम्मं च तत्तो अ ।
संपयाणाऽवायाण तह ना संविहाणाय ॥”

तथा च कारकं षोढा—

“कारणमहवा छद्धा तत्थ सतंतोत्ति कारणं कत्ता ।
कज्जस्स साहगतमं करणम्मि उ पिण्डदण्डाई ॥२११२॥

कम्मं किरिया कारणमिह निच्चिट्ठो जओ न साहेइ ।
अहवा कम्मं कुंभो स कारणं बुद्धिहेउत्ति ॥२११३॥

होइ पसत्थं मोक्खस्स कारणमेगविह दुविह तिविहं वा ।
तं चेव य विवरीय अहिगार पसत्थएणेत्थं ॥२१२१॥”

कारण षड्विध कर्त्तादि हैं, कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण में छहों संविधान के लिए हैं, अथवा कारण छह हैं। सबमें स्वतन्त्र कर्त्ता है, कार्य में प्रसाधकतम करण है, जैसे पिण्ड-दण्डादि। कर्म, क्रिया और करण तीनों मिश्रष्ट है, यदि कर्त्ता साधक न हो। अथवा कर्म कुम्भ है, वही बुद्धि का हेतु है। प्रशस्त मात्र मोक्ष का कारण है। एक विध, द्विविध, त्रिविध जो अप्रशस्त कहे हैं, वे विपरीत संसार के कारण हैं। प्रशस्त भी उनसे विपरीत हैं, जैसे संयम असंयम से, विरति ज्ञान

असंयम विरति से और सम्यक्त्व ज्ञान संयम मिथ्यात्व अज्ञान अविरति से विपरीत हैं। अतः साधकत्व रूप में परिणत हुए कारक सिद्धता रूप कार्य को करते हैं। इसमें निराबाध जो सिद्ध हैं वे निरावरण, अव्याबाध सुख-रूप हैं। उसमें कर्त्तादि कारक शुद्ध पारिणाभिक भाव शुद्ध रूप हो जाते हैं। उनका स्वरूप ही कर्त्तृत्व रूप से परिणत हो जाता है।

कर्त्ता आत्म द्रव्य कार्य निज सिद्धता रे,
उपादान परिणाम प्रयुक्त ते करणता रे।
आत्म सम्पदा दान तेह सम्प्रदानता रे,
दाता पात्र ने देय विभाव अभेदता रे ॥२॥

अर्थ — १. प्रथम कारक कर्त्ता का स्वरूप कहते हैं। कर्त्ता आत्म-द्रव्य तत्त्व है, वह आत्म शुद्धि का कार्य सिद्ध करने में प्रवृत्त हुआ है और स्वयं के इस शुद्धि रूप कार्य का कर्त्ता बना है।

२. कर्म :—आत्मा की स्वयं की सिद्धता, सर्व गुण पूर्णता, सर्व स्वभाव, स्वरूपावस्थानता ही कर्म है। जो कार्य जिस परिणति-चक्र की प्रवृत्ति रूप से उत्पन्न हो, उस प्रवृत्ति रूप क्रिया का प्रवर्तन करना ही कर्म है। इसकी कारणता कार्य करने तक है। भाष्य में कहा है :— 'तस्मात् बुद्ध्यध्यवसितमप्यात्मकारणमेष्टव्यम्।' इसलिए बुद्धि में अध्यवसित अर्थात् रहा हुआ कार्य भी आत्म करण को चाहता है, अर्थात् मन में सोचा हुआ कार्य भी करने से ही होता है।

३. करण —उपादान स्वरूप आत्मा के स्वगुणों—सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र्य रूप रत्नत्रय की परिणति, तत्त्व निश्चय, तत्त्वरुचि, तत्त्व-ज्ञान, तत्त्वरमणादि रूप स्वगुणों में अहिंसकता, बंध-हेतु अपरिणमन रूप स्वरूप-यथार्थ भासन रूप, परभाव-अग्रहण रूप, अभोक्ता रूप, स्वरूप भोगी स्वरूप एकत्वरूप तत्त्वाराधन चेतना स्वरूप प्रगटतानुयायी, वीर्यादि उपादान कारण हैं। और, द्रव्ययोग अर्थात् मनो वाक् काया को प्रशस्त

करने के लिए अर्हन् देवाधिदेव का आलम्बनादि एवं यथार्थ आगम श्रवणादि निमित्त कारण हैं। इन सर्व को प्रयुक्त करना अर्थात् आत्म कार्य करने रूप में आत्मा का प्रयोग करना। इन उत्कृष्ट कार्यों को करने वाला तीसरा करण कारक है। 'साधकतमं करणम्' ऐसा पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है। आत्म सिद्धि रूप कार्य के उत्कृष्ट कारण आत्म-शक्ति-स्वरूपानुयायी योग और शुद्ध देवादि प्रमुख करण कारक हैं।

४. सम्प्रदान — आत्म-सम्पदा अर्थात् ज्ञान पर्याय, दर्शन पर्याय, का दान करना। आत्मा को आत्मगुण करने रूप दान करने से जो-जो आत्म धर्म प्रगट होते जाय, उसे सम्प्रदान कहते हैं। कहा है :—

“देओ स जस्स तं संपयाणमिह तं पि कारणं तस्स ।

होइ तदत्थिताओ न कीरइ तं विणा जं सो ॥”

अर्थ :— जिसे दिया जाय वह सम्प्रदान कारक जानना चाहिये। यहाँ दाता आत्मा तथा पात्र भी आत्मा और आत्मा को देय आत्मधर्म इन तीनों की अभेदता है। गुणों को प्रकट करना 'देय' है, आत्मा ही दाता है तथा आत्मगुणों को प्रकट करना कर्तृत्व है और गुणों का लेने वाला पात्र भी आत्मा है अर्थात् दान, दाता और पात्र तीनों ही अभिन्न हैं।

स्वपर विवेचन करण तेह अपादान थी रे,

सकल पर्याय आधार सम्बन्ध आस्थान थी रे।

बाधक कारण भाव अनादि निवारवा रे,

साधकता अवलम्बी तेह समारवा रे ॥३॥

अर्थ :— ५. अपादान — जो आत्मा में समवाय रूप से है, वह स्वधर्म या आत्मधर्म है। इनसे विपरीत मोहादि कर्मरूप अशुभ प्रवृत्ति परभाव पर धर्म है। इनका विवेचन करना, दोनों को भिन्न करना, अशुद्धता का उच्छेद करना, दोषों का त्याग कारना, विश्लेष, वियोग करना,

अनादि संसार का कर्तृत्व व भोक्तृत्व त्याग कर आत्मस्वरूप का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व प्रकट करना, अपादान कारक है ।

६. आधार —समस्त पर्यायों का आधार आत्मा है । आत्मा तथा आत्म-पर्यायों का स्व-स्वामित्व सम्बन्ध है । व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है, ग्राह्य ग्राहक सम्बन्ध है और आधार आधेय सम्बन्ध है । इन सबका आस्थान-कारक रूप क्षेत्र आत्मा है, इनकी आस्थानता के लिए आत्मा आधार है । इस प्रकार ये छह कारक साधकत्व के बताये । अब साधकत्व की प्राप्ति कैसे हो ? यह बताते हैं ।

बाधक रूप परभाव के अनुयायी, अशुद्ध कर्त्तादि कारकत्व मिथ्यात्व, असयम, कषाय, प्रमाद रूप भाव, अशुद्धता रूप सामान्य चक्र और अशुद्ध साध्यानुगत अशुद्ध कर्तृत्व को दूर करना तथा उस चक्र को रोक कर स्वरूपानुगत बनाना है । अनादिकाल से हो रही इस भूल को सुधारना है । क्योंकि जब तक कर्त्ता/आत्मा परभाव का कारक है तब तक सिद्धि की साधकता का अभाव है । और, जब तक कर्त्ता अशुद्ध कार्यानुयायी सामान्य चक्र है तब तक शुद्ध साधकता का अंश भी उत्पन्न नहीं होता । पूज्य भाष्यकार ने कहा है कि 'आत्मा के स्व-तत्त्व का कर्त्ता रूप हुए बिना सभी शुभ प्रवृत्ति बाल-क्रीडा मात्र है ।' अतः कारक चक्र को परभाव से हटाकर, स्वभाव साधकता का अवलम्बन लेकर सारे कारण-चक्र को परिष्कृत करना और स्वरूपानुयायी बनाना चाहिये । स्वयं आत्मा को इस प्रकार उद्बोधन देना चाहिये कि, हे चेतन ! तू परभाव का कर्त्ता-भोक्ता और ग्राहक नहीं है, तू तो सम्पूर्ण शुद्ध आनन्द का विलास करने वाला है । इस समय परभाव में जो तेरा कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि है वह तेरे योग्य नहीं है । तेरे लिए तू अनन्त पारिणामिक ज्ञान दर्शनादि गुण रूप स्वरूप का भोक्तृत्व ही योग्य है । अतः हे चेतन ! अब तू स्वरूप का भान करने के लिए जिनेश्वर भगवान् की अमृतवाणी का पानकर, जिससे तेरी अनादि कालीन मिथ्यात्व विष की बेभानता (बेहोशी) दूर हो, तुझे स्वरूप का भान हो और तू स्वयं का भान करके स्व-पर का विवेचन कर सके । स्वयं को, स्व के सहजानन्द का कर्त्ता बना, यही तेरा कार्य है । तू उसका उपादान कारण है, शक्ति-सम्पन्न है और ग्राहक है । तू स्व-सम्पदा का स्वामी है । तेरे असंख्य प्रदेशों से प्रकट करने रूप सम्प्रदान का कार्य तेरे में है । अतः हे प्रिय

मित्र, चेतन ! इस अमादि के अशुद्ध परिणमन को तू ही त्याग कर सकेगा, और तेरो सत्ता का आधार भी तू स्वयं है, अतः तू स्वयं ही स्वतत्त्व को शुद्ध कर । तेरा कार्य तू ही कर । इस प्रकार स्व आत्मा को जागृत कर, साधकत्व स्वीकार करना चाहिये । ऐसा करने पर कारकत्व की स्मृति होगी और आत्मा स्वकार्य में प्रवृत्त हो जायेगा तथा इसके फलस्वरूप सिद्धता कार्य की सिद्धि प्राप्त होगी । यही साधना का मार्ग है । साधना करने पर ही कार्य सिद्धि होती है ।

शुद्ध पणो पर्याय प्रवर्तन कार्य में रे,
कर्त्तादिक परिणाम ते आत्म धर्म में रे ।
चेतन चेतन भाव करे समवेत में रे,
सादि अनन्तो काल रहे निज खेत में रे ॥४॥

अर्थ :—१. कर्त्ता :—शुद्ध रूप से निष्पन्न/सम्पन्न आत्मा के ज्ञानादि गुण पर्याय के जानने-देखने रूप कार्य की प्रवृत्ति और उत्पाद-व्यय रूप परिणमन कार्य का कर्त्ता आत्मा है । यह प्रथम कारक कर्त्ता है ।

२. कर्म :—आत्म गुणों का परिणमन रूप कार्य है ।

३. करण :—आत्मा के ज्ञानादि गुण करण हैं ।

४. सम्प्रदान :—आत्मगुणों का लाभ होना सम्प्रदान है ।

५. अपादान :—आत्मा से परभाव को पृथक् करना अपादान है ।

६. आधार :—अनन्त गुणों को धारण करना आधार है ।

इन छह कारकों का चक्र सिद्धावस्था में सदा स्वाधीन रूप से भ्रमण करता है, अतः शुद्ध निष्पन्न रूप से स्वपर्यायों का प्रवर्तन होता है । इन षट् कारण चक्र का परिणमन आत्मधर्म में ही होता है । अर्थात् सिद्ध अवस्था में षट् कारक स्वरूप में ही अवस्थित हैं । चेतन-आत्मा स्व के

चेतन भाव का यह समवेत-समवाय है, अर्थात् आत्मा आत्मभाव का कर्त्ता है। यह समवाय सम्बन्ध से सादि अनन्तकाल पर्यन्त निज खेत में-स्वयं आत्मा के असंख्य प्रदेश रूप क्षेत्र में आत्मधर्म प्राप्त सिद्धत्व में रहे-रहता है। सिद्ध जीवों की आदि है पर अंत नहीं है, अतः यहाँ सादि अनन्त भंग का ग्रहण किया गया है।

पर-कर्तृत्व स्वभाव करे त्यां लग करे रे,

शुद्ध कार्य रुचि भास थये नवि आदरे रे।

शुद्धात्म निज कार्य रुचे कारक फरे रे,

तेहिज मूल स्वभाव ग्रहे निज पद वरे रे ॥५॥

अर्थ—परकर्तृत्व-पर/द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म को कर्तृत्व स्वभाव से करता है, अर्थात् परकर्तृत्व अनादिकाल से कर रहा है। यह तभी तक करता है जब तक पर का रागी व पर का भोगी बना रहता है। तब तक इस आत्मा में परकर्तृत्व है। किन्तु, जब शुद्ध निर्मल, निरावरण स्वरूप प्रकट करने रूप कार्य की रुचि का भास/ज्ञान हो जाने पर परगुण का राग-भोग-कर्तृत्व 'नवि आदरे' अर्थात् उसका ग्रहण नहीं करता है, त्याग देता है। शुद्ध आत्म स्वरूप का स्याद्वाद रीति से एवं परमानन्द स्वभाव से भासन तथा रुचि ये ही कारक परिवर्तन के मूल बीज हैं। इस कारण सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही मोक्ष के मूल हैं। शुद्धात्म अनन्त ज्ञान दर्शन, अव्याबाध सुखमय, अरूपी, सहजानन्द रूप आत्मधर्म, सत्ताप्राग्भाव, सकल परभाव-व्यतिरेकी, अरागी, अद्वेषी, असंज्ञी, अयोगी, अलेशी, अकषायी, असहायी, ऐसे शुद्धानन्द रूप कार्य की रुचि होने पर कारक-चक्र में परिवर्तन होता है। जब तक पौद्गलिक सुख रुचि है तब तक पर कर्त्ता है। इससे सारा कारक-चक्र उसी रूप में कार्य करता है। और, जब भेद-ज्ञान-धारा से आत्मा पर-जड़ रूप कर्म नोकर्म का स्वरूप से विभजन-पृथक्करण करके स्वयं के आत्मधर्म को एक अपूर्व उद्धरण-उत्साह/उमंग रूप से जान लेता है, उसे ही हितकारक मानता है तब आत्मधर्म की रुचि उत्पन्न होती है। फिर तो रुचि के अनुसार ही कार्य करता है, क्योंकि जगत् में सभी अपनी-

अपनी रुचि का कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं और सर्व कारक-चक्र स्व-कार्य करने लगता है। फलतः तब वही आत्मा स्वयं का अचल, अखण्ड, अविनाशी, निष्प्रयासी, स्वरूप परिणमन रूप मूल स्वभाव/स्वधर्म को ग्रहण करता है, क्योंकि कारक अब मूल धर्म के ग्रहण कार्य में लगा है। अतः निज स्वयं के परमात्मपूर्ण ब्रह्ममय परमानन्द पद को वरण करता है और आत्मा कृतकृत्य होकर अक्रिय अकम्प अनंत चित्शक्ति अरूपी अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है।

कारण कारज रूप अछे कारक दशा रे,

वस्तु प्रकट पर्याय एह मन में वस्या रे।

परा शुद्ध स्वरूप नो ध्यान ते चेतनता ग्रहे रे,

तब निज साधक भाव सकल कारज लहे रे ॥६॥

अर्थ :—ये छह कारक कारण तथा कार्य रूप हैं कार्य की सिद्धि रूप हैं, अतः कारण के ही भेद हैं। समस्त कार्य कर्ता के आधीन हैं और कर्ता जो कार्य करें, वह कारण बिना नहीं होता, अतः वस्तु आत्मद्रव्य के ये छह कारक प्रकट निरावरण पर्याय हैं, ऐसा मन में वस्या-विश्वास हो गया कि कर्तृत्व पर आवरण नहीं है, कर्तृत्व विशेष स्वभाव है और विशेष गुण एवं पर्याय पर आवरण हैं, परन्तु स्वभाव पर नहीं। स्वभाव और उसकी कारणभूत चेतना तथा वीर्य शक्ति पर आवरण होने पर कर्तृत्व प्रवृत्ति मन्द हो जाती है, परन्तु मूल कर्तृत्व आवरित नहीं होता है। चेतना एवं वीर्य की विपरीत परिणति से परभाव कर्तृत्व रूप में प्रवृत्त हो गया जिससे स्वयं का स्वरूप भी आवृत हो गया और उसके आवृत हो जाने से स्व-स्वभाव को नहीं कर सका। अक्षर का अनंतवां भाग चेतना और योगस्थान रूपी वीर्य क्षायोपशमिक ही रहा, फलतः वह अनादि से परभावानुयायी ही बना हुआ है। स्वरूप कर्तृत्व नहीं होने से वह कर्तृत्व रूप से परभाव को ही करता रहा। आस्रव बंध रूप कार्य का कर्ता बन जाने से वह अशुद्ध कार्य करता रहा। परन्तु, सर्वथा आवृत कभी नहीं हुआ और कर्तृत्व अनावृत रहने से अन्य कारक भी अनावृत रहे। यदि कारक-चक्र आवृत हो जाय तो आस्रव और बन्ध भाव का

कार्य कौन करे ? आस्रव और बंध भाव के अभिनव पर्यायों का आदाता और पूर्व पर्यायों के त्यागी का आधार कौन हो ? अतः कारक निरावरण हैं, किन्तु विकारी बने हुए हैं, मूल स्वरूप को भूने हुए हैं, ऐसा हुआ । अब इनमें परिवर्तन भी आत्मा करे तो वैसा कैसे हो ? यही बतलाते हैं । चेतन की चेतना—साकार-अनाकार को ज्ञान दर्शन का यथार्थ भासन रूप बनाकर स्वयं के शुद्ध स्वभाव का भान करें और भासन के अनुसार रुचि से आचरण स्वीकार करें, तब ये ही सकल कारक निज-स्वयं के साधक भाव को जो कर्म-विदारण है, उसको अभिव्यक्त करने रूप भाव को प्राप्त करता है । अर्थात् कर्त्ता-स्वधर्म का कर्त्ता कर्म-स्वधर्म का परिणमन, करण-स्वधर्मानुयायी गुण-परिणति, चेतना वीर्य-शक्ति, सम्प्रदान-साधन गुण शक्ति का प्रकट होना, अपादान-पूर्व पर्याय अशुद्ध से निवृत्त होना, आधार-स्वगुणों को धारण करना । इस प्रकार षट् कारक साधक रूप बनकर सिद्धता-परमोत्तमता का उल्लास समाधि एवं पूर्ण निर्मल रूप को प्राप्त करता है । स्व-धर्मावलम्बन करने योग्य निम्नांकित भावना सदा करनी चाहिये ।

“ग्रहमेवको खलु सुद्धो निम्ममओ नाण-दंसण-समग्गो ।

तम्मिठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयंबेनि ॥”

—समयसार गाथा ७३

अर्थ :—मैं ज्ञान दर्शन पर्याय रूप अनन्त धर्ममय तथापि द्रव्य-रूप से, अखण्ड रूप से, समुदाय रूप से एक हूँ । निश्चय नय से शुद्ध हूँ । यद्यपि अनादि से परभाव में लुब्ध हो जाने से स्वभाव भ्रष्ट होकर अशुद्ध हो रहा हूँ, तथापि स्वजाति से मेरा मूल धर्म अनन्त ज्ञानादि गणमय, शुद्ध, निष्कलंक, निरामय, निस्संग होने से निर्दोषी हूँ । सर्व ममत्व-भाव एवं परभाव में मेरेपन से रहित हूँ । सकल भासन रूप ज्ञान, सर्व परिच्छेद रूप दर्शन और सामान्य उपयोगमय हूँ । ऐसे भासन, रमण, परिणमन रूप रहा हुआ यह आत्मा समस्त पर-उपाधि का, कर्मों का क्षय कर स्व के शुद्ध स्वरूप को ग्रहण कर सर्व परभाव को भेद कर निर्मल आनंद को उत्पन्न करता है ।

माहरुं पूर्णानंद प्रकट करवा भणी रे,

पुष्टालम्बन रूप सेव जिनवर तणी रे ।

देवचन्द्र जिनचन्द्र भक्ति मन में धरो रे,

अव्याबाध अनन्त अक्षय पद आदरो रे ॥७॥

अर्थ—ऐसी बाधकता रूप में परिणत हुए मेरे कर्तादि षट् कारक अशुद्ध परिणाम, अरिहंत भगवान् परमज्ञाता, स्वरूप-रमण करने वाले, उसी में विश्रान्त हाने वाले स्वरूपानंदी का स्वरूप देखते हुए एवं गुणगान करते हुए पलट सकते हैं। उसके पलटने पर अशुद्ध कर्तृत्व पलट जाता है। सम्पूर्ण कारक-चक्र ही पलट जाता है। कर्म भी शुद्ध सिद्धता रूप हो जाता है और अनन्त स्वसम्पदा भी प्राप्त हो जाती है। इसके फलस्वरूप भव्य जीव को तत्त्व प्राप्त कराने वाली शक्ति प्राप्त होती है। वह शक्ति श्री अरिहंत भगवान् की सेवा-उपासना से मिलती है। अतः मैंने निर्धारण/निश्चय किया है कि उपासना करूँ। हे प्रभो! मेरा जो पूर्णानंदमय पूर्ण अव्याबाध सुख है उसको प्रकट करने के लिए पुष्टालम्बन रूप श्री जिनचन्द्र देव का आलम्बन—आधार का जो भव्य जीवों के आधार, मुनिजनों के प्राणाधार आचार्य उपाध्याय पर परमदयालु, भावचिन्ता-मणिरत्न, सम्यक्त्वी जनों के ध्येय, ध्याता के लिए प्रतिच्छन्द रूप, अनंत गुणाकर और निर्मल ज्ञानानंद के पात्र हैं ऐसे श्री जिनराज की सेवा-सेवना आराधना ही पुष्टालम्बन है। अतः 'देवचन्द्र' सर्व देवों में चन्द्र-श्रेष्ठ, शीतल, कान्तिमान् श्री जिनचन्द्र, वीतराग, अर्हन् परमात्मा की भक्ति सेवना आज्ञापालन रूप एवं तदनुयायित्व अर्थात् उनके पद चिन्हों पर गमन करना ही त्राण-रक्षण स्वरूप है। यही भक्ति मन में धारण करो, स्थिर रखो। अथवा स्तवन कर्ता श्रीमद् देवचन्द्र महोदय स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे देवचन्द्र! श्री जिनचन्द्र मल्लिनाथ भगवान् की भक्ति को धारण कर, जिससे अव्याबाध-बाधा रहित जहाँ परभाव रूप विघ्न और बाधाओं का अभाव है, परम आनंद रूप है, जिनके अनन्त गुणों की गणना नहीं हो सकती, अक्षय—जिसका क्षय विनाश या छेद नहीं होता ऐसा पद—मोक्ष पद आदरो—प्राप्त कर सकेगा

अर्थात् बाधकता भाव का परित्याग करने से एवं साधकता में रमण करने पर सिद्धि की सम्प्राप्ति होती है, अतः हे सिद्ध आत्माओं ! आप परम पुरुषोत्तम परमेश्वर निष्कारण जगद्वत्सल मल्लिनाथ भगवान का गण-गान करें, स्तवन स्तुति करें, स्मरण-जाप करें, ध्यान करें, क्योंकि साधक के लिए यही प्रथम साधना है ।



२०. श्री मुनिसुव्रत जिनेन्द्र स्तवन

(तर्ज—ओलंगड़ी ओलंगड़ी सुहेली हो श्री श्रेयांस नी रे)

ओलंगड़ी ओलंगड़ी तो कीजे,
श्री मुनि सुव्रत स्वामी नी रे,
जेह थी निज पद सिद्धि ।
केवल ज्ञानादिक गुण उल्लसे रे,
लहिये सहज समृद्धि । ओलंगड़ी०॥१॥

अर्थ —अब अद्भुत स्वरूप वाले परमात्मा अहिंसक प्रभु श्री मुनिसुव्रत भगवान का स्तवन करते हैं । मुनि-निर्ग्रन्थ साधु सुव्रत-मुनियों के श्रेष्ठ व्रत-महाव्रतों के पालक ऐसे सार्थक नाथ वाले मुनि-सुव्रत भगवान की ओलंगड़ी-ओलूँ (मारवाड़ी शब्द) अर्थात् स्मृति करना और उनके गुणों का स्मरण करना, अथवा ओलंग-सेवा करना । अर्थात् गुण-ग्राम का स्मरण करना चाहिये, जेहथी-जिससे निजपद-स्वयं का परमात्म पद सिद्ध स्वरूप पद की सिद्धि हो और केवलज्ञानादि गुण उल्लसे-प्रकट हों अर्थात् ज्ञानामृत रस पान करें और सहज-अकृत्रिम स्वाभाविक समृद्धि-अनन्त ज्ञान-दर्शनादि, दान-लाभादि लहिये-प्राप्त हों, यह प्रभु सेवना का फल है, प्रभु के स्मरण से सर्व स्मृद्धि प्राप्त होती है, अतः प्रभु का स्मरण करना चाहिये ।

उपादान उपादान निज परिणति वस्तुनी रे,
पण कारण निमित्त आधीन ।
पुष्ट अपुष्ट द्विविध ते उपदिश्यो रे,
ग्राहक विधि स्वाधीन ॥२॥

अर्थ—आत्म-साधन करने में उपादान वस्तु की निज परिणति ही वस्तु का मूल धर्म है अर्थात् जो आत्म-सत्ता विद्यमान है, वही उपादान कारण है। किन्तु, उपादान को इष्ट रूप देना निमित्त कारण के आधीन है। निमित्त रूप प्रभु का सेवन करते हुए कारण—उपादान स्व-आत्मा का स्मरण होता है। वह निमित्त कारण दो प्रकार का है :— १. पुष्ट निमित्त, २. अपुष्ट निमित्त। कौनसा निमित्त लें :—यह ग्राहक-कर्त्ता के ऊपर निर्भर है, आधीन है। किस रूप में किस कार्य के लिए कैसी विधि है, इसकी जानकारी हो, तभी इष्ट कार्य की सिद्धि होती है। जानकारी के अनुसार विधि का सही प्रयोग होने पर कार्य-सिद्धि निर्भर है। विधि पूर्वक कार्य करने पर ही निमित्त हेतु बनता है। अविधि से ग्रहण किया निमित्त कार्य नहीं करता। जैसे, कुम्भकार दण्ड-चक्रादि का सही उपयोग करे, तब घट रूप कार्य सिद्ध होता है। मृत्-पिंड को चक्र पर स्थापित कर दिया और चक्र नहीं घुमाया तो घट नहीं बनेगा। दण्ड का उपयोग भी सही न करे, स्वयं के करने का कार्य भी ठीक नहीं करे तो घट का निर्माण नहीं होगा। ऐसे ही श्री अर्हन् मोक्ष के निमित्त कारण तो हैं, परन्तु आगम-शास्त्र में निर्दिष्ट विधि के अनुसार आशातनादि से बचकर पौद्गलिक भोगाशंसा रहित होकर एवं केवल-ज्ञानादि गुणों की जानकारी सहित प्रभु की सेवा करे तो मोक्ष के कारण होते हैं। अविधि से की गयी सेवा कर्म-बंध का कारण बन जाती है। अतः विधि पूर्वक ग्रहण किया गया कारण ही कार्य करता है।

साध्य साध्य धर्म जे माँहे हुवे रे,

ते निमित्त अति पुष्ट।

पुष्प माँहे तिल वासक वासना रे,

नवि प्रध्वंसक दुष्ट ॥३॥

अर्थ—अब पुष्ट निमित्त का स्वरूप कहते हैं। साध्य—इष्ट कार्य करने योग्य धर्म जिसमें हों उस निमित्त को पुष्ट निमित्त कहते हैं। वह पुष्ट निमित्त भी विधि से कार्य करने के लिए विधि से ग्रहण करने पर कार्य करता है, वह कार्य का प्रध्वंसक-नाशक नहीं होता। इसे उदाहरण देकर समझाते हैं। जैसे, तेल को सुगंधित करने के लिए पुष्प कारण रूप

है, तेल को सुवासित करना साध्य है। सुगन्ध पुष्पों में है, वे पुष्प तेल को सुवासित करने के कार्य के ध्वंसक नहीं, अतः वे पुष्प निमित्त हैं। विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—“कार्यस्य आसन्ननिमित्तं इति तदेव पुष्टम्, दुश्तरं यत् कारणं तत् अपुष्टनिमित्तम्” जो निमित्त कार्य के समीप हो, वह पुष्ट निमित्त है, जो अतिदूर हो वह अपुष्ट निमित्त है। अतः निवारण साध्य परमात्मा अरिहन्त देव में है। जैसा कि पूज्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है—“पुष्टहेतु जितेन्द्रोज्यं मोक्षसद्भावसाधने” जितेन्द्र भगवान् मोक्ष के सद्भाव साधन में पुष्ट हेतु हैं। साधक का साध्य आत्मा का निरावरण-कर्मावरण से मुक्त करना है। ऐसा साध्य प्रभु में सिद्ध हो गया है, फलतः वे पुष्ट निमित्त हैं। विधि से सेवन कार्य हो तो मोक्ष साध्य की प्राप्ति होती है।

दण्ड दण्ड निमित्त अपुष्ट घड़ातणो रे,
नवि घटता तसु मांहि ।
साधक साधक प्रध्वंसक अच्छे रे,
तिण नहीं नियत प्रवाह ॥४॥

अर्थ —अब अपुष्ट निमित्त बतलाते हैं। दण्ड घट का अपुष्ट निमित्त है। कारण कि पुष्प में जैसे सुगन्ध का निवास है, वैसे दण्ड में नहीं, क्योंकि दण्ड में घट धर्म नहीं, दण्ड घट नहीं बनता। कर्त्ता की प्रेरणा पर घट कार्य निर्भर है। दण्ड कारणत्व का प्रयोग कर्त्ता के आधीन है, क्योंकि कर्त्ता दण्ड का प्रयोग घट बनाने में भी कर सकता है और घट ध्वंस में भी। इस कारण नियत प्रवाह निश्चय से एक ही कार्य करता हो, ऐसा नहीं है। जबकि अरिहन्त भगवन्त की सेवा तो निश्चय से सिद्धता का कारण है। सिद्धि कार्य की रुचि वाला अर्हत् भगवान् की आराधना, उपासना, सेवा करे तो निश्चित रूप से सिद्धता की प्राप्ति होती है।

षट् कारक षट् कारक ते कारण कार्य नो रे,
जे कारण स्वाधीन ।
ते कर्त्ता ते कर्त्ता सहु कारक ते वसु रे,
कर्म ते कारण पीन ॥५॥

अर्थ —अब कारण की पुष्टता कहने के लिए कारकों का वर्णन करते हैं। १. कर्त्ता, २. कर्म, ३. करण, ४. सम्प्रदान, ५. अपादान और ६. अधिकरण ये छह कारक हैं। ये प्रत्येक कार्योत्पत्ति में कारण भूत हैं। कर्त्ता कोई क्रिया करे, वहाँ ये छह कारक जानना चाहिये। यहाँ स्वयं सिद्धता रूप कार्य करने की क्रिया आत्मा करती है, तब छहों कारक होते हैं। कर्त्ता आत्मा का सिद्धता रूप कार्य आत्मा से अभिन्न है तो उसके कारक भी अभेद हैं। भिन्न कार्य का कर्त्ता भी भिन्न होता है तो सभी अन्य कारक भी भिन्न होते हैं, ऐसी नीति है। परन्तु, निमित्त कारण तो सभी कार्य में भिन्न ही होता है, अतः सिद्धि रूप कार्य के निमित्त कारण अहंन् वीतराग भी कर्त्ता से भिन्न हैं, उन्हें कारक उपादान रूप से सभी प्राप्त होते हैं।

इन छह कारकों में प्रथम कर्त्ता नामक कारक है, उसका लक्षण बताते हैं। जो कार्य करने में स्वाधीन हो, अर्थात् अन्य सभी कारक कर्त्ता के स्वाधीन रहते हैं। कहा भी है—“स्वतन्त्रः कर्त्ता” (पाणिनीय व्याकरणे) अथवा “कारणमह्वा छद्धा तत्त सतंतोत्ति कारणं कर्त्ता” भाष्य-सुधाम्बुधौ।” सभी कारक कर्त्ता के वसु-आधीन हैं। दूसरा कर्म कारक है। जो इष्ट हो और करने से हो वह कर्म कारक है। “कर्तुं रीप्सितमं कर्म” कर्त्ता जिसे करना चाहे वह कर्म है, “कम्मं किरिया करणं” क्रिया करना कर्म है।

कार्यं कार्यं संकल्पे कारक दशा रे,

छती सत्ता सद्भाव ।

अथवा तुल्य धर्म ने जोयवे रे,

साध्यारोपण दाव ॥६॥

अर्थ :—यहाँ कोई प्रश्न करे कि कर्म तो कार्य है, कारण नहीं है ? उसका उत्तर इस प्रकार है कि, प्रथम तो कर्त्ता को कार्य करने का संकल्प होता है। उस समय कर्त्ता उसको संकल्प रूप से विचारता है, तदनन्तर कार्य करता है, अतः उसे कारण कहते हैं। विशेषावश्यक में कहा है—“सर्वेपि बुद्धौ संकल्प्य कार्यं करोति” अर्थात् सभी कर्त्ता पहले बुद्धि में संकल्प कर विचार कर कार्य करते हैं। “इति व्यवहारस्ततो बुद्ध्यध्य वसितस्य कुम्भस्य चिकीर्षितो मृन्मयः कुम्भस्तद् बुद्ध्यालम्बनतया कारणं भवति ।” ऐसा व्यवहार है कि संकल्प के पश्चात् बुद्धि में निश्चित कर

कुंभ को बनाने की इच्छा करने से मृद्-मिट्टी उस बुद्धि के आलम्बन से कारण होती है अथवा स्थास आदि कार्य उस घर-निर्माण कार्य के कारण हैं। कर्त्ता के स्थासादि भी कार्य हैं। अथवा कार्य करने के मृत्-पिण्डादि मूल उपादान उसमें जो कार्य की स्थिति सत्ता में योग्यता रूप में रही हुयी है, वह कार्यत्व सत्तागत है, वह प्राग्भावी कार्य का कारण है। कहा है—“अथवा भव्यो योग्यः स्वरूपलाभस्य इति शक्यं उत्पादयितुमतः सुकरत्वात् कार्यमपि आत्मनः कारणमित्यते। अवश्यं च कर्मणः कारणत्व एष्टव्यम्।” स्वरूप-लाभार्थं भव्य होने योग्य है, अतः यह कार्य होना शक्य है, क्योंकि सुकरणीय है। यह कार्य भी, आत्मा को कारण रूप से इष्ट है। कर्म का कारणत्व अवश्य एष्टव्य है, अर्थात् इष्ट है। सद्भाव समीप में रहे हुए निमित्त उपादान को समीप करता है, कार्य के लिए कारण के सद्भाव को कार्य बुद्धि से प्राप्त करता है, अतः कार्य को कारण कहते हैं। अथवा तुल्य धर्म को देखना कि मुझे भी यह कार्य करना है। जैसे कोई भव्यात्मा मोक्ष/पूर्ण परमानन्द प्राप्त करने के लिए उद्यत होने पर वह सिद्ध रूप प्राप्त तत्त्व-अर्हन्त को देखता है और विचार करता है कि, ‘मुझे भी ऐसा स्वरूप प्राप्त करना है’ ऐसा संकल्प करके कार्य करें, क्योंकि तुल्य धर्म देखने से कार्य में तत्परता अधिक बढ़ती है, अतः कार्य भी कारण बन जाता है। पूज्य श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने कहा है—“यथा युक्तितो घटते तथा सुधिया कर्मणः कारणत्वं वाच्यम्, अन्यथा कर्माणि कारणत्वं करोति इति कारकम्, इति षण्णां कारकत्वमुपपत्तिरेव स्यात्। अर्थात् जो युक्ति से घटे-सिद्ध हो, पंडित को उसे कर्म का कारण कहना चाहिये। अन्यथा कर्म में कारणत्व करता है ऐसा लोक कहेंगे। इस प्रकार छहों ही कारकत्व की सिद्धि ही होती है। इस रीति से कर्म में कारणत्व मानना चाहिये। ऐसे ही कारकता है। साध्य का आरोपण करना यह कर्म का कारणत्व है।

अतिशय अतिशय कारण कारक करणता रे,

निमित्त अने उपादान ।

सम्प्रदान कारण पद भव नथी रे,

कारण व्यय अपादान ॥७॥

अर्थ :—उत्कृष्ट प्रतिशय से जिसका प्रवर्तन हो, वह तृतीय कारक कारण है। इसके दो भेद हैं—निमित्त और उपादान। आत्मा के सत्ताधर्म का भान कराने वाले निमित्त कारण अरिहन्त भगवान् हैं। अरिहन्त स्वरूप का दर्शन, पूजन, गुणों का मनन, गुणगान, स्मरण आदि से आत्म-भान होता है। इससे उपादान कारण में स्वरूप की अभिव्यक्ति का कार्य प्रारंभ होता है और उपादान अधिकाधिक कारणत्व प्राप्त करता है। यह कारण पर्याय का लाभ होने से सम्प्रदान है अर्थात् उपादान कारण में नव-नवीन पर्याय प्राप्त होना सम्प्रदान कारक है। अथवा नये-नये कार्य की पर्याय प्रकट होना सम्प्रदान है और पूर्व के कार्य पर्याय का व्यय/विनाश अपादान है। जीर्ण कारण पर्याय का नाश होने से नवीन कारणता की उत्पत्ति होती है। इस रीति से कार्य की निष्पत्ति सिद्धि होती है।

भवन भवन व्यय बिनु कारज नवी हुए रे,

जिम दृषदें न घटत्व ।

शुद्धाधार शुद्धाधार सुगुण नो द्रव्य छे रे,

सत्ता धार सुतत्त्व, ॥८॥

अर्थ :—कोई प्रश्न करे कि सम्प्रदान और अपादान में क्या कारणता है ! इसका उत्तर देते हैं—भवन-उत्पाद नवीन पर्याय की उत्पत्ति, व्यय-पूर्व पर्याय का नाश, इनके बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। जैसे मृत्-पिण्ड पर्याय का व्यय और स्थास पर्याय की उत्पत्ति, स्थास पर्याय का व्यय और कोश पर्याय की उत्पत्ति, कोश पर्याय का व्यय और कुशूल पर्याय की उत्पत्ति, कुशूल पर्याय का व्यय और कपाल पर्याय की उत्पत्ति, कपाल पर्याय का व्यय और घट पर्याय की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार घट कार्य सम्पन्न होता है। सिद्धता का कार्य भी इस तरह सम्पन्न होता है। आत्मा की अनादिकालीन मिथ्यात्व पर्याय का व्यय और सम्यक्त्व पर्याय की उत्पत्ति, प्राचीन बाधक भावों का व्यय और अभिनव साधक भावों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार व्यय और

उत्पाद का क्रम कार्य-सिद्धि में अनिवार्य है। इनके बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती है। जैसे दृषद्-पत्थर से घट बनाना कुम्भकार का कार्य नहीं है। यदि कुम्भकार मृत्तिका से घट-निर्माण के समान पत्थर से घट बनाना चाहे तो असंभव है। हाँ, पत्थर की वस्तु बनाने वाला शिल्पकार पत्थर का भी घट बना सकता है, पर कुम्भकार नहीं। प्रस्तर घट में मृत्तिका के समान पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल पर्यायों का व्यय एव उत्पाद नहीं होता, और न चक्र-दण्डादि साधनों का प्रयोग हो सकता है।

छद्मा अधिकरण बताते हैं। ज्ञानादि स्वगुणों का आधार आत्मा है, अर्थात् आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग, अव्या-बाध, अमूर्तता, अगुरुलघुत्व, अखण्डता, निर्मलता, कर्तृत्व, परिणामिकत्व, आदि मूल गुणों का आधार है। आत्मा जीव द्रव्य है, यद्यपि धर्मास्तिका-यादि सभी द्रव्य अपने-अपने गुणों के आधार हैं, पर उनमें कर्तृत्व तथा ज्ञान, दर्शनादि नहीं हैं, वे अचेतन हैं। अतः वहाँ कारकत्व की गवेषणा नहीं की गई है। शुद्ध आत्मतत्त्व को सत्ता का आधार है, उसी में कार-कत्व है। सत्ता आत्मा का मूल धर्म है। वह निरामय है और उसका आधार सुतत्त्व शुद्धात्मा है।

आतम आतम कर्त्ता कार्य सिद्धता रे,

वसु साधन जिनराज ।

प्रभु दीठे प्रभु दीठे कारज रुचि ऊपजे रे,

प्रगटे आत्म समाज ॥६॥

अर्थ :—अब उपनय करते हैं :—आत्मा का स्वरूप-रुचि होना, संसार-भ्रमण से बबराहट-भय होना, मोक्षाभिलाषी होना, सम्यग्दर्शन-तत्त्वश्रद्धा होना आदि सर्व का कर्त्ता आत्मा है। विरतित्व, आत्मतत्त्व का ध्यान एवं तत्त्व में तन्मयतादि का कर्त्ता आत्मा है, अर्थात् तत्त्वार्थी आत्मतत्त्व की शुद्धता का इच्छुक साधक कार्य सिद्धता, 'सकल गुणों की अभिव्यक्ति एवं निष्कर्ष-कर्म रहित अवस्था के प्रकट करने के साधन अरिहंत परमात्मा जिनराज हैं, क्योंकि परमात्मा के दर्शन से यथार्थ

भासन होता है। कारज रुचि-सिद्धता रूप कार्य की अर्थात् प्राग्भाव भोगी बनने की रुचि उत्पन्न होती है। वह रुचि ही सम्पूर्ण सिद्धता का मुख्य कारण है। वृद्धिगत रुचि ही साधना की भावना बनती है और ध्यानावस्था का आलम्बन लेने से पूर्वानन्दता प्राप्त होती है तथा आत्मसम्राज अर्थात् आत्मा का साम्राज्य प्रकट होता है। यह सच है कि मोक्ष का कर्त्ता आत्मा है, किन्तु मोक्ष की रुचि बिना कर्तृत्व प्रकट नहीं होता और वह रुचि वीतराग सर्वज्ञ के दर्शन से होती है, अतः अरिहन्त देव का दर्शन ही रुचि का कारण है। इस प्रकार मोक्ष रूप कार्य का कारण अरिहन्त भगवान् ही है। मेरा भी मोक्ष रूप कार्य सिद्ध हो, एतदर्थ यह उपकार करने वाले प्रभु श्री अरिहन्त देव को जानो।

वन्दन वन्दन नमन सेवन वलि पूजना रे,

स्मरण स्तवन वलि ध्यान ।

देवचन्द्र देवचन्द्र कीजे जगदीशनो रे,

प्रगटे पूर्ण निधान ॥१०॥

अर्थः—वन्दन, अभिवादन, स्तुति और नमन-मस्तक भुकाने रूप नमस्कार सेवन-आज्ञानुसार प्रवृत्ति करना, पूजन-चन्दन, कस्तूरी, बरास आदि से नवांग पूजा तथा पुष्पों से अलंकृत करना, स्मरण-बारम्बार प्रभु गुणों का स्मरण, स्तवन-राग-रागिणी-बद्ध प्रभु गुणों का गायन करना, ध्यान-प्रभु के गुणों में मन को एकाग्र करना, ये सब सिद्धता रूप कार्य के उपाय हैं, जो उत्तरोत्तर आत्मशुद्धि में सहायक हैं। स्तवन रचयिता श्रीमद् देवचन्द्र स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि देवचन्द्र ! जगदीश के ये उपर्युक्त वन्दनादि कर्त्तव्य करो, जिससे पूर्ण निधान-अनन्तगुण आत्मशक्ति, परमानन्द रूप निधान प्रकट हो। जिनेन्द्र भगवान की सेवा करने से स्वयं की परमात्मता प्रकट होती है। अविनाशी, आत्मधन की प्राप्ति होती है। यह देवाधिदेव श्री मुनिसुव्रत भगवान का परम उपकार है।

२१. श्री नमिनाथ जिनेन्द्र स्तवन

(राग — पीछोला री पाल ऊभा दोय राजवी)

श्री नमि जिनवर सेव, घनाघन ऊनग्यो रे । घ० ।

दीठा मिथ्या रोर, भविक चित थी गम्यो रे ।

शुचि आचरणा रीति, ते अन्न वधे बडां रे । ते० ।

आतम परिणति शुद्ध, ते बीज भबूकडां रे ॥ते० १॥

अर्थ:—अब श्री नमि जिनेश्वर जिनवर-समान्य जिनमें परम-श्रेष्ठ तीर्थंकर देव, वीतराग देव, परम-परमात्मा, शुद्ध स्वरूप भोगी, चिदानन्दधन, निर्विकारी देव का संयोग एवं दर्शन, उनके स्वरूप को पहचानना अत्यन्त दुर्लभ है । कहा भी है:—

“इदं दत्तं चक्रितं सुरमणी कल्पद्रुमस्स कोडीणं ।

लाभो सुलहो दुलहो, दंसणो तिथ्थनाहस्स ॥”

अर्थ:—इन्द्रत्व, चक्रित्व, सुरमणि-चितामणी, कल्पद्रुम-कल्प-वृक्षादि की कोटि-श्रेणी प्राप्त होना सुलभ है, किन्तु श्री तीर्थंकर भगवान् का दर्शन मिलना दुर्लभ है, अतः श्री जिनेश्वर देव का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है । वह दर्शन संसार-चक्र में फंसे, मोह से बेसुध बने एवं स्वतत्त्व से अज्ञ एवं दीन जीव को जिन-सेवा की उपलब्धि कहाँ से हो ? किसी पुण्यानुबन्धि पुण्य के उदय से जीव को जिन-दर्शन सेवा आदि का शुभावसर प्राप्त हुआ है । फलतः वह जीव हर्षोन्मत्त होकर कहता है कि जिनेन्द्र भगवान् की सेवा रूप घनाघन-मेघ ऊनग्यो-उमड़ रहा है, चारों ओर से काले काले बादल उमड़ रहे हैं ।

जैसे वर्षाकाल में आकाश मेघों से आच्छादित हो जाता है वैसे ही मेरे मन-गगन में और वचन तथा शरीर में श्री नमि जिनेन्द्र के प्रति बहुमान, पज्यभाव, नमनादि विनय प्रवृत्ति प्रभु-प्राप्ति के आश्चर्य रूप मेघों से आच्छादित हो रहे हैं। जैसे बादल चारों ओर से घटा रूप में आकाश पर उमड़ आते हैं, तो जन-जन के मन में से दुष्काल का भय पलायन कर जाता है वैसे ही मेरा भी मिथ्यात्व रूपी गौरव अर्थात् नरक या पुण्य के दुष्काल का भय मन से दूर हो गया। मिथ्यात्व के चले जाने से अब शुचि-पवित्र आचरण रीति स्वरूप मेघ उमड़-उमड़ कर चले आ रहे हैं। प्रभु-भक्ति रूप मेघ में शुचि आचरण हो जाने से अविधि एवं आशातना रहित तथा पौद्गलिक सुख की आशंसा से मुक्त उत्तम आचरण हो रहा है, वही मेघाडम्बर है। वे ही अभ्र-पटल बढ़े-बढ़ते हुए आ रहे हैं।

मेघों में जैसे विद्युत्-विलास होता है वैसे ही प्रभु-भक्ति रूप में प्रभु की सेवा करते हुए आत्म-परिणति की शुद्धता रूप बीज भबूकड़ा-बिजनी का बारम्बार चमकना चल रहा है, अर्थात् आत्म परिणति में ज्ञान का प्रकाश पुनः पुनः हो रहा है।

वाजे वायु सुवायु, ते पावन भावना रे, । ते० ।

इन्द्र धनुष्य त्रिक योग, ते भक्ति एक मना रे । ते० ।

निर्मल प्रभु स्तव घोष, ध्वनि घन गर्जना रे । ध्व० ।

तृष्णा गीष्म काल, तापनी तर्जना रे ॥ ता० २ ॥

अर्थ:—जिस प्रकार पावस ऋतु में मेघ को बरसाने वाली अच्छी वायु अर्थात् पूर्वी हवा चलती है, उसी प्रकार प्रभु भक्ति रूप मेघ में भी प्रभु के गुणों के प्रति बहुमान स्वरूप उत्तम-पावन पवित्र भावना रूप सुवायु-अच्छी हवा चल रही है। जैसे वर्षाकाल में मेघों की घटा में इन्द्र-धनुष-विविध रंगों से बनी धनुषाकार रेखाएं दृष्टिगोचर होती हैं; जो अधिक वर्षा की सूचक होते हैं, वैसे ही प्रभु-भक्ति रूपी मेघ घटा में त्रिक योग-मनो वाक् काय रूप योगों की भक्ति में एकमता-एक स्वरूपता

हो जाती है, अर्थात् तीनों ही भक्ति में तत्त्वीन हो रहे हैं, यही भक्ति रूप मेघ में इन्द्र-धनुष है। जैसे मेघ घटा में गर्जन होता है, वैसे ही प्रभु-सेवा रूप वारिवाह में प्रभु के निर्मल गुणों के स्तवन की मधुर ध्वनि ही गर्जना है तथा जगत् में वर्षाकाल में मेघ वृष्टि होने पर ग्रीष्मकालीन ताप शान्त हो जाता है वैसे ही प्रभु भक्ति रूप मेघवृष्टि होने पर जीवों को अनादिकालीन तृष्णा-विषय सुख की पिपासा रूप अंतरंग ताप की तर्जना-वेदना शान्त हो जाती है।

शुभ लेश्यानी आलि, ते बग पंक्ति बनी र । ते० ।

श्रेणी सरोवर हंस, वसे शुचि गुण मुनि रे । व० ।

चउगति मारग बंध, भविक निज घर रह्यो रे । भ० ।

चेतन समता संग, रंग में ऊमह्यो रे, ॥ रं० ३ ॥

अर्थः—जिस प्रकार वर्षा ऋतु के आकाश में मेघ की श्यामवर्णी घटाओं के नीचे बक-पंक्ति-बगुलों की हारमाला जैसी आकृति शोभित होती है वैसे ही प्रभु-भक्ति रूपी श्याम वर्ण मेघों के नीचे शुभ लेश्या-तेजो पद्म शुक्लवर्ण के शुभ मनः परिणाम शोभायमान लग रहे हैं। जैसे पावन ऋतु में हंस पक्षी सरोवर में निवास करते हैं वैसे ही शुचिगुणवान मुनिराज अपने पवित्र गुणों में अथवा प्रभु-भक्ति में ध्यानारूढ़ उपशम श्रेणी एवं क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर आत्मभाव में रमण करते हुए केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे वर्षाकाल में चारों दिशाओं के मार्ग बन्द हो जाते हैं वैसे ही प्रभु-भक्ति में तन्मय बने आत्मा का चतुर्गति गमन बन्द हो जाता है। अर्थात् प्रभु सेवन से आत्मा का चतुर्गति अमण बन्द हो जाता है।

वर्षा ऋतु में जगत् के प्राणी-मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि अपने निवास गृहों में रहते हैं तथैव अनादि समय से उद्धत परभावाभिलाषी आत्मा जो अनेक प्रकार के विषय विकार रूप भावों में रमण करता था, उसे श्री प्रभु-भक्ति रूपी निमित्त की प्राप्ति हुई और वह चेतन अब

अपनी समता के संग रंग में मोहित हो गया अर्थात् उसी समता के संग में स्वगृह में ही रमण कर रहा है। स्वात्म-स्वभाव में रंगरेलिया कर रहा है।

सम्यग् दृष्टि मोर, तिहां हरखे धरुं रे ।ति०।

देखी अद्भुत रूप, परम जिनवर तरुं रे ।प०।

प्रभु गुण नो उपदेश, ते जलधारा बही रे ।ते०।

धर्म रुचि चित भूमि, मोहे निश्चल रही रे ।मो० ४।

अर्थ:—जिनभक्ति रूप मेघाडम्बर देखकर साम्यग् दृष्टि तत्त्व-रुचि प्रात्मारूप मयूर अति हर्षित हो रहे हैं, आनन्दित होकर नृत्य कर रहे हैं। श्री तीर्थंकर देवाधिदेव का रूप कसा है? अत्यन्त अद्भुत है। सर्वोत्कृष्ट है। अनन्तरवासी तथा सर्वशक्तिशाली समस्त देवों का मिलकर भी वैसा रूप विकुर्वित करना चाहें तब भी नहीं कर सकते हैं। वे प्रभु के पांव के अंगुठे जैसा भी रूप नहीं बना सकते हैं। ऐसा परम शीतल निर्विकार प्रभु परमेश्वर का रूप देखकर वर्षाकाल में मोर को तरह सम्यग्दृष्टि जीव आनन्दित होते हैं।

तीर्थंकर प्रभु की भक्ति में तल्लीन बने हुए तत्त्वरुचि भवतजीव अपनी रसना से प्रभु गुण का स्तवन करते हैं, उस प्रभुगुणगान रूप जल का प्रवाह बह रहा है। जैसे वर्षा ऋतु में मेघ वर्षण से स्थान-स्थान पर जल प्रवाह धारा रूप में बहता है वैसे ही गुणगायन रूप जल धारा प्रवाहित हो रही है और धर्मरुचि वाले आत्माओं की चित्तभूमि में एकत्र होकर निश्चल हो रही है। जैसे वर्षाकाल में जलप्रवाह सरसी आदि जलाशयों में एकत्र होता है वैसे ही तत्त्वरुचि जीवों के चित्त में प्रभु गुणों की जलधारा निश्चल होकर ठहर जाती है, निश्चल हो जाती है।

चातक श्रमण समूह, करे तब पारणो रे ।क०।

अनुभव रस आस्वाद, काल दुख वारणो रे ।का।

अशुभाचार निवारण, तृण अंकूरता रे ।तृ०।

विरति तणा परिणाम, ते बीजनी पूरता रे ।ते. ५।

अर्थ —प्रभु-सेवा-भक्ति रूप जलधारा बरसने पर श्रमण/निग्रन्थ तत्त्व-रसिक महामुनि रूप चातक-पपीहा पारणा करते हैं, अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर जिस तत्त्व स्वरूप-स्वयं के अनुभव की पिपासा उत्पन्न हुयी थी, वह पिपासा जिन भक्तिरूप कारण पाकर आत्म-स्वरूप के यथार्थ ज्ञानमय अनुभव रस का आस्वादन रूप पारणा कर तृप्त होती है। वह पारणा/सन्तुष्टि सकल दुःख-सांसारिक विभाव रूप कर्मभार-उग्रता से गुणावरण रूप भार को वारणो अर्थात् दूर करने वाला है, संसार के जन्म-मरण रूप दुःख का निवारण करने वाला है। जैसे वर्षा ऋतु में नवीन हरित तृण दूर्वा आदि सर्वत्र वनों एवं उपवनों में उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही मनोभूमि में शुभ आचार रूप तृणादि के उत्पन्न हो जाने पर अशुभाचार का निवारण हो जाता है। वर्षाकाल में कृषक गण विभिन्न प्रकार के बीजों का वपन करते हैं, जिससे भांति-भांति के फल, फूल, शाक, सब्जियाँ आदि प्राप्त होती हैं, वैसे ही भव्य जीव भी प्रभु-भक्ति रूप वर्षा समय में अनेक प्रकार के दान, शील, तप तथा भावना रूप बीज के वपन से मनुष्य एवं देवादि भवों में सुख-समृद्धि प्राप्त कर अन्त में मोक्षरूप फल प्राप्त करते हैं।

पंच महाव्रत धान्य, तणा कर्षण वध्यां रे ।त०।

साध्य भाव निज थापी, साधनतायें सध्या रे ।सा०।

क्षायिक दर्शन ज्ञान, चरण गुण ऊपना रे ।च।

आदिक बहु गुण सस्य, आतम घर नीपना रे ।आ० ६।

अर्थ :—वर्षाकाल में बोये गये बीज उगते हैं और बढ़ते हैं। प्रभु भक्ति के समय में भी मनोभूमि में विरति के बीजों का वपन भक्तगण

करते हैं, वे अद्भुत होकर द्रव्य भाव रूप पंच महाव्रतों को धान्य रूप में धारण करते हैं। फलतः उत्सर्गावलम्बी महाव्रतों का निरतिचार पालन होने से ध्यान रूप कर्षण दिन-दिन वृद्धिगत होते हैं। अर्थात् साध्यभाव को निजथापि-अपने में स्थापित करने से वे ही महाव्रत साधनता रूप में साध्य-सिद्ध हो गये। सारांश यह है कि आत्मा की सत्ता को पूर्णतः प्राग्भाव बनानी है। उसे साध्य रूप में स्थापित करने से वे महाव्रत परिणति रूप साधना में परिणत हो गये, जिससे क्षायिक केवलदर्शन, केवलज्ञान, क्षायिक चारित्र, यथाख्यात चारित्र और अनन्त बल ऊपना-उत्पन्न हो गये। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों के क्षय हो जाने से उपर्युक्त गुण प्रकट होते हैं। इनकी अनन्तता रूप सस्य-धान्य आत्म रूपी क्षेत्र में जिन सेवना रूपी वर्षा से अंकुरित होकर वृद्धिगत हो गये हैं। अर्थात् आत्म प्रदेश इन सब गुणों की पूर्णता से सम्पन्न हो गये हैं।

प्रभु दर्शन महामेह, तणो प्रवेश में रे, ।त०।

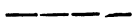
परमानन्द सुभिक्ष थयो, मुभ देश में रे ।मु०।

देवचन्द जिनचन्द तणो अनुभव करो रे ।त०।

सादि अनन्तो काल, आतम सुख अनुसरो रे ॥आ० ७॥

अर्थ :—ऐसे इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथ भगवान देवाधि-देव परमदयालु गुणसमुद्र जगत्रय जीवों के भाव भास्कर और कर्म रोग के महावैद्य के दर्शन रूप महामेह धनधोर वृष्टि होने से अर्थात् प्रभु की मुद्रा का दर्शन अथवा शासन, दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यक्त्वरूपी महावृष्टि के होने पर परमानन्द-श्रेष्ठ आनन्द रूप सुभिक्ष-सुकाल, धान्य, पुष्प, फल, तृण आदि की प्रचुरता से मुभ देश में-मेरी आत्मा के असंख्य प्रदेशों में गुण रूपी बीजों का वपन, अंकुरण और वर्द्धन होने से धान्य की बालियाँ पक्व हो जाने से सुभिक्ष हो गया है। सुकाल होने से संसार भ्रमण रूप दुष्काल का भय दूर हो गया है। अतः हे प्रिय भग्यात्माओं! आप भी देवचन्द-सर्व देवों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि एवं इन्द्र-अहमिन्द्रों में चन्द्र-श्रेष्ठ शीतल, सौम्यनयन मुख मुद्रा तथा कान्ति

वाले श्री जिन चन्द्र वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान के अनन्त ज्ञानादि गुणों का अनुभव-आस्वाद करो। अथवा स्तुतिकार श्रीमद् स्वयं को ही सम्बोधित कर उपर्युक्त उद्बोधन दे रहे हैं। प्रभु के अनन्त गुणों का अनुभव करो, जिससे वे गुण अभिव्यक्त हों, उनका बहुमान करो, जिससे थोड़े ही समय में सादि-जिसकी आदि है, अनन्त-जिसका अन्त नहीं है ऐसा अविनाशी आत्म-सुख जो मुक्तावस्था-कर्मों से सर्वथा मुक्त है उस सिद्धरूप को अनुसरो-प्राप्त करो। हे भव्य बन्धुजनों! आप निर्मलानन्द पूर्ण स्वरूप-भोगी श्री जिनेश्वर देव के गुणों का बहुमान और उनकी आज्ञा का पालन करो। ये दोनों कार्य सम्पूर्ण सद्धि के दाता हैं। इससे अक्षय आत्मिक-सुख एवं अविनाशी आत्म-सम्पदा प्राप्त होती है। यह स्वसम्पदा प्रकट करने का निश्चित रूप से पुष्ट उपाय है।



२२. श्री अरिष्टनेमि जिनेन्द्र स्तवन

(राग—पद्मप्रभ जिन जई अलगा बस्या)

नेमि जिनेश्वर निज कारज कयुं,

छांड्यो सर्व विभावो जी ।

आतम शक्ति सकल प्रकट करी,

आस्वाद्यो निज भावो जी ॥नेमि० १॥

अर्थ :—श्री अरिष्टनेमि जिनेश्वर की स्तवना करते हैं । यादव कुल-तिलक महोपकारी करुणा-सिंधु श्री नेमिनाथ जिनेश्वर ने निज कारज-आत्मा को कर्मों से मुक्त करने का स्वयं का कार्य किया । अपनी आत्मा को कहीं भी किंचिदपि कर्मों से मलिन नहीं बनाया और आंबाल ब्रह्मचारी रहे । राज परिवार के माननीय सदस्य होने पर भी राज-कार्य में कभी कोई भाग नहीं लिया । छांड्यो सर्व विभावो-अर्थात् समग्र चार निक्षेपों से अन्तरंग रागादि और बाह्य भोग सामग्री आदि समस्त विभावों का आपने परित्याग कर दिया । आतम शक्ति-आत्मा में रही हुई अनन्त सकल-सम्पूर्ण ज्ञान दर्शनादि-अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, अवर्ण, अगन्ध, अरस, अस्पर्श, परम असगता, अयोगित्वरूप, स्वप्रभुत्व, विभुत्व, कारणत्व, कार्यत्व, व्यापकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, अस्तित्व, भेदत्व, अभेदत्व, कारकत्व, पारिणामिकत्व, सत्त्व, सप्रमेयत्व, द्रव्यत्व, ईश्वरत्व, सिद्धत्व, अखण्डत्व, आत्म-समाधि रूप सकल-सर्व शक्तियाँ प्रकट की और आस्वाद्यो निज भावो-निरावरण स्वरूप स्वभाव का आस्वादन किया । स्वरूप का रस भोग । स्वरूप का भोक्तृत्वरूप से स्व-ज्ञानादि भाव का भोग किया । ऐसे श्री अरिष्टनेमि भगवान की स्तुति मुझे भी स्वरूप का-स्वयं की अनन्त शक्तियों का भान करा कर उसे प्राप्त करने की प्रेरणा करेगी ।

राजुल नारी रे सारी मति धरी,

अवलम्ब्या अरिहंतो जी ।

उत्तम संगे रे उत्तमता वधे,

सधे आनन्द अनन्तो जी ॥नेमि.२॥

अर्थ :—राजुल/राजीमती जो उग्रसेन नृपति की कन्या थी और जिसका श्री कृष्ण वासुदेव के आग्रह से, उग्रसेन राजा ने नेमि-कुमार के साथ वाग्दान कर दिया था । विवाह के समय तोरण के समीप आकर भी पशुओं की चीत्कारों से वे कष्टाभाव से द्रवित हो गये थे तथा तोरण से वापिस लौट गये थे । राजकुमारी राजुल के लिए अनेक वर प्रस्तुत थे, परन्तु उसने भारतीय नारी के आदर्श पर उन्हें अस्वीकार कर दिया था । प्रभु ने दीक्षा ले ली । उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होने पर राजुल ने भी दीक्षा ले ली । कवि कह रहे हैं कि राजुल नारी ने संयम धारण करने की सारी-बहुत श्रेष्ठ बुद्धि धरी-धारण की और गृह-परिवार एवं परिजनों का संग त्यागकर अवलम्ब्या अरिहंतों-तीर्थंकर अरिहंत पर प्रवास्त राग धारण कर उनका ही अवलम्बन-आश्रय लिया । राजकुमारी ने विचार किया कि मेरे द्वारा वरण किये गये मेरे स्वीकृत पति ही मेरे मात्र आधार हैं । वे ही ससार में सर्वोत्तम पुरुषवर-पुण्डरीक हैं । यदि शारीरिक सम्बन्धों से मुक्त हो गये तो क्या ? मेरे आत्मा के सम्बन्धों से नहीं छूट सकते । ऐसी भावना से वह साध्वी बन गयी । संग के अनुसार उन्नति और अवनति होती है । राजुल को भी केवलज्ञान हो गया । उत्तम के साथ उत्तमता की वृद्धि होती है । और, अनन्त आनन्द सिद्ध प्राप्त होता ही है । अनन्त आनन्द अर्थात् आत्यन्तिक, ऐकान्तिक निर्द्वन्द्व, निरामय और जिसका कभी अन्त न हो ऐसा सुख प्राप्त किया । भव्य जीवों को भी राजुल जैसा ही अनन्त आनन्द को प्राप्त करने के लिए अरिहन्त भगवन्त का आलम्बन-आश्रय लेना चाहिये जिससे अनन्त मोक्ष सुख का आनन्द प्राप्त हो ।

धर्म अधर्म आकाश अचेतन,

तेह विजाति अग्राह्यो जी ।

पुद्गल ग्रहवे रे कर्म कलंकता,

वाधे बाधक बाह्यो जी ॥नेमि० ३॥

अर्थ :—अब राजीमती राजकुमारी ने जो विचार किया उसका वर्णन करते हैं । सर्व लोक में पञ्चास्तिकाय है और छट्ठा कालद्रव्य औपचारिक द्रव्य है वह अस्तिकाय नहीं है, अर्थात् सत् रूप द्रव्य नहीं है । अनुयोगद्वारा सूत्र में तथा विशेषावश्यक भाष्य में भी उपचार रूप द्रव्य से काल का उल्लेख है । पञ्चास्तिकाय में भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय अचेतन द्रव्य हैं, जो विजातीय हैं, स्वतन्त्र हैं, अग्राह्य है, अपरिणामी हैं और जो अचल होने से ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं, अतः इनसे मुझे कोई कार्य नहीं है । पुद्गलास्तिकाय के साथ मेरा चिरकालीन सम्बन्ध होने से उसे ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि यह पारिणामिक और चल है । किन्तु, इसके ग्रहण के साथ कर्मों का कलंकत्व है अर्थात् शुभाशुभरूप कर्मों का ग्रहण होने से आत्मा कलंकित बनती है और पर-वस्तु के ग्रहण से चोरी का कलंक दोष लगता है तथा नदीन शुभाशुभ कर्मों के बन्ध होते हैं, इसके फल स्वरूप बाधक भाव परकर्तृत्व, स्वगुण रोधकता और चेतनादि गुणों की विपर्यासिता वाधे-वृद्धि है, अर्थात् ज्ञानादि गुणों के विपरीत भाव अज्ञानादि बढ़ जाते हैं । पुद्गलादि को ग्रहण करते-करते तो अनन्तकाल बीत गया जिससे आत्मा का अहित ही हुआ है और जीव शुभाशुभ कर्मों को भोगने के लिए चतुर्गति में भ्रमण करता ही रहा है । अतएव पुद्गल के संग में बाह्य भीड़ मात्र शुभाशुभ पुद्गलों का ग्रहण न करना ही श्रेयस्कर है । उत्तम बुद्धिमान जन इन्हें ग्रहण नहीं करते । ऐसा राजीमती ने विचार कर निर्णय किया कि अब मुझे इन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि इसके ग्राहक अनन्त जीव निगोद में ही पड़े रहते हैं ।

रागी संगे रे राग दशा वधे,

थाये तिण संसारो जी ।

नीरागी थी रे रागनुं जोडवुं ।

लहिये भव नो पारो जी ॥नेमि० ४॥

अर्थ :—आत्मा पाँचवा अस्तिकाय द्रव्य हैं। आत्मा अनेक है, अनन्त हैं, स्वजातीय हैं, एक धर्मी हैं, इसी कारण आत्मा एक दूसरे को ग्रहण कर, अपना मानकर परस्पर राग सम्बन्ध करते हैं। किन्तु, इसमें भी एक दोष है। संसारी जीव मात्र राग-द्वेष सहित हैं और उस जीव के संग राग करने से स्वयं की राग दशा बढ़ती है तथा राग दशा अभिनव कर्मबन्ध की हेतु है। जिनागमों को पढ़ने पर ज्ञात होता है कि आत्म-धर्म तो ज्ञानादि हैं। रागादि तो पुद्गल के धर्म-स्वभाव हैं, आत्मा के नहीं। रागादि दोष होने से वे त्यागने योग्य हैं, क्योंकि इनसे संसार-भ्रमण बढ़ता है, अतएव इनका संग करना उचित नहीं है। इनके स्थान पर नीरागी-वीतराग-देव परम-श्रेष्ठ चारित्रवान् सर्व परभावत्यागी से राग करना चाहिये। भगवान् श्री नेमिनाथ से राग सम्बन्ध बाँधने से भवनो पार-संसार सागर से पार हो जाते हैं।

यद्यपि राग का भी क्षय तो करना ही है तथापि राग का आधार परिवर्तित हो जाय तो राग भी परिवर्तित हो जाता है। आत्मा को भी प्रशस्त गुण राग के द्वारा स्वरूप का भान होता है और वह एक दिन राग का क्षय करने में समर्थ होकर क्षय कर देता है, अतः नीरागी से राग करने से वह संसार से निस्तार कर देता है। वीतराग का राग स्वयं को वीतराग बना देता है।

अप्रशस्तता रे टाली प्रशस्तता,

करतां आस्रव नाशे जी ।

संवर वाधे रे साधे निर्जरा,

आतम भाव प्रकाशे जी ॥नेमि० ५॥

अर्थ :—अतः अप्रशस्तता-कामराग, रूपराग, आदि अप्रशस्त-राग होते हैं, टाली-उनका परित्याग करके वीतराग अर्हन्त से प्रशस्त राग करना चाहिये, क्योंकि गुणों और गुणवानों का राग प्रशस्त राग है और वह साधनाकाल में उपयोगी है। इस प्रशस्त राग से अशुभ कर्म नष्ट होते हैं, अशुभ कर्मों का आस्रव रुक जाता है, संवर-संयम वृद्धि होती है, और पूर्वकृत् बद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। पुनः प्रशस्त रागी आत्मा गुणवानों का अवलम्बन लेकर जीवन यापन करता है, जिससे स्वगुणों की एकत्वता बढ़ती है। स्वगुण एकत्व के परिणामों से संवर बढ़ता है और पूर्वकृत् कर्मों की निर्जरा-परिशादन (आत्मप्रदेशों से हटकर नष्ट होना) भी हो जाता है। संवर एवं निर्जरा होने से आत्मा का स्वभाव धर्म एवं अरूपित्व शक्ति प्रकाशित हो जाती है, अर्थात् आत्मा कर्मावरण से मुक्त हो जाती है।

नेमि प्रभु ध्याने रे एकत्वता,

निज तत्त्वे एक तानो जी।

शुक्ल ध्याने रे साधि सुसिता,

लहिये मुक्ति निदानो जी ॥नेमि० ६॥

अर्थ :—राजकुमारी राजीमती ने यही विचार कर प्रभु का अवलम्बन लिया, क्योंकि श्री नेमि प्रभु के ध्यान से एकत्वता/तन्मयता करने पर साधक निज-स्वयं के तत्त्वे-आत्मस्वरूप में एकतान-एकरूप बन जाता है और जब स्वरूप में एकत्व की प्राप्ति हो जाती है तो शुक्ल ध्यान होता है। शुक्ल ध्यान से स्वयं की साध्यता-सिद्धत्व रूप की सिद्धि प्राप्त होती है। यही मुक्ति का निदान-मूल कारण है, जो उप-युक्त रीति से मिलता है।

आगम अरूपी रे अलख अगोचर,

परमात्म परमीशो जी।

देवचन्द जिनवर नी सेवना,

करतां बाधे जगीशो जी ॥नेमि० ७॥

अर्थ :—अतएव समस्त आत्मार्षी भव्यजन आध्यात्मिक सुख हेतु ऐसे तत्त्व की उपासना करें। जो अगम है अर्थात् जिन्हें अज्ञानी जीव जान नहीं सकते। जो अरूपी है अर्थात् जिनके कोई वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान नहीं है। जो अलख है अर्थात् पौद्गलिक भौतिक सुखों के अभिलाषी, एकान्तवादी, नैयायिक, वेदान्ती, सांख्य, मीमांसक, वैशेषिक, बौद्ध, नास्तिक तथा एकान्त द्रव्य दया के पक्षधर विकृत जैन लिंगी आदि द्वारा अलख/पहचानें नहीं जा सकते। जो अगोचर हैं अर्थात् इन्द्रिय गोचर नहीं, चक्षु से नहीं देखे जा सकते। वे अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। वे अतीन्द्रिय ज्ञान-अवधिज्ञान, मनपर्यवज्ञान, केवलज्ञान द्वारा जाने एवं देखे जा सकते हैं। अथवा सापेक्ष स्याद्वाद ज्ञान से श्रद्धेय हैं और ध्यान-धारा द्वारा अनुभूत हैं, गोचर हैं। वे परमोत्कृष्ट सर्व विभाव-रहित एवं अनन्त गुण प्राग्भाव रूप आत्मा हैं। परमीश-उत्कृष्ट अविनाशी सहज अनन्त गुण पर्याय धर्म के ईश-स्वामी हैं। वे भगवान् नरदेव-चक्रवर्ती, भाव देव-भुवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक चतुर्निकाय के देवता तथा धर्मदेव-जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, प्रतिभा प्रतिपन्न, परिहारविशुद्धि कल्प वाले, सूक्ष्म सम्प्राय गुणस्थान-वर्ती, उपशान्त मोही, क्षीण मोही, गणधर, आचार्य, उपाध्याय, पूर्वधर, श्रुतधर, सामान्य मुनि इन सर्व में चन्द्रवत्-नायक/शासनपति एवं मार्गदर्शक हैं। ऐसे श्री जिनवर-तीर्थंकर भगवान की सेवना-आज्ञा शिरोधार्य करने एवं पालन करने से साधक-सम्पदा तथा सिद्धात्म रूप सम्पदा वाधे-बढ़ती है। इस कारण श्री तीर्थंकर भगवान की सेवना परम प्रधान है। द्रव्य से वन्दन नमन-और भाव से गुणों के प्रति बहुमान एवं आत्म-प्रमाणता रूप सेवा करते हुये अनन्त जीव सिद्ध हो गये और भविष्य में अनन्त सिद्ध होंगे, यही सिद्धता का सफल उपाय है।

२३. श्री पार्श्व जिनेन्द्र स्तवन

(राग-रागगिरि, कडखा नी देशी)

सहज गुण आगरो स्वामी सुख सागरो,

ज्ञान वयराग रो प्रभु सवायो ।

शुद्धता एकता तीक्ष्णता भाव थो,

मोह रिपु जीति जय पडह वायो ॥स०१॥

अर्थ :—अब पुरुषादानीय पार्श्वनाथ परमेश्वर की स्तुति करते हैं । इसमें पार्श्वनाथ प्रभु कैसे हैं ? इसका वर्णन है । सहज—स्वाभाविक/अकृत्रिम आत्मा के मूल-धर्म ज्ञानानन्द के आगर-आकर खान/उत्पत्ति स्थान हैं । अर्थात् अनन्त आत्मगुणों के भण्डार हैं । स्वामी—स्व-सम्पत्ति के अधिपति हैं । सुख सागर—सुख के समुद्र हैं अर्थात् अतीन्द्रिय, स्वाधीन, निरामय, निष्प्रयास एवं अविनाशी सुख के सागर हैं । निःसंग सुख के पात्र हैं । ज्ञान-वैरागरो—ज्ञान रूपी वज्र-हीरे की खान हैं । सर्वदा श्री पार्श्वनाथ सवायो—सबसे बढ़कर हैं । शुद्धता—ज्ञान की यथार्थता, आत्मा की निर्मलता, एकता, चारित्र की स्वरूप तन्मयता एवं तीक्ष्णता—वीर्य शक्ति की तीव्रता से सम्पन्न हैं । वीर्य की तीक्ष्णता असि-धारा है, चारित्र की एकता रूप सेनानायक द्वारा मिलने वाली प्रेरणा है तथा ज्ञानरूपी प्रकाश के दर्शक, —मशालची या प्रकाशधारक व्यक्ति हैं । उक्त तीनों के मिलने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है । जैसे बाह्य शत्रुओं से घिर जाने पर उपरि निर्देशित वस्तुओं द्वारा मुक्त होते हैं तथैव आत्मा भी कर्मशत्रु से मुक्त होता है । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि उपर्युक्त गुणों में सम्यग्दर्शन का उल्लेख क्यों नहीं किया ? उत्तर—ज्ञान के साथ उसका ग्रहण हो जाता है, क्योंकि

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान अज्ञान रूप ही रहता है। वस्तुतः ज्ञान शब्द का प्रयोग सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान के लिए ही होता है, अतः ज्ञान में दर्शन की नियमा है। वीर्य की तीक्ष्णता से तप का ग्रहण होता है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है—

“नाराणं पयासगं सोहगो उ तवो संजमो उ गुप्तिकरो ।

तिण्हम्मि समाओगो मोवखो जिणसासणे भणियो ॥”

अतः ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है और संयम गुप्तिकर-रक्षक है। तीनों के समायोग से जिन शासन में जीवों का मोक्ष कहा है अर्थात् शुद्धता एकता और तीक्ष्णता से मोहरिपु को जीतकर ज्ञान दर्शन चारित्र तथा तप के बल से मोहादि कर्म शत्रुओं को नष्ट कर श्री पार्श्वनाथ भगवान ने जय का पटह बजायो—जीत का डंका बजाया, जय की उद्घोषणा की।

वस्तु निज भाव अविभास निःकलंकता,

परिणति वृत्तिता करि अभेदे ।

भाव तादात्म्यता शक्ति उल्लास थी,

सन्तति योग ने तू उच्छेदे ॥स० २॥

अर्थ :—अब शुद्धतादि उपर्युक्त गुणों का स्वरूप बताते हैं। वस्तु अर्थात् जीवादि षड्द्रव्य व उन जीवादि के निज भाव—गुण पर्याय रूप स्वभाव के उत्पाद-व्यय एवं परिणति का अवभास-जानना ही ज्ञान है। परिणति-जीव के शुद्ध मूल परिणाम के स्वरूप में एकत्व हो तो परभाव का प्रवेश नहीं होता, ऐसी परिणति आपकी है। विभावरंगी संसारी जीव की तो वह मूल परिणति चारित्र मोहनीय कर्म से आवृत-आच्छादित रहती है। इससे वृत्तिता उसका वर्तन-आचारण भी राग द्वेष मुक्त एवं पुद्गल भोगी के रूप में होता है। उस वृत्तिता को आपने स्वरूप रमणी बना लिया है। इससे आपकी परिणति एवं वृत्तिता-प्रवृत्ति दोनों ही एक रूप हो गयी है, अर्थात् परिणति के अनुसार प्रवृत्ति

भी वैसी ही हो जाती है। आप में दोनों एक-रूप हो गयी हैं। आपने दानों को अभेद रूप कर दिया है, इसे ही एकता कहते हैं। पुनः भाव-तादात्म्यता-शक्ति अर्थात् संसारी जीव के विभाव तज्जन्य हैं, वे तदुत्पत्ति सम्बन्ध से हैं। ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म, संयोग सम्बन्ध से हैं। इस तादात्म्य सम्बन्ध की आत्मिक-शक्ति क्षायिक वीर्य के उन्नास से सन्तति योग-परम्परा से चले आ रहे कर्मों के संयोग-सम्बन्ध को आपने उच्छेद-काट डाला, पृथक् कर दिया। अर्थात् ज्ञानावरणीयादि कर्मों की प्रकृति, स्थिति, रस प्रदेशों का बन्ध जिसमें स्थिति-परिमाण रहता है। कर्मों का आत्म-प्रदेशों के साथ सम्बन्ध असंख्य काल का है, उत्कृष्ट सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरोपम का है। परन्तु एक सम्बन्ध का विपाक भोगते हुए प्रति-समय अनेक बंध बंधते रहते हैं। अर्थात् कर्म पुद्गल के एक-समय के बन्ध का संयोग तो आदि सान्त है, परन्तु अभिनव बंध तो परम्परा से अनादि है। जैसे पिता से पुत्र, पुनः पुत्र से पुत्र, उससे भी पुत्र की परम्परा है। उनके प्रत्येक के आयु प्रमाण से वे रहते हैं, परन्तु सन्तान परम्परा तो बहुत काल तक चलती ही रहती है, वैसे ही कर्म की परम्परा है। वे ही वे कर्म अपनी स्थिति परिमाण से रहते हैं, परन्तु पूर्व कर्म को भोगते हुए नवीन का बंध होता है। उसे भोगते हुए पुन नवीन कर्म का बंध होता रहता है। उस सन्तति-योग का आप आत्मवीर्य की तोक्षणता के बल से सर्वथा उच्छेद कर देते हैं। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, एवं वीर्य के बल से अनादि कर्म सम्बन्ध का आपने विनाश कर दिया है। हे प्रभो ! यह शक्ति आपमें ही है, अन्य में नहीं। यह कार्य करके आप निरावरण हो गये हैं।

दोष गुण वस्तु नी लखिय यथार्थता,

लही उदासीनता अपर भावे ।

ध्वंस तज्जन्यता भाव कर्त्ता परा,

परम प्रभु तू रम्यो निज स्वभावे ॥स० ३॥

अर्थ :—अब पुनः इन्हीं शुद्धता, एकता और तीक्ष्णता इन तीनों का अर्थान्तर कहते हैं। वस्तु, धन, वनिता, वस्त्र, शीत, आतप, विषादि के दोष—अशुभ वर्णादि, गुण शुभवर्णादि को लखिये-देखकर, यथार्थता को जानो, अर्थात् अशुभ दोष सहित वस्तु को अशुभ दोषवाली और शुभ गुण वाली वस्तु को शुभ जानो। जड़ वस्तु को जड़ रूप और चेतन वस्तु को चेतनरूप जानो। उन्हें यथार्थ रूप से स्याद्वाद पूर्वक जानने को उदासीनता कहते हैं। वस्तुओं को इष्टता अनिष्टता रूप न मानकर उन पर उदासीनता रखना ही शुद्धता कहलाती है। ऐसी उदासीनता को लही-पाकर अर्थात् स्वयं के असंख्य प्रदेशी आत्मा में व्यापक-व्याप्य भाव से रहे हुए गुण-पर्यायों से अपर भाव-अन्य भाव जो अनन्त जीव और अनन्त पुद्गलादि अजीव पदार्थ हैं, उन सबमें उदासीन होकर आप अग्राहक, अभोगी एवं असंगी हो गये, यह चारित्र्य परिणति की एकता है। विभाव कर्तृत्व जो तज्जन्यता तदुत्पत्ति भाव से थे उसे ध्वंसी-नष्ट करके उसका उच्छेदन कर दिया। यह तीक्ष्णता आपकी वीर्य तप-शक्ति की है। इन कार्यों के करने से हे प्रभो ! आप निज स्वभावे-अपने स्वभाव में रम्यों-रमण करते हैं।

शुभ अशुभ भाव अवभास तहकीकता,

शुभ अशुभ भाव तिहां प्रभु न कीधू ।

शुद्ध परिणामता वीर्य कर्त्ता थई,

परम अक्रियता अमृत पीधू ॥स०४॥

अर्थ :—इसी त्रिभंगी अर्थात् शुद्धता, एकता, तीक्ष्णता का पुनः अर्थान्तर-दूसरा अर्थ कहते हैं। शुभ-अशुभ-प्रशस्त और अप्रशस्त भाव का अवभास-ज्ञान-पहचान और यथार्थता को निश्चय रूप से आपने शुद्धता-केवलज्ञान द्वारा जान लिया। किन्तु, उन पर आपने शुभ और अशुभ भाव एवं रागी द्वेषी रूप भाव नहीं कीधू—किया, यही आपके चारित्र्य धर्म की अरागी-अद्वेषी परिणति की एकता है। शुद्ध-निरावरण परिणामता-पारिणामिक भाव से वीर्य गुण के कर्त्ता (अर्थात् पहले जो वीर्य राग द्वेष के अनुयायी रूप से विकारी था वह राग द्वेष रहित

हो गया, जब वीर्य शुद्ध होता है तब स्ववीर्यबल से पारिणामिक कर्ता) होकर आपने परम-उत्कृष्ट अक्रियता रूप श्रमृत का पीघू-पान किया, अर्थात् विभाव कर्तृत्व और साधक कर्तृत्व दोनों के अभाव में अकम्प अचल वीर्यसे आप अक्रिय हो गये ।

शुद्धता प्रभु तणी आत्म भावे रमे,

परम परमात्मता तास थाये ।

मिश्र भावे अच्छे त्रिगुणानी भिन्नता,

त्रिगुण एकत्व तुझ चरण आये ॥म० ५॥

अर्थ :—ऐसी प्रभु की शुद्धता-निरावरणता तथा अनन्तगुण भोगीत्वरूप प्रभुता में जो साधक भावें—आत्म भाव में रमे-रमण करता है तो प्रभु की प्रभुता के अभिलाषी उस जीव को शुद्ध परम उत्कृष्ट परमात्म भाव थाये-प्राप्त होता है । मिश्र भावे-क्षायोपशमिक भाव में त्रिगुण-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की भिन्नता है, अर्थात् तीनों की पृथक्ता है । यद्यपि वह साधक है, परन्तु सविकल्प है । अतः त्रिगुण-रत्नत्रय का एकत्व तुझ चरण आये-आपके चरणों में हो जाता है । अथवा आपका चरण यथाख्यात चारित्र में होता है अर्थात् क्षीणमोह गुणस्थान में 'एकत्व वितर्क अप्रविचार' नामक शुक्लध्यान होने पर दर्शन तत्त्व निर्गिर रूप तथा स्थिरता रूप चारित्र की धारा से ज्ञानधारा अभेद हो जाती है ।

सारांश यह है कि मिथ्यात्व अवस्था में तो ज्ञान विपर्यास रूप था । सम्यग्दर्शन होने पर जब यथार्थ ज्ञान हुआ तब आत्मा ज्ञान स्वरूप में रमण करने वाला बना और स्थिरता भाव को प्राप्त हुआ है । इस प्रकार ध्यानारूढ़ होकर विकल्पों का परित्याग करता हुआ, अपनी आत्मा की तत्त्व-परिणति में तन्मयता प्राप्त करता है । तत्पश्चात् ज्ञान में ही रमण, ज्ञान में ही निर्द्वार अर्थात् पर्याय भेद से वे मूलगुण एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं । यह अभेद रत्नत्रयी का स्वरूप ध्यानी गम्य है । मूल नय से आत्मा ज्ञान और दर्शन इन दो गुणों सहित है, ऐसा

आम्नाय-परम्परागत ज्ञान हैं। शेष प्रवृत्ति निर्धार-स्थिरता से सर्व चेतना गुणों की प्रवृत्ति है अतः ज्ञान में ही स्थिरत्व परिणति को अभेदता कहना उचित है। पूर्व में क्षायोपशमिक चलवीर्यता से चेतना पर्याय की प्रवृत्ति असंख्य सामयिकी थी। वह भासन प्रवृत्ति के अन्तर क्रमशः कारण कार्य में स्थिरता परिणति के रूप थी। वही क्षीण मोह के समय रोधक-मोह का क्षय हो जाने पर समकाल असंख्य सामयिकी हो जाती है। इस रीति से अभेद रत्नत्रयी हो जाती है। भाष्य में इसका वर्णन है।

उपशम रस भरी सर्वजन शकरी,
मूर्ति जिनराज नी आज भेटी ।
कारणे कार्य निष्पत्ति श्रद्धान छे,
तेणे भव भ्रमण नी भीड मेटी ॥स०६॥

अर्थ — उपशम रस-कषाय के अभाव से शान्त रस से भरी-परिपूर्ण और सर्वजन शंकरी-समग्र लोक में स्थित आत्माओं का कल्याण करने वाली जिनराज श्री पार्श्वप्रभु की मूर्ति स्थापना निक्षेप से शान्त अचल निस्पृह मुद्रा वाली प्रतिमा को आज भेटी-आज दर्शन किये एवं नमस्कार रूप से सेवा की। कारणे कार्य निष्पत्ति अर्थात् कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसी मेरी श्रद्धान-श्रद्धा/विश्वास है। प्रतीति है कि मुझे मोक्ष के निमित्त कारण श्री जिन मुद्रा का योग मिला है और उपादान कारण मूल मेरे आत्मप्रयोग आदि अध्यवसाय जिनगुण भासन से हर्ष स्वरूप प्रशस्त राग में परिणत हो गये हैं। ऐसा कारण मुझे प्राप्त हो गया है, इससे मैं जानता हूँ कि यह कारणता मेरे सर्व कार्य सिद्धता रूप की हेतु है। कारण मिला है तो कार्य की उत्पत्ति भी अवश्य होगी, ऐसा आगामी कालीन भव्यता का उपयोग हुआ। इससे मैंने जाना कि परम पुरुषोत्तम वीतराग की इष्टता तो मुझमें उत्पन्न हुयी, अब किसी भी दिन यह आत्मा भी गुणशाली बनेगी। मैंने अनुमान प्रमाण से यह जाना कि कारण मिला है तो, कार्य भी अवश्य होगा और भव भ्रमण भी मिटेगा। यह हर्षोद्गार है कि भव भ्रमण की भीड़ को आज मैंने मिटा दिया। कारण में कार्योपचार का वचन है। यह तथ्य

है कि प्रभु की प्रभुता इष्ट प्रतीत होती है तो आत्मा अवश्य ही सिद्धि का वरण करेगा ।

नयर खंभायते पार्श्व प्रभु दर्शने,

विकसते हर्ष उत्साह बाध्यो ।

हेतु एकत्वता रमण परिणाम थी,

सिद्धि साधक पणो आज साध्यो ॥स० ७॥

अर्थ :—श्री खम्भायत-खंभात (स्तम्भनक) तीर्थ में सुखसागर पार्श्वनाथ प्रभु के दर्शन एवं वन्दन करते हुए प्रभु की प्रभुता पर अपूर्व राग उत्पन्न हुआ, जिससे मेरा मानस हर्षोत्फुल्ल हो गया । श्री अरि-हन्त देव के साथ एकत्वता से रमण-अत्यन्त राग में रमण करने के परिणाम थी-विचार से अथवा उसके परिणाम स्वरूप प्रभु के साथ आन्तरिक प्रशस्त राग बढ़ जाने से आज मैंने सिद्धि-मोक्ष के साधकत्व का कि 'मेरी आत्मा में साधकत्व है' ऐसा अनुमान किया अर्थात् प्रभु के प्रति राग से मेरा आशंसारहित अनुष्ठान परिणत हुआ, जिससे मैंने जाना कि मेरा जीव मुक्त होने योग्य है, मुक्त होने की योग्यता वाला है । आज मेरा सिद्धि साधकत्व निश्चित हो गया ।

आज कृतपुण्य धन दीह माहरो थयो,

आज नर जन्म मैं सफल भाव्यो ।

देवचन्द स्वामि तेवीसमो वन्दियो,

भक्तिभर चित्त तुझ गुण रमाव्यो ॥स० ८॥

अर्थ :—आज मैंने दोष-विष-गरलादि दोष रहित प्रभु के दर्शन-विधि का अनुष्ठान करते हुए प्रभु भक्ति में तल्लीनता का अनुभव किया था । आज मेरा दीह-दिन धन्य हो गया । आज मैंने जाना कि मेरा नरजन्म मनुष्यगति में जन्म लेना सफल हो गया । आज मैंने वीतराग निःस्पृही परम गुणी सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा तेवीसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान

का दर्शन किया, वन्दना की, गुणों का स्तवन किया और उनकी भक्ति भर-भक्ति से श्रोतप्रोत चित्त को उन्हीं के गणों में रमाव्यो-रमाया, लगाया अर्थात् मन को पुद्गल रमणता से दूर हटाकर उन्हीं अरिहन्त के गुणों में रमण कराया, अतः मेरा आज का दिन सफल हुआ। सर्व देवों में चन्द्रवत् सौम्य भगवान का स्तवन किया। स्तुतिकार देवचन्द्र कहते हैं कि प्रभु के दर्शन, स्तवन और गुणगान से आज मेरा दिन सफल हो गया, आज मैं कृतार्थ हो गया।

२४. श्री महावीर जिनेन्द्र स्तवन

(राग-कड़खानी, भाव धरी धन्य.)

तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भणी,
जगतं मां एटलुं सुजस लीजे ।
दास अवगुण भयों जाणी पोता तणो,
दयानिधि ! दीन पर दया कीजे ॥१॥

अर्थ :— किसी पुनीत प्रसंग वश जिनागम का अभ्यास एवं सद्गुरु का संयोग मिलने पर आत्मा को आत्म-स्वरूप का भान हुआ कि, अहो ! आत्मा तो अनन्त ज्ञानादि गुणों का पुञ्ज है, किन्तु ज्ञानावरणादि कर्मों के आवरण से आवृत्त हो रहा है । अनादि काल से परभावानुषंगता के दोष से दुःखी एवं उद्विग्न आत्मा स्वयं की साधकता शक्ति नहीं देखकर शासनायक परम नियामक भगवान् वर्द्धमान के चरणों का शरण पाकर प्रार्थना करता है कि, हे प्रभो ! महावीर जिनेश्वर ! तत्त्व साधना में सक्षम एवं आपकी आज्ञा पालने में असमर्थ मुझ जैसे को मात्र नाम से अपना सेवक जान-कर तारिये !, तारिये !, भवसागर से पार करिये । गुणरोधक रूप कर्मशत्रुओं-चार घाती कर्मों से मुक्त करिये । आप सद्दश समर्थ प्रभु के अतिरिक्त अन्य किससे अपना दुःख कहूँ ? आप ही मेरा निस्तार करिये ? और जगत में इतनासा सुयश लीजिये । यद्यपि प्रभु तो यश के कामी इच्छुक नहीं हैं, तथापि भक्तिवश यह औपचारिक वचन है । मुझ जैसा दास यद्यपि राग-द्वेषी है, असंयमी है, दोषपूर्ण अनुष्ठान का आचरण करते वाला है और आशंसा दोष, एकता, अनादर आदि दोष रूप अवगुणों से भरा हुआ है तथापि आपका दास कहलाता है, अतः हे दयानिधि ! कृपा के निधान ! मुझ जैसे दीन, रंक, अशरण, दुःखी,

तत्त्वशून्य, ज्ञानादि. सम्पदाहीन, भावदरिद्र, मार्ग-विराधक, असंयम संचारी, महाविकारी, आपकी आज्ञा से विमुख और अनादिकाल से उद्धत पर दया-अनुकम्पा करिये। आपकी कृपा ही मेरा त्राण करेगी आपकी शरण ही मेरी रक्षा करेगी। यद्यपि अर्हन् परमात्मा तो कृपा के भण्डार होने से उनकी अकारण कृपा तो सब पर होती ही रहती है, करने का प्रश्न ही नहीं है, तथापि अर्थीजन यह नहीं विचारता। अर्थी का यह वचन जो दयालु से ही कहा जाता है कि, हे देव ! आप दया के भण्डार हैं, आप के अवलम्बन से ही मैं तिर सकूंगा। यह सत्य है कि जलधारा से पार होने के लिए जलयान का सहारा लेना ही पड़ता है। संसार रूपी अपार जलनिधि से पार होने के लिए भगवान रूपी महानिर्यामिक से ही प्रार्थना करने पर वे अपने जलयान में चढ़ाकर पार पहुँचा देते हैं।

राग द्वेषे भयौ मोह वैरी नड्यो,

लोकनी रीति मां घणुं य रातो।

क्रोधवश धमधम्यो शुद्ध गुण नवि रम्यो,

भम्यो भव मां हि हू विषय मातो ॥२॥

अर्थ :—यह दास कैसा है? ‘राग-द्वेषे भयौ’ इष्ट पर वस्तु पर अनुराग और अनिष्ट पर द्वेष होने से इनसे पूर्ण हूँ। जगत में भ्रमण करते हुए इन दोनों से ही मेरा गाढ़ परिचय रहा है और इन्हें ही मैं अपना हितैषी मानता रहा हूँ। ‘मोह वैरी नड्यो, मोह रूप शत्रु सदा मेरे साथ रहता है, इससे अज्ञान-विपर्यास-विपरीत बुद्धि मेरा संग नहीं छोड़ती है। और, मैं “लोक नी रीति” विषय कषाय की वृद्धि करने वाले संसार के मोहक दृश्य एवं भोग सामग्रियाँ आदि को भोगने में ‘घणुं य रातो’ बहुत अधिक रंगा हुआ हूँ। इसी कारण ये ही मुझे सुहाते हैं, इन्हें ही मैं पाने और भोगने में लगा हूँ। इन्हीं में मग्न हो रहा हूँ, मदोन्मत्त बना हुआ हूँ। ‘क्रोधवश धमधम्यो’ अनिष्ट सांयोग होने पर मैं क्रोध के वश-धमधमाता हूँ। जैसे धमनी से अग्नि तीव्र

ताप देने लगती है वैसे ही क्रोधाग्नि के प्रज्वलित होने पर मेरा मन उद्वेलित, शरीर, नेत्र और मुख आदि तपे हुए लोहे के समान रक्तवर्ण हो जाते हैं, और शरीर भी कांपने लगता है। इससे मेरी आत्मा आठ कर्मों के बन्धन से बंध जातो हैं। मैंने आज तक शुद्ध गुण-सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र्य, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि आत्मगुणों में न विरम्यो-रमण नहीं किया, इन गुणों में तन्मय नहीं बना। उनको जीवन में रूपायित नहीं किया और मनो वाक् काय के आचरण में स्थान नहीं दिया। इसी कारण 'भूम्यो भवमांहि' चतुर्गति रूप संसार में द्रव्य क्षेत्र काल तथा भावरूप जगत् के चक्र में विषय भोग्य सामग्रियों के भोग में मदोन्मत्त बना हुआ भूम्यो-संसार चक्र में ही भ्रमण करता रहा हूँ, अतः हे प्रभु ! मुझे तारो ! हे नाथ ! हे दीनबन्धु ! निष्कारण करुणालु ! मुझे तारो !, भव-समुद्र से मेरा उद्धार करो।

आदर्यो आचरण लोक उपचार थी,

शास्त्र अभ्यास पण कांड कोधो ।

शुद्ध श्रद्धान वलि आत्म अवलम्ब बिन,

तेहवो कार्य तेणे को न सीधो ॥३॥

अर्थ :—मैंने आचरण-आवश्यक कृत्यादि को आदर्यो-स्वीकार अवश्य किया, किन्तु वह सब कार्य लोकोपचार-विषय, गरल तथा अन्योन्य अनुष्ठान से किया है, धर्म-भावना के बिना मात्र औपचारिक रूप से किया है। उच्च गोत्र एवं नाम कर्म के विपाक रूप यशः, कीर्ति और ज्ञानावरणीयादि के क्षयोपशम योग से मैंने कुछ शास्त्राभ्यास भी किया, मैंने शास्त्र पढ़े, शास्त्रों के यथार्थ अर्थ भी जान लिये तथा अध्यात्म भावना से स्पर्शज्ञानुभव के बिना श्रुताभ्यास भी किया। परन्तु, शुद्ध यथार्थ स्याद्वादोपेत भाव धर्म रहित होकर किया। भाव धर्म की रुचि से जो दान, दया, तप आदि प्रवृत्ति की जाती है वे सब कारण मात्र हैं, मूलधर्म नहीं। मूल धर्म तो वस्तु की सत्ता है। आत्मा स्वरूप से पारिणामिकता में रहो हुई है। उसमें प्रकटित शुद्ध श्रद्धान-सम्यक्त्व, शुद्ध प्रतीति, आत्म स्वरूप प्रकट करने की रुचि और आत्मा के स्वगुण ज्ञानादि का

आलम्बन लिए बिना ही मैंने आचरण और श्रुताभ्यास किया है, किन्तु उस आचरण और श्रुताभ्यास आदि कार्यों से वैसा कार्य सिद्ध नहीं हुआ कि जिससे मेरे आत्म गुणों की अभिव्यक्ति होती, सम्यग्दर्शनादि गुण प्रकट होते, अतः हे भगवन् ! भूके तो आपकी कृपा का ही आधार है ।

स्वामि दर्शन समो निमित्त लही निर्मलो,

जो उपादान ए शुचि न थाशे ।

दोष को वस्तु नो अहवा उद्यम तणो,

स्वामि सेवा सही निकट लाशे ॥ ४॥

अर्थ :—स्वामी वीतराग प्रभु परकार्य के अकर्ता, परभावादि के अभोक्ता, इच्छा, लीला और चपलता रहित हैं, क्योंकि इच्छा-न्यूनता वाले की होती है, वीतराग तो सर्वथा पूण परमेश्वर हैं, इच्छा-रहित हैं । लीला भी सुख के लालच/लोभ से होती है । लोभ कमा-न्यूनता वाले को होती है । वह लीला तो मेरे स्वामी के है नहीं । मेरे स्वामी तो इन सर्व दोषों से मुक्त हैं । चपलतादि अन्य दोष भी अपूणता वाले को होते हैं । प्रभु तो पूर्ण आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं, उसी में स्थिर हैं । ऐसे स्वामी के दर्शन समो-समान निर्मल निमित्त पाकर भी जो इस आत्मा का उपादान-मूलपरिणति शुचि-पवित्र नहीं होती है तो जान लेना चाहिये कि कोई वस्तुनो-आत्मा का ही दोष है, इसी में कोई अवगुण या अयोग्यता है । उस जीव की किस प्रकार की सत्ता है ? अथवा उद्यम में किस प्रकार की खामी-कमी है । अतएव प्रबल उद्यम-प्रयत्न से आत्मा का स्मरण करना चाहिये । यह जीव स्वयं भावों की न्यूनता के कारण आत्मा का स्मरण नहीं कर पाता है । अतः अब मुझे क्या करना चाहिये ? अन्य तो कोई उपाय है नहीं । केवल वीतराग देवाधि-देव की सेवा ही मेरे उपादान की शुद्धि के कार्य सिद्धता को निकट-समीप लाशे-ला सकती है, अर्थात् प्रभु-सेवा से ही आत्मा अपनी दुष्टता एवं परभाव भोग्यता को छोड़ सकती है ।

स्वामी गुण ओलखी, स्वामि ने जे भजे,

दर्शन शुद्धता तेह पामे ।

ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लास थी,

कर्म भीपी वसे मुक्ति धामे ॥५॥

अर्थ :—स्वामी अरिहंत देव के गुणों को ओलखी—जानकर जो प्राणी स्वामी—अरिहंत वीतराग देव को भजे—सेवा करता है वही दर्शन-शुद्धता-सम्यक्त्व की निर्मलता को प्राप्त करता है। तदनन्तर क्रमशः ज्ञान-शुद्ध यथार्थ ज्ञान, चारित्र-स्वरूपरमण तत्त्वों में एकाग्रता एवं और वीर्य—आत्म सामर्थ्य, इनके उल्लास से ज्ञानावरणीयादि कर्मों को भीपी—जीतकर मुक्ति धामे—सम्पूर्ण सिद्धता रूप स्थान में वसे—निवास करता है।

जगद्वत्सल महावीर जिनवर सुणी,

चित्त प्रभु चरण ने शरण वास्यो ।

तारजो बापजी ! विरुद निज राखवा,

दास नी सेवना रखे जोशो ॥६॥

अर्थ —मैंने सुना था कि जगद्वत्सल श्री महावीर जिनेश्वर जगत्त्रय के जीवों पर वात्सल्य रखने वाले हैं, अतः मैंने भी अपने चित्त को प्रभु के चरणों की शरण में वास्यो—निवास करा दिया अर्थात् प्रभु के चरणों में ही रहने का निर्देश किया, क्योंकि अभी तक मेरी आत्मा तो इतनी सशक्त नहीं हो पाई कि स्वयं सबको परिवर्तित कर दे और साधन क्रिया में तत्पर हो जाये। आपके प्रभाव से आपके चरणों में रहता हुआ मेरा मन स्वतः परभावों में नहीं जायेगा। फलतः सर्व इन्द्रियां भी विभावोन्मुखी न रहकर वे इस मन की अनुयायिनी बन जायेंगी। हे प्रभु ! परम पिता ! मुझे तारिये। मैं तो अयोग्य या जैसा भी हूँ, अपनी शरण में हूँ। आप अपने विरुद—तारक (तार-

याणं) की रक्षा के लिए ही मुझे भवसागर से पार लगा दीजिये । आप दास की सेवा की ओर दृष्टिपात न करिये, क्योंकि मेरी सेवा तो वैसी नहीं है । आपकी आज्ञानुसार भक्ति करने वाला तर जाता है, पार उतर जाता है । मेरे द्वारा आज्ञानुसार प्रवृत्ति होना तो कठिन है । मैं तो मात्र आपकी कृपा से ही तर सकता हूँ । आप जगत्-वत्सल हैं, मैं अबोध बालक हूँ । माता-पिता अबोध बालक की सुरक्षा का सर्वथा प्रतिक्षण ध्यान रखते ही हैं । बालक उनसे प्रार्थना नहीं करता । वे ही अपना कर्त्तव्य समझकर स्वयं वैसा ही करते हैं । अतः हे प्रभु ! मेरी रक्षा करो, मुझे भवपार करो ।

वीनति मानजो शक्ति ए आपजो,

भाव स्याद्वादता शुद्ध भासे ।

साधि साधक दशा सिता अनुभवी,

देवचन्द्र विमल प्रभुता प्रकासे ॥७॥

अर्थ :—मेरी इतनी सी वीनति मानजो—मान लीजिये (भद्र भक्ति के उद्गार हैं, और शक्ति ए आपजो—ऐसी शक्ति प्रदान करिये कि 'भाव स्याद्वादता शुद्ध भासे', भाव-द्रव्य का धर्म, स्याद्वाद-रीति से नित्या-नित्य, एक-अनेक, अस्ति-नास्ति, भेद-अभेद रूप से छहों द्रव्यों के अनन्तधर्म शंकादिदूषण-रहित होकर शुद्ध रूप से भास-जानकरी में आ जावें । तदनन्तर साधि साधक दशा—भेद रत्नत्रयी, फिर इनकी अभेदता रूप सिद्धता का अनुभवी—अनुभव करें, भोग करें । और, देवचन्द्र—सर्व देवों में चन्द्रमा के समान श्री सिद्ध भगवान की विमल प्रभुता प्रकाशे—निर्मल प्रभुता को प्रकट करें । अर्थात् स्याद्वाद ज्ञान से साधकता प्रकट होती है, साधकता से सिद्धता प्राप्त होती है । यही सार—वास्तविक पद्धति है ।

इस प्रकार चतुर्विंशति जिन स्तवन और उनका बालावबोध स्वयं के ज्ञानानुसार बनाये हैं । श्री परमेश्वर के गुणों का गान किया

है। इनमें जो यथार्थ है वह प्रमाण है, मान्य है। और, अयथार्थता का मिथ्यादुष्कृत करते हैं अर्थात् गलती मानता हूँ। गीतार्थजन हंसवत् होते हैं, अतः गीतार्थ महानुभाव गुण ग्रहण करें, और दोषों को छोड़ दें, यही हंस क्षीर न्याय है। मैंने भद्रकता-सरल स्वभाव से यह रचना की है। महापुरुष गुण ग्रहण करें, यही दृष्ट है, यही प्रार्थना है।

२५. कलश और प्रशस्ति

(राज—महावीर जिनेश्वर उपदिशे)

चोवीसे जिन गुण गाइये, ध्याये तत्त्व स्वरूपो जी ।

परमानन्द पद पाइये, अक्षय ज्ञान अनूपो जी ॥१॥

अर्थ :—इस अवसरपिणी काल में श्री ऋषभदेव भगवान से प्रारंभ होकर श्री महावीर स्वामी पर्यन्त चौवीस तीर्थंकर शासन के नायक, गुण रत्नाकर, महामाहण, महागोप, महावैद्य, महानियमिक स्वरूप हो गये । उन जिनेन्द्रों का गुणगायन करिये और स्वयं के तात्त्विक स्वरूप का ध्यान करिये ; जिससे आत्मा की एकाग्रता हो । आत्म-स्वरूप में एकाग्र बनने पर परमानन्द पद की प्राप्ति होती है और अक्षय, अविनाशी, अनुपम क्षायिक ज्ञान—केवलज्ञान की उपलब्धि होती है ।

चवदह सौ बावन भला, गणधर गुण भण्डारो जी ।

समता मय साहु साहुणी, सावय सावयी सारो जी ॥२॥

अर्थ :—चौवीस तीर्थंकरों के चवदह सौ बावन गणधर थे, वे सब मुनिगणों के अधिपति, गणिपिटक-द्वादश अंगों के रचयिता व लब्धियों के धारक थे, अर्थात् गुणों के भण्डार थे । इसी प्रकार सभी तीर्थंकरों के कोटि-कोटि साधु और साध्वी समता के भण्डार तथा श्रावक एवं श्राविका सार-प्रधान धर्मधोरी, अग्रगण्य एवं सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र के पात्र थे, अतः ऐसे चतुर्विध संघ का गुणगान करना चाहिये ।

वर्द्धमान जिनवर तणो, शासन अति सुखकारो जी ।

चउविह संघ विराजतो, दुःषमकाल आधारो जी ॥३॥

अर्थ :—वर्तमान समय में अन्तिम तीर्थाकर श्री वर्द्धमान जिनेश्वर का शासन है, जो अत्यन्त सुखकर है। इस शासन में जिन्होंने प्रवेश किया अर्थात् सदस्य बने वे संसार समुद्र से पार हो गये। इस दुःषम-काल नामक पाँचवे आरे में भव्य जीवों का आधारभूत चतुर्विध संघ विराजमान है। नवतत्त्व, षड् द्रव्यादि का ज्ञान होना, मिथ्यात्व एवं असंयम आदि के त्रास से मुक्त होना, यह सर्व उपकार श्री जिन-शासन का है। वस्तुतः महावीर प्ररूपित आगम ही इसमें आधारभूत हैं।

जिन सेवन थी ज्ञानता, लहे हिताहित बोधो जी ।

अहित त्याग हित आदरे, संयम तपनी शोधो जी ॥४॥

अर्थ :—“विशेषावश्यक भाष्य” के अनुसार जिन सेवन का फल बताते हैं। श्री जिन सेवा-प्रभु प्रतिमा के दर्शन और जिनवाणी के श्रवण अर्थात् वीतराग उपदिष्ट आगम श्रवण से अज्ञान नष्ट होकर यथार्थ ज्ञान होता है। ज्ञान से हिताहित का बोध होता है। इसके फलस्वरूप साधक हित को ग्रहण और अहित का परित्याग करता है। और, तत्त्व प्रकट करने की अर्थात् आत्म-स्वरूप विकसित करने की भावना से संयम एवं तप करता है। इससे आत्मा उत्तरोत्तर कर्म फल से मुक्त बनती जाती है।

अभिनव कर्म अग्रहणता, जीर्ण कर्म अभावो जी ।

निष्कर्मी ने अबाधता, अवेदन अनाकुल भावो जी ॥५॥

अर्थ :—संयम एवं तप की शुद्धता होने से नवीन कर्मों की अग्रहणता होती है अर्थात् नये कर्मों का बंध नहीं होता और जीर्ण अर्थात् पुराने कर्मों का अभाव-नाश हो जाता है। पूर्वबद्ध सत्तागत कर्मों की निर्जरा हो जाती है। नये बंध का अवरोध और प्राचीन सत्तागत कर्मों का नाश हो जाय, तो आत्मा निष्कर्म-कर्म रहित बन

जाता है । अबाधता अर्थात् सर्व बाधाओं का अभाव हो जाता है, क्योंकि बाधा तो आत्मप्रदेशों में पुद्गल के संग से है, पुद्गल कर्म का संग छूटने से बाधाएँ भी दूर हो जाती हैं । पुनः आत्मा अवेदन और अनाकुल बन जाती है । वेदना शाता-अशाता से होती है और आकुलता मोहनीय कर्म से होती है । सर्व कर्मों का अभाव न होने पर भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय के क्षयोपशम से भी भेद-ज्ञान के साधक को वेदना और आकुलता नहीं बत होती है । सर्वथा कम मुक्त आत्मा तो पूर्णतया सच्चिदानन्दमय होती है । यह सब कुछ प्रभु भक्ति एवं जिन-सेवा का उपकार है । अतः चौबीस जिन की स्तवना करनी चाहिये ।

भावरोगना विषम थी, अचल अक्षय निराबाधो जी ।

पूर्णानन्द दशा लही, विलसे सिद्धि समाधो जी ॥६॥

अर्थ :—उपयुक्त प्रभु-भक्ति के द्वारा समस्त कर्मों के अपगम से भावरोग-आत्मा के साथ लगे कर्मों से होने वाले जन्म-मरण-चतुर्गति भ्रमण आदि समस्त विगम नष्ट हो जाते हैं ।

अर्थात् परानुयायिता — पौद्गलिक सजीव-अजीव वस्तुओं पदार्थों के संग रहने की अभिलाषायें विगम-नष्ट हो जाती हैं । आत्म प्रदेशों के साथ लगे हुए कर्म रूप समग्र रोगाणुओं के नष्ट हो जाने से आत्मा अचल-चपलता रहित, अक्षय, अविनाशित्व, निराबाध-बाधाओं रहित पूर्णानन्द-परम आनन्द अनन्त गुण भोग रूप स्वसिद्धता की दशा-अवस्था लही-प्राप्त करती है । और, 'विलसे सिद्धि समाधो' सिद्धि-परम अभीष्ट सिद्ध अवस्था में प्राप्त आत्मिक ज्ञान-दर्शनमय समाधि को विलसे-भोगता है, अनुभव करता है । यह सब जिनेश्वर देव की उपासना एवं सेवा का फल है कि निर्वाण पद की प्राप्ति भी हो जाती है । अतः अन्य समस्त विकल्पों से मन को हटाकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी शुद्ध देवतत्त्व वीतराग अर्हन्त देव की आराधना करिये । यही सर्वाधिक परम सुख का पुष्ट निमित्त है ।

श्री जिनचन्द्रनी सेवना, प्रगटे पुण्यनिधानो जी ।

सुमतिसागर अति उल्लसे, साधुरंग प्रभु ध्यानो जी ॥७॥

अर्थ :—श्री जिनचन्द्र-अरिहन्त देव की सेवना-आराधना करने से पुण्य का निधान प्रगट होता है और सुमति-परमानन्द साधन की बुद्धि अति उल्लसे-अत्यन्त उल्लसित होती है । प्रभु के ध्यान से साधुरंग-अच्छा रंग आत्मा पर चढ़ता है जिससे वह मुक्ति की साधना में तल्लो न बनता है । इस गाथा में सारे शब्द दो अर्थ वाले हैं । कवि ने युक्ति से अपनी गुरु-परम्परा के नाम भी निर्दिष्ट कर दिये हैं कि उस समय श्री खरतरगच्छाधीश्वर अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि हुए । उनके शिष्य उपाध्याय पुण्यप्रधान हुए, उनके शिष्य श्री सुमतिसागर और उनके शिष्य श्री साधुरंग वाचक हुए । ये स्तवन-कारक की पूर्व-परम्परा में बहुश्रुत महानुभाव थे ।

सुविहित खरतरगच्छवर, राजसागर उवभायो जी ।

ज्ञानधर्म पाठक तणो, शिष्य सुयश सुखदायो जी ॥८॥

अर्थ :—पंचांगी-सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका के अनुसार रत्नत्रय-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र के विकास हेतु सुविहित समाचारी-आचार पद्धति के पालक श्रेष्ठ खरतरगच्छ में सुप्रसिद्ध सर्वशास्त्र-निपुण, मरुस्थल में अनेक जिन चैत्यों की प्रतिष्ठा कराने वाले, आवश्यकोद्धार आदि अनेक गन्थों के रचयिता उपाध्याय श्री राजसागर जी हुए । उनके शिष्य उपाध्याय श्री ज्ञानधर्मजी हुए; जिन्होंने अनेक साधुओं को न्याय-दर्शनादि के ग्रन्थों का पाठन करवाया और जिन्होंने संवेगवृत्ति धारण कर षड्रस का यहां तक की शाक सब्जी का भी साठ वर्ष पर्यन्त त्याग करने वाले परम आत्मार्थी त्यागी तपस्वी महापुरुष हुए । उन्हीं के शिष्य जो उत्तम सुयश के भागी और सभी को सुख देने वाले थे ।

दीपचन्द पाठक तणो, शिष्य स्तवे जिनराजो जी ।

देवचन्द पद सेवतां, पूर्णानन्द समाजो जी ॥९॥

अर्थ :—श्री दीपचन्द पाठक जिन्होंने श्री शंत्रुजय तीर्थाधिराज पर श्री शिवाजी सोमजी कारित चौमुख ढूंक में अनेक जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की। श्री राजनगर-अहमदाबाद में श्री सहस्रफणा पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिष्ठा की। ऐसे पूज्य उपाध्याय गुरुवर श्री दीपचन्दजी महाराज के शिष्य पण्डित श्री देवचन्द्र गणी ने चौवीसी प्रभु वर्तमान चौवीसी के तीर्थकरों की भक्तिवश स्तवना की, क्योंकि प्रभु भक्ति में लीन स्वपरिणति महाआनन्द का कारण है। इसी भक्ति के फलस्वरूप अनेक गुणों के धारक देवचन्द्र समग्र भावदेवों में चन्द-श्रेष्ठतम भगवान के चरणों की सेवा करते हुए पूणनिन्द सिद्धों के अव्याबाध आनन्द के समाज-समुदाय (समूह) की प्राप्ति होती है।

श्री देवचन्द्र गणि द्वारा रचित स्तवन
चौवीसी तथा उनका स्वयंकृत
बालाबबोध पूर्ण हुआ।

अनुवाद—प्रशस्तिः

सुविहित-खरतरगच्छ-सम्बिग्नपरम्परायां महोपाध्याय-
पदधारक-श्रीक्षमाकल्याण-पट्टानुपट्टे श्रीमत्सुखसागर-
महोदयो जातः, तेषामाज्ञानुवर्तिनी स्वनामधन्या महा-
पुण्यशालिनी स्वर्गीया प्रवर्तिनीवर्या श्री पुण्यश्रीजी
महाराज-प्रशिष्यया जपध्यानपरायणा स्वर्गीया प्रवर्तिनी
श्री ज्ञानश्रीजी महाराजस्य विनेयया तथा जैनकोकिला
प्र० श्री विचक्षणश्री जी-महाराजस्य पट्टधारिणी एवं
वर्तमान-ग्राचार्यदेव-श्रीमज्जिनोदयसूरीश्वराणामाज्ञानु-
वर्तिनी प्रवर्तिनी श्री सज्जनश्रिया राष्ट्र-भाषायामनूदिता
स्वोपज्ञ-बालावबोधसहिता श्रीमद्देवचन्द्रगणि विर-
चिता श्री वर्तमानचतुर्विंशति-जिन-चतुर्विंशिका समाप्ता ।



अध्ययन -

हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती
आदि भाषाओं की अधिकृत विदुषी
आगम मर्मज्ञा, अप्रतिम लेखिका,
आशु कवयित्री, कुशल अनुवादिका

आपश्री के द्वारा रचित एवं
अनुदित प्रमुख कृतियाँ :

- ✦ पुण्य जीवन ज्योति
- ✦ श्रमण सर्वस्व
- ✦ देशनासार
- ✦ द्रव्य प्रकाश
- ✦ कल्प सूत्र
- ✦ चैत्रवन्दन कुलक
- ✦ द्वादशपर्व व्याख्यान
- ✦ श्री देव चन्द्र चोबीसी स्तोपज्ञ
- ✦ सज्जन संगीत सुधा

पूज्य श्री के मृदु स्वभाव व मिलन
सारिता ने जहाँ उनके व्यक्तित्व को
ऊँचा उठाया है वहाँ विद्वता और
वक्तृत्व कला ने उन्हें जन प्रिय भी
बनाया है ।

✦ ✦ ✦

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर के प्रकाशनों का प्राप्ति स्थान :

१. प्राकृत भारती अकादमी
३८२६, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता
जयपुर-३०२००३ (राजस्थान)
☐
२. श्री जैन श्वे० नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
मेवानगर, स्टे बालोतरा-३४४०२५
जिला-बाड़मेर (राजस्थान)
☐
३. शिवजीराम भवन
कुन्दीगर भैरों का रास्ता
जयपुर-३०२००३ (राजस्थान)
☐
४. आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान
पद्मिनी मार्ग
उदयपुर-३१३००१ (राजस्थान)
☐
५. मोतीलाल बनारसीदास
बंगला रोड़, जवाहर नगर
दिल्ली-११०००७
☐
६. सरस्वती पुस्तक भण्डार
११२, हाथीखाना रतनपोल
अहमदाबाद-३८०००१ (गुजरात)